दुर्गाशंकर मिश्र

राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर
अमीनाबाद; लखनऊ

प्रथमावृत्ति,
अक्तूबर, १९५९

मूल्य :
दस रुपये

मुद्रक :
ओम् प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वाराणसी (बनारस) ५३१५–१५

ममतामयी

माँ

की

पुण्य स्मृति

में

प्रकाशक :
राष्ट्रीय प्रकाशन मन्दिर,
अमीनाबाद,
लखनऊ

●

प्रथमावृत्ति,
अक्तूबर, १९६९

●

मूल्य :
दस रुपये

●

मुद्रक :
ओम् प्रकाश कपूर
ज्ञानम

२१५

ममतामयी

माँ

की

पुण्य स्मृति

में

प्रस्तुत कृति को आज से चार

परन्तु जितनी अधिक प्रतीक्षा लेखक को इस पुस्तक को [illegible] उतनी किसी अन्य कृति को नहीं और यद्यपि इस पुस्तक का आधे से अधिक अंश [illegible] पूर्व मुद्रित हो चुका था लेकिन कागज के अभाव में शेषांश रुका पड़ा रहा तथा मैं भी इस ओर ध्यान न दे सका। इधर जिन भीषण परिस्थितियों के मध्य यह पुस्तक प्रकाशित होकर आ रही है उन्हें देखते हुए इस कृति के प्रति रचयिता का अनुराग अधिक मात्रा में ही माना जाना चाहिए क्योंकि संकटों के उपरान्त प्राप्त होनेवाली वस्तु स्वाभाविक ही प्रिय होती है लेकिन इस पुस्तक को अत्यधिक प्रेम करने का एक अन्य कारण भी है और वह है इसमें मेरे समीक्षक रूप का नए ढंग से दीख पड़ना। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि प्रस्तुत कृति हिन्दी कविता के विकास-क्रम की कथा या हिन्दी काव्य प्रवृत्तियों का इतिहास नहीं है अपितु समय-समय पर लिखे गए कविता-सम्बन्धी निबंधों में से केवल ग्यारह निबंधों का ही संकलन है। लेखक के ये निबंध तीन या चार वर्ष पूर्व लिखे गए थे तथा आंशिक रूप में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे या विभिन्न साहित्यिक समारोहों में पढ़े गए थे। इस पुस्तक की पांडुलिपि सन् ५७' में तैयार की गयी थी और जनवरी ५८ में इसे प्रकाशक को सौंप दिया गया तथा यह अब छप कर आ रही है। बाद में लेखक का विचार इसमें कुछ परिवर्तन करने का भी हुआ पर वह सम्भव न हो सका और पुस्तक उसी रूप में छप कर आ रही है जिस रूप में प्रेस गयी थी। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस कृति में आधुनिक कविता से सम्बन्धित केवल पाँच निबंध ही हैं और उनमें भी कई उल्लेखनीय विषय स्वाभाविक ही रह गए हैं अतः इस दृष्टि से आधुनिक काव्यधारा के सम्बंध में समुचित न्याय नहीं हो सका है लेकिन चूँकि यह कृति हिन्दी कविता का इतिहास नहीं है अतएव पुस्तक की यह न्यूनता किसी भी टीका-टिप्पणी का विषय न होनी चाहिए। अंत में लेखक अपने उन सभी स्नेही मित्रों, सहयोगियों और आत्मीय जनों के प्रति हृदय से आभारी है जिनकी कि शुभकामनाएँ उसे प्रगति पथ पर अग्रसर होने में सहायक सिद्ध होती रही हैं।

२१४, राजेन्द्र नगर, लखनऊ

नरपति नाल्ह और उनका बीसलदेव रासो

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।" स्मरण रहे कि जीवन-प्रवाह में आनेवाले मोड़ सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक नामक अनेक परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं अतः साहित्य-निर्माण के मूल में भी स्वाभाविक ही इन परिस्थितियों का बहुत बड़ा योग रहता है और इन्हें ही जनरुचि को परिवर्तित करने का श्रेय भी मिलता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करते समय भी विज्ञ समालोचकों ने इसी तथ्य को ध्यान में रखा है यद्यपि कुछ विद्वानों ने अपने निजी सिद्धान्त भी निर्धारित किए हैं या इन परिस्थितियों का मूल्यांकन भी अपनी स्वतंत्र पर्यवेक्षण शक्ति द्वारा किया है जिसके फलस्वरूप उनके नामकरण तथा काल निर्णय में भी स्पष्ट अंतर दृष्टिगोचर होता है। जहाँकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास ने हिंदी साहित्य के इतिहास को वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल तथा आधुनिक काल नामक चार खण्डों में विभाजित किया है वहाँ डॉ० रामकुमार वर्मा उसके संधि काल, चारण काल, भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल नामक पाँच खण्ड मानते हैं तथा मिश्रबंधुओं ने उनकी संख्या नौ रखी है और डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ उसे अंधकार काल, कलात्मक उत्कर्षकाल, साहित्य शास्त्रीय विकास काल और साहित्यक काल नामक सर्वथा नवीन नामों से विभूषित कर चार भागों में ही विभाजित करते हैं। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल को अंधकार काल मानते हुए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि "इस युग पर ॽ तक काफी खोज न हो जाए बहुत निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहना चाहिए"; परन्तु यह तर्क युक्ति संगत नहीं है—क्योंकि उनकी दृष्टि में

गई १४०० ई० के पूर्व का साहित्य अंधकार कालीन म
किन इधर तत्कालीन साहित्य की पर्याप्त सामग्री प्रकाश
अतः उसे निरी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सक
ामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक युग को '
नाम इसीलिए दिया है क्योंकि उनकी दृष्टि में तत्काल
नाएँ साहित्यिक कोटि में आने योग्य हैं उनमें से अधिक
ही हैं लेकिन विचारपूर्वक देखा जाए तो यह नाम उ
होता और चूँकि अभी तक ये अधिकांश रचनाएँ
शुक्ल जी ने उसे वीरगाथा काल कहा है संदिग्ध और
जाती रही हैं तथा इधर कई ऐसी अज्ञात महत्त्वपूर्ण
जानकारी प्राप्त हुई है जो कि शुक्लजी के समय उपल
उसे वीरगाथा काल कहना अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत
राहुल सांकृत्यायन ने इस काल को सिद्धसामंत
उनकी दृष्टि में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं श
साहित्य में सिद्धों की वाणी और सामंतों की स्तुति
भाव पाए जाते हैं लेकिन डा० हजारीप्रसाद द्विवे
'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। इ
कि इस काल की कृतियों में वीररस को प्रमुखता मि
भावनाओं के चित्रण की प्रधानता भी रही है पर
योगियों और सहजयानी सिद्धों तथा जैन मु
प्रचुरता से प्राप्त हुई हैं अतः विचारपूर्वक देख
का 'आदि काल' नाम ही उसके लिए अधिक उ

जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का
प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—एक तो जैन-भ
अधिकांश में जैन प्रभावापन्न, परिनिष्ठित
रचनाएँ हैं और दूसरी लोक परम्परा में च
मूल रूप से अत्यंत भिन्न बनी हुई लोक भाषा
चन्द्र शब्दानुशासन, कुमारपाल प्रतिबोध
कृतियाँ प्रथम श्रेणी में तथा खुम्मान रासो,
रासो आदि द्वितीय श्रेणी में रखी जा सकत
[illegible]

इन कृतियों का सम्बन्ध जिन राजाओं के नाम के साथ है उन्हीं के समय में वे लिखी गई हैं परन्तु इधर उनकी प्रामाणिकता के विषय में भी विद्वानों में मत वैपरीत्य देख पड़ता है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि ठाकुर किशोरसिंह जी "चारयन्तीति चारणः" के अनुसार देश का संचालन कार्य और नेतृत्व करने तथा देशभक्ति को प्रोत्साहन देनेवाले को चारण कहते हैं। इसी प्रकार पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ब्राह्मणों के पश्चात् राजपूतों की कीर्ति का गुणगान करने वाले को चारण एवं भाट मानते हैं तथा बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के उप सभापति महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने राजपूताने की यात्राएँ कर सन् १९०९ तथा सन् १९१३ में जो विवरण प्रस्तुत किये हैं उनके द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में चारणों की प्रसिद्धि हुई है। एक दंत कथा के अनुसार चारणों की उत्पत्ति ९०० वर्ष पूर्व सिंध में देवियों के द्वारा मानी गई है तथा मंजलाल कवि 'कुलकुल मंडन' में चारणों का स्थान सोरठ या सौराष्ट्र मानते हैं। जोधपुर के कविराजा मुरारीदान 'संक्षिप्त चारण ख्याति' नामक अपनी पुस्तक में चारणों की अट्ठाइस कुलों की उत्पत्ति देवी से मानते हैं तथा वे चारण जाति की प्राचीनता पर भी बल देते हैं। चारण के साथ-साथ ढाढ़ी, ढुलि, सेवक, मोतीसर, ब्राह्मण, भाट आदि ने भी वीर काव्य की परम्परा को विकसित किया है लेकिन इन सबकी प्रसिद्धि का काल चाहे कुछ भी क्यों न मान लिया जाए परन्तु इतना तो सत्य है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन चरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा हमारे देश में सर्वथा नवीन नहीं है अपितु प्राचीन ही है और सातवीं शताब्दी के उपरान्त तो अत्यन्त द्रुत गति के साथ विकसित हुई है तथा हिन्दी साहित्य के आदि काल में तो कई कवियों को ऐतिहासिक व्यक्तियों का आश्रय प्राप्त होने के कारण इस प्रकार की कृतियाँ विशेष रूप से लिखी गईं। कहा जाता है कि इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इसी प्रथा का प्रवेश हुआ लेकिन यह अनुमान तो निराधार ही है कि भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने की प्रथा का चलन विदेशियों के संसर्ग के कारण ही हुआ होगा। आर्नोल्ड के शब्दों में "ऐतिहासिक महाकाव्य का विषय कोई गुम्फित बड़ी घटना होनी चाहिए। मुख्य-मुख्य पात्र उच्च कुलोत्पन्न तथा उच्च विचारशाली होने चाहिए। विषय के अनुरूप

उसकी वर्णन शैली भी उच्च होनी चाहिए।" यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय साहित्य में इतिहास का ठीक-ठीक आधुनिक अर्थ ग्रहण नहीं किया गया अपितु ऐतिहासिक व्यक्तियों पर भी पौराणिक या काल्पनिक रंग चढ़ाने का प्रयास किया गया जिससे कि तथ्य और कल्पना का मणिकांचनमय योग हमारे प्राचीन ऐतिहासिक काव्यग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर होता है। ऐतिहासिक तथ्य केवल कल्पना को प्रेरणा देने के लिए ग्रहण किए गए हैं अतः इन कृतियों में केवल ऐतिहासिक नाम भर अपनाए गए हैं और उनमें कवित्व की ही प्रधानता है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में जो तथाकथित ऐतिहासिक काव्य लिखे गए हैं उन्हें 'रासो' भी कहा जाता है। 'गार्सां द तासीं' ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानी है तथा कुछ लोग इस शब्द की उत्पत्ति 'रहस्य' शब्द से मानते हैं। आचार्य शुक्ल जी इसकी उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से मानते हैं और डा० उदयनारायण तिवारी के शब्दों में "इसकी उत्पत्ति 'रास' शब्द से हुई है।"

'बीसलदेव रासो' हिन्दी साहित्य के आदि काल का एक गौरव ग्रन्थ कहा जाता है और कतिपय इतिहासकारों ने तो उसे हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ तक माना है। रासो ग्रन्थों में सर्वप्रथम दलपति विजय कृत 'खुमान रासो' की गणना की जाती है और आचार्य शुक्ल ने इस खुमाण का समय सं० ८६९ से सं० ८९३ माना है परन्तु श्री अगरचन्द नाहटा ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका [अंक ४ सं० १९९६] में प्रकाशित 'खुमाण रासो का रचना काल और रचयिता' शीर्षक लेख में उसका निर्माण काल सं० १७३० से १७६० के मध्य माना है और इस प्रकार वे उसे हिन्दी का सर्वप्रथम रासो ग्रन्थ नहीं मानते। श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' नामक अपनी उल्लेखनीय कृति में खुमान रासो का यही निर्माण काल माना है तथा डा० रामकुमार वर्मा का विचार है कि "एक स्थान पर इस कवि का नाम दलपत विजय मिलता है। इसमें चित्तौराधिपति रावल खुमान द्वितीय का वृत्तान्त लिखा गया है। यह प्रति अपूर्ण है। इसमें चित्तौर के महाराणा प्रतापसिंह तक का हाल दिया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह प्रति समय-समय पर कवियों के हाथों से नई सामग्री प्राप्त करती रही और अपने पूर्व रूप को केवल

एक अस्पष्ट छाया ही रख सकी। अतएव खुमान रासो अपने वास्तविक रूप में अब नहीं है। खुमान का समय सं० ८८७ माना गया है और महाराणा प्रताप का विक्रम की १७वीं शताब्दी। इस प्रकार खुमान रासो लगभग ८०० वर्ष के परिमार्जन का ग्रन्थ है।" खुमानरासो के पश्चात् नल्लसिंह के विजयपाल रासो की गणना की जाती है परन्तु अभी तक उसका बहुत ही थोड़ा सा अंश जिसमें कि महाराजा विजयपाल की दिग्विजय और पंग की लड़ाई का वर्णन है उपलब्ध हुआ है। नल्लसिंह ने इस युद्ध का समय सं० १०९३ माना है परन्तु गजनी, ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूँढाड़, अजमेर आदि पर जो विजयपाल का एक छत्र राज्य होने की बात कही गई है यह सर्वथा इतिहास विरुद्ध और अतिरंजना मात्र है तथा साथ ही इस ग्रन्थ की भाषाशैली भी पृथ्वीराज रासो और वंशभास्कर से प्रभावित सी जान पड़ती है। मिश्रबन्धु विजयपाल रासो का संवत् १३५५ के आसपास मानते हैं लेकिन श्री मोतीलाल मेनारिया की दृष्टि में "सं० १९०० के आसपास यह रचा गया है पर प्राचीन बतलाने के लिए इसके रचयिता ने नल्लसिंह का कल्पित परिचय इसमें जोड़ दिया है।" विजयपाल रासो के पश्चात् बीसलदेव रासो की ही गणना की जाती है और चूँकि इसके पूर्ववर्ती दोनों रासो ग्रन्थों की प्राचीनता एवम् प्रामाणिकता पर सन्देह किया जाता है अतः हम इसे हिन्दी का सर्वप्रथम ग्रन्थ कह सकते हैं। बीसलदेव रासो का रचयिता नरपति नाल्ह अथवा नल्ह कहा जाता है और यह नाम ग्रन्थ में कई स्थलों पर आया है—

> कर जोड़ी नरपति भणई।
>
> \+ \+ \+
>
> तई तूठी अक्षर शुद्ध
>
> नाल्ह बखाणइ बे कर जोड़ि।
>
> \+ \+ \+
>
> नाल्ह रसाइण रस भरि गाइ।

नरपति नाल्ह की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद सा है और आचार्य शुक्ल जी उसे भाट मानते हैं जब कि 'बीसलदेव रासो' में रचयिता ने यत्र-तत्र अपने लिये व्यास शब्द का प्रयोग किया है। इस 'व्यास' शब्द के आधार पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित बीसलदेव रासो की प्रति के सम्पादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने

कवि को भाट ही माना है लेकिन श्री अगरचन्द नाहटा ने उसी शब्द के आधार पर नाल्ह को ब्राह्मण कहा है और उनका कहना है कि "बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को श्री सत्यजीवन वर्मा और श्री रामचन्द्र शुक्ल भाट लिखते हैं पर ग्रन्थ में स्पष्ट उसे 'व्यास' या 'जोइसी' लिखा है। राजपूताने में ये दोनों जातियाँ ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत हैं। हमें नाल्ह ब्राह्मण ही जान पड़ता है।" यह तो स्पष्ट ही है कि नरपति कवि का मुख्य नाम तथा नाल्ह कौटुम्बिक नाम ही होगा परन्तु चूँकि कवि के जीवनवृत्त के विषय में तनिक भी सामग्री उपलब्ध नहीं है अतः कवि की जाति के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय नहीं दिया जा सकता लेकिन यदि नाहटा जी के कथनानुसार वर्तमान काल में भी व्यास तथा जोइसी राजस्थानी ब्राह्मणों के अन्तर्गत ही होते हैं तो फिर हम नाल्ह को भी ब्राह्मण मान सकते हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी इन्हें ब्राह्मण ही माना है।

स्मरण रहे कि बीसलदेव रासो पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि उसे नरपति नाल्ह ने स्वयं कभी भी लिपिबद्ध नहीं किया होगा और वह मौखिक ग्रन्थ ही रहा होगा।[1] कहते हैं कि किसी समाज में ही नरपति नाल्ह ने इस 'रासो' को

नाल्ह रसायण नर भणई।
हियडइ हरषि गायण कइ भाई॥

थ ही—

सरसति सामणी करउ इउ पसाउ।
रास प्रगासउँ बीसल-दे-राउ।
खेलाँ परसउ माँडली।
आखर-आखर आणाजे जोड़ि॥

[1] 'बीसलदेव रासो' में कई ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने गाकर सुनाया होगा—

गायो हो रास सुणै सब कोई।
साँभल्यों रास गंगा-फल होइ॥
× × × ×
कर जोड़े नरपति कहइ।
रास रसायण सुणै सब कोइ॥
× × × ×
दूजौ खण्ड चव्यो परिमाण।
जे नर सुणइ ते गंगा न्हाण॥

छन्दोबद्ध रूप देकर श्रोताओं को सुनाया होगा और इस प्रकार 'जागनिक' के आल्हा की भाँति बहुत दिनों तक मौखिक रह जाने के कारण वीसलदेव रासो की जो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें अशुद्धियों की प्रचुरता सी है अतएव उसके निर्माण-काल को निर्धारित करना भी सहज नहीं है। वीसलदेव रासो की लगभग पन्द्रह हस्तलिखित प्रतियों का पता चला है जिनमें से सबसे अधिक प्राचीन प्रति सं० १६९९ की लिखी कही जाती है। स्मरण रहे इन भिन्न-भिन्न प्रतियों में उसका रचना काल भी भिन्न-भिन्न दिया गया है जिससे कि उसका रचना काल सं० १०७३, १०७७, १२१२, १२७२, १३७३ और १३७७ कहा जा सकता है।[1] नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण में निर्माणकाल के सम्बन्ध में यह पंक्ति दी गई है—

> बारह सै बहोत्तराँ हाँ मझारि।
> जेठ बदी नवमी बुधवार।
> नाल्ह रसायण आरम्भ ई॥

इस पंक्ति के आधार पर कहा जाता है कि नाल्ह ने वीसलदेव रासो सं० १२७२ में ज्येष्ठ बदी नवमी बुधवार को आरम्भ किया था लेकिन "बारह सै बहोत्तराँ हाँ" का अर्थ विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। "बारह सै बहोत्तराँ" का अर्थ १२७२ मानने के पक्ष में श्री अगरचन्द नाहटा, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा लाला सीताराम हैं परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास और श्री सत्यजीवन वर्मा बहोत्तर शब्द को बहोत्तर या द्वादशोत्तर का रूपान्तर मान कर उसका अर्थ सं० १२१२ मानते हैं। यह भी कहा जाता है कि गणना करने से वि० सं० १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी बुधवार को ही

---

१. देखिए—

> संवत सहस तिहुत्तरइ जाणि।
> × × × ×
> संवत सहस सतिहत्तरह जाणि
> नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि॥
> × × × ×
> संवत बार बरोत्तराँ मझारि
> जेठ बदि नवमी बुधवारि॥
> × × × ×
> संवत तेर सतोत्तरइ जाणि।

पड़ती है और चूँकि बीसलदेव रासो में क्रियाओं का वर्तमान
काल में ही प्रयोग किया गया है अतः कवि को बीसलदेव का सम-
कालीन मानने के हेतु भी यह संवत उपयुक्त कहा जा सकता है क्योंकि
इन विद्वानों ने बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ माना है जिसका कि
सं० १२२० तक वर्तमान रहना कई शिलालेखों द्वारा प्रमाणित
होता है। मिश्रबन्धुओं का कहना है कि "बहोत्तराँ हों" या "बहत्तरा
हों" का अर्थ "बीस" है और इस प्रकार "मिश्रबन्धु-विनोद" में
उन्होंने लिखा है "नरपति नाल्ह ने इसका समय १२२० लिखा है। पर
जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रन्थनिर्माण की दी है वह १२२० संवत
में बुधवार को नहीं पड़ती, परन्तु १२२० शाके बुधवार को पड़ती है।
इससे सिद्ध होता है कि रासो १२२० शाके में बना जिसका वि० सं०
१३५४ पड़ता है।" परन्तु कहा जाता है कि राजपूताने में विक्रम
संवत ही लिखा जाता रहा है अतः शक संवत की कल्पना निराधार ही
है। स्मरण रहे श्री गजराज ओझा तो "बारह सै बहोत्तराँ हाँ मँझारि"
वाली तिथि को अशुद्ध ही मानते हैं और उनका विचार है कि "बड़ा
उपाश्रय, बीकानेर में इसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली है,
जिसमें इसका रचना काल १०७३ वि० लिखा है।" डा० रामकुमार वर्मा
भी श्री गजराज ओझा के कथन का समर्थन करते हुए "संवत् सहस्र
तिहतरइ जाणि, नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि" नामक पंक्ति को ही
उपयुक्त मानकर संवत् १०७३ को ही उसका निर्माण काल मानते हैं
लेकिन डा० रामकुमार वर्मा के मत का समर्थन अन्य विद्वानों ने नहीं
किया है तथा श्री अगरचन्द नाहटा और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
इस ग्रन्थ के नायक बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ न मानकर विग्रहराज
तृतीय मानना अधिक उचित समझते हैं। ओझाजी का विचार है कि
बीसलदेव रासो का रचना काल उसके चरित नायक के समय से १२२
वर्ष बाद का है अतः उन्होंने विग्रहराज तृतीय का समय सं० ११५०
अनुमानित कर उसका निर्माण काल सं० १२७२ मानना ही अधिक
उचित समझा है। यदि हम बीसलदेव रासो के ऐतिहासिक तथ्यों पर
ध्यान दें तो फिर हमें उसके निर्माण की दोनों अर्थात्—सं० १२१२
और सं० १२७२—तिथियों को अस्वीकार ही करना होगा। स्मरण रहे
जैसलमेर का नाम इस ग्रन्थ में कई बार आया है तथा उसे बीसलदेव की
रानी का जन्मस्थान माना गया है लेकिन जैसलमेर की स्थापना इतिहास

के अनुसार सं० १२५० के लगभग मानी जाती है यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसकी स्थापना तिथि सं० १२१२ की श्रावण वदी द्वादशी भी मानी है। यदि हम ग्रन्थ की रचनातिथि सं० १२१२ मानते हैं तो फिर हमें बीसलदेव की उड़ीसा प्रवास यात्रा भी कम-से-कम सं० १२०० से पूर्व ही माननी होगी क्योंकि यह बारह वर्षों तक उड़ीसा में देशाटन करता रहा और चूँकि विवाह के समय उसकी स्त्री राजमती की आयु बारह वर्ष मानी गई है अतः राजमती का जन्म सं० १२०० से भी बारह वर्ष पूर्व मानना होगा और इस प्रकार जैसलमेर की स्थापना सं० ११८८ के पूर्व ही स्वीकार करनी होगी लेकिन इस मत को तो किसी भी भाँति स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार के ऐतिहासिक तथ्यों का नितान्त अभाव है कि संवत् ११८८ तक जैसलमेर की स्थापना हो चुकी होगी। यदि हम सं० १२७२ तक जैसलमेर की स्थापना स्वीकार कर लें तो बीसलदेव रासो में तत्कालीन जिन ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण हुआ है उनके आधार पर उसकी निर्माण तिथि संवत् १२७२ भी अनुपयुक्त ही प्रतीत होती है। श्री अगरचन्द नाहटा ने तो 'राजस्थानी' जनवरी १९४० के अंक में 'बीसलदेव रासो की हस्तलिखित प्रतियाँ' शीर्षक लेख में ऐतिहासिक, भौगोलिक और भाषाविषयक विशेषताओं पर विचार करते हुए बीसलदेव रासो को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की रचना मान लिया गया है तथा उनका अनुमान है कि सोलहवीं शताब्दी में नरपति नामक जो एक जैन कवि हुआ है सम्भवतः यह ग्रन्थ भी उसी ने लिखा है। यद्यपि श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने एक लेख द्वारा नाहटा जी की शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा की थी परन्तु नाहटा जी के विचारों में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ और नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४७ (सं० १९९९) तथा वर्ष ५४ (सं० २००६) में प्रकाशित अपने निबन्धों में उन्होंने अपने पुराने विचारों की ही पुनरावृत्ति की है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' नामक अपनी पुस्तक में बीसलदेव रासो का रचना काल सं० १५४५-६० के आसपास माना है तथा वे नन्द बत्तीसी (सं० १५४५), विक्रम पंचदण्ड (सं० १५६०), स्नेह परिक्रम और निःस्नेह परिक्रम नामक कृतियों के रचयिता गुजराती कवि नरपति तथा उक्त रासो के रचयिता नरपति को एक ही मानते हैं। मेनारियाजी की राय है कि "मालूम होता है कि मूल ग्रन्थ गुजराती में था, जिस पर

बाद में किसी ने राजस्थानी का रंग चढ़ाया है।" इधर हाल ही में अलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर डा० माताप्रसाद गुप्त ने वीसलदेवरासो की कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उसका एक सुन्दर सम्पादित संस्करण 'बीसलदेव रास' के नाम से हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय प्रयाग से प्रकाशित करवाया है। गुप्तजी ने 'बीसलदेव रास' में एक सौ अट्ठाइस छन्द रखे हैं तथा उनका विचार है कि "इन १२८ छन्दों में कथा-निर्वाह भली-भाँति हो जाता है; यह अवश्य है कि कहीं-कहीं पर अस्वीकृत छन्दों में से कोई कथा की पूर्णता अथवा उसमें अन्य प्रकार के चमत्कार लाने में सहायक हो सकते हैं, किन्तु प्रक्षेपों का ठीक यही कार्य भी हुआ करता है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'बीसलदेव रासो' की अपेक्षा गुप्त जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'बीसलदेव रास' अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक पद्धति पर है। गुप्त जी इन १२८ छन्दों को प्रामाणिक मानते हैं और उनका विचार है कि "बीसलदेव रासो की रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अवश्य हो गई होगी।" इतना तो निश्चित ही है कि नरपति नाल्ह बीसलदेव का समसामयिक कवि नहीं है और चूँकि राजस्थानी साहित्य में सर्वदा ही हमें वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है तथा किसी भी कृति में वर्तमानकालिक क्रियाओं को प्रयुक्त करने का यह अर्थ नहीं होता कि वह समकालीन कृति ही हो अतः बीसलदेव रासो में प्रयुक्त वर्तमान-कालिक क्रियाओं को देख कर हमें भ्रमोन्मीलित न होना चाहिए परन्तु साथ ही श्री अगरचन्द नाहटा और श्री मोतीलाल मेनारिया की भाँति हम उसे सोलहवीं शताब्दी की रचना मानने के पक्ष में भी नहीं हैं क्योंकि नाहटा जी ने तर्कों द्वारा उस ग्रन्थ की जो बहुत सी ऐतिहासिक त्रुटियाँ सिद्ध की हैं उनमें से अधिकांश का खण्डन तो ओझा जी कर चुके हैं तथा उन्होंने बहुत से ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल निर्धारण करते हुए रासो की ऐतिहासिकता पर भी प्रकाश डाला है और हम भी बीसलदेव रासो की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय इस विषय पर अपने तर्क प्रस्तुत करेंगे।

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासो का निर्माण काल अपनी कृति के प्रारम्भ में ही दे दिया है.अतः श्री अगरचन्द नाहटा ने एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया है कि इस प्रकार

कवि ने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया है क्योंकि उनकी दृष्टि में ग्रंथारम्भ में ही रचनाकाल दे देने की प्रथा मुसलमानों के समय से प्रारम्भ हुई है और उसके पूर्व रचयिता ग्रंथरचना का समय अंत में ही दिया करते थे। परन्तु नाहटा जी का यह तर्क भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह तो रचयिता-विशेष की रुचि का प्रश्न है कि वह निर्माण-काल ग्रंथ के किसी भी अंश में दे और इस प्रकार की कोई प्रथा-विशेष कभी भी प्रचलित नहीं रही। स्मरण रहे कई ग्रंथ ऐसे भी मिलते हैं जिनमें कि ग्रंथ के प्रारम्भ में ही निर्माण-काल उसके रचयिता ने दे दिया है और जैन कवि मान ने भी 'राज विलास' में रचनाकाल प्रारम्भ में ही दिया है और इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया है अतः नाहटा जी का यह तर्क भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसी प्रकार नाहटाजी ने ग्रंथ की भाषा के आधार पर यह लिखा है कि "बीसलदेव रासो की भाषा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा है। जिन विद्वानों ने ग्यारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक की राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया है, उसका यह मत हुए बिना नहीं रह सकता। ग्रंथ में प्राचीन भाषा का अंश बहुत कम—नहीं के बराबर है।" अपने इस मत का समर्थन करने के लिए उन्होंने पाद टिप्पणी में एक सुझाव भी दिया है कि जैन गुर्ज्जर कविओं भाग १ में उल्लिखित सोलहवीं शताब्दी के नरपति नामक एक जैन कवि को बीसलदेव रासो का रचयिता मान लेना उचित है परन्तु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नाहटा जी ने जिन प्रतियों के आधार पर अपना मत स्थिर किया है उनमें प्रक्षिप्त छंदों की ही संख्या अधिक है और यहाँ तक कहा जाता है कि चूँकि बीसलदेव रासो की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं अतः क्रमशः प्रत्येक प्रति की अंतिम स्थितियों में प्रक्षिप्त छंद ही अधिक देख पड़ते हैं। स्वाभाविक ही यह पाठान्तर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक होता चला आया होगा अतः किसी प्रति विशेष के अंतिम स्वरूपों के आधार पर समूचे ग्रंथ को ही सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की रचना मान लेना कहाँ से न्याय संगत हो सकता है। जैसा कि डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है "किन्तु प्राचीन ग्रंथों का काल-निर्धारण प्रायः उन अंशों की भाषा के आधार पर किया जाना चाहिए जिनमें भाषा का प्राचीन रूप ग्रंथ में पाया जाता है क्योंकि प्रति लिपियों के होते-होते भाषा का रूप कुछ का कुछ हो सकता है।" साथ

स्वयं नाहटा जी यह कहते हैं कि "ग्रन्थ में प्राचीन भाषा
हुत कम नहीं के बराबर है" तब उनसे यह तो स्पष्ट हो ही
के वे ग्रंथ की भाषा को सर्वथा सोलहवीं शताब्दी की नहीं
न्तु उन्हें भी उसमें भाषा का कुछ न कुछ प्राचीन अंश दृष्टि-
आ है। इधर जब हम यह देखते हैं कि चंदबरदाई रचित
ज रासो' की अप्रमाणिकता सिद्ध करने के प्रयत्न अभी हाल
रहे हैं और विद्वानों ने जितना अधिक ध्यान उसके एक सुंदर
दित संस्करण को प्रकाशित करने की ओर नहीं दिया उससे कई
धिक ध्यान उसे अप्रामाणिक सिद्ध करने में लगाया; लेकिन
मुनि जिन विजय ने 'पुरातन प्रबंध संग्रह' नामक ग्रंथ से कुछ
उद्धृत कर रासो की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास किया
से उन छप्पयों का आधार लेकर अधिकांश विद्वान अब यह तो
ार करने लगे हैं कि पृथ्वीराज रासो का कुछ न कुछ अंश तो
त रूप से संवत् १२९० तक अवश्य लिखा जा चुका होगा।[1]
ीराज रासो की बहुत सी वे घटनाएँ जो कि सर्वथा अनैतिहासिक
ी जाती थी अब उनमें भी ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किए जाते हैं
ः यदि हम वीसलदेव रासो को भी प्राचीन ग्रंथ मान लें तो कोई
तिशयोक्ति न होगी और डा० माताप्रसाद गुप्त के 'वीसलदेव रास'
तो अधिकांश ऐसे स्थल हैं जिनसे कि स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रंथ
ौदहवीं शताब्दी के काफी पूर्व रचा गया होगा। इस प्रकार हमारी
ष्टि में तो डा० उदयनारायण तिवारी ने जिस प्रकार श्री गौरीशंकर
हीराचंद ओझा के मतानुसार वीसलदेव रासो का रचना काल कार्तिकादि
वि० सं० १२७२ ही मानना उचित समझा है, हम भी उसका निर्माण-
काल वि० सं० १२७२ ही उपयुक्त समझते हैं।

किसी भी ऐतिहासिक काव्यकृति की ऐतिहासिकता पर विचार
करते समय सर्वप्रथम हमें उस ग्रन्थ की कथावस्तु से परिचित होना
अत्यन्त आवश्यक है अतः यहाँ संक्षेप में 'वीसलदेव रासो' की कथा-
वस्तु का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।[2] कवि प्रारम्भ में गणेश

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए लेखक की "हिन्दी कवियों की काव्य-साधना" (पृ. १९-२२)।

२. कथा का यह सारांश हमने डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'वीसलदेव रास' के आधार पर दिया है।

तथा सरस्वती की स्तुति कर ग्रन्थ-निर्माण तिथि का निर्देश करते हुए धारा नगरी के राजा भोज और उनकी कन्या राजमती का वर्णन करता है। रानी राजा से राजकुमारी का विवाह कर देने की प्रार्थना करती है और भोज एक ब्राह्मण को विवाह निश्चित करने के लिए अजमेरगढ़ भेज देता है। वह ब्राह्मण अजमेर जाकर वीसलदेव को लग्न की सुपारी देता है तथा राजा भी इस विवाह सम्बन्ध के कारण आनन्द में फूला नहीं समाता। वह ब्राह्मण का बहुत ही अधिक आदर-सत्कार करता है। वीसलदेव बरात लेकर धारा नगरी पहुँचता है और राजकुमारी राजमती भी उसे देखकर मन ही मन आकर्षित हो उठती है। वीसलदेव और राजमती का विवाह होता है तथा दहेज में उसे बहुत सा धन और प्रदेश भी दिए जाते हैं। वीसलदेव राजमती को लेकर अपने राज्य लौट आता है तथा जनता में हर्ष की लहर सी प्रवाहित होने लगती है। वह अपनी रानी से कहता है कि मेरे समान दूसरा कोई भी भूपाल नहीं है और मेरे राज्य में नमक निकलता है; चारों ओर जैसलमेर का थाना है, एक लाख घोड़ों पर काठियाँ पड़ती हैं तथा मैं अजमेर गढ़ में बैठ कर राज्य करता हूँ। परन्तु राजा के इतना कहने पर राजमती कहती है कि हे राजन् गर्व करना उचित नहीं है क्योंकि तुम्हारे समान अन्य बहुतेरे भूपाल भी हैं और उनमें से एक तो उड़ीसा का राजा ही है तथा जिस प्रकार तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है उसी प्रकार उसके राज्य में हीरे की खदान भी है। तब वीसलदेव उससे कहता है कि तू अभी बारह वर्ष की लड़की है तथा तेरा जन्म जैसलमेर में हुआ है इसलिए तू उड़ीसा के विषय में कहाँ से जानती है अतएव तू अपने पूर्व-जन्म की कथा कह। राजा द्वारा शपथ दिला देने के कारण राजमती कहती है कि मैं हरिणी के वेश में वन-खण्ड का पर्यटन करती थी और एकादशी का निर्जला व्रत रहती थी। एक दिन एक शिकारी ने मेरे हृदय पर दो बाण मारे और मेरी मृत्यु जगन्नाथ जी के द्वार पर हुई। चूँकि मैंने मृत्यु के समय जगन्नाथ जी का स्मरण किया था अतः भगवान् प्रकट हो गए और उन्होंने मुझसे वर माँगने के लिए कहा तब मैंने उनसे यह वर माँगा कि मेरा जन्म एक सुन्दर रूपवती राजकुमारी के रूप में मारवाड़ में हो। राजमती की बातें वीसलदेव के हृदय में तीर के समान चुभ गइ और उसने बारह वर्ष तक उससे अलग रहकर उड़ीसा-प्रवास की शपथ खा ली। वीसलदेव की भाभी और राजमती दोनों ने उसे

नाम के—जिनको वीसलदेव भी कहा जाता है—चार राजा हुए हैं—

> आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छ विच्छेद नाभि—
> र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः ॥
> मृते सम्प्रति चाहमानतिलकः शाकम्भरीभूपतिः ।
> श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी सन्तान जानात्मनः ॥

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रायः सभी विद्वान विचारक वीसलदेव और विग्रहराज दोनों को एक ही मानते हैं तथा वीसलदेव रासो की ऐतिहासिकता सिद्ध करते समय भी समीक्षकों ने दोनों को एक ही माना है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो 'हिंदी साहित्य का आदि काल' में वीसलदेव नाम ही अपभ्रंश माना है तथा 'प्रबंध चिन्तामणि' की एक कथा को भी उद्धृत किया है जिसमें यह बतलाया गया है कि वीसलदेव ने अपना नाम विग्रहराज क्यों रखा। कहा जाता है कि वीसलदेव का संधिविग्राहक कुमारपाल की सभा में आया और उसने "विसल" को संस्कृत "विश्वल" अर्थात् विश्व विजयी से व्युत्पन्न बताया परन्तु कुमारपाल के मंत्री कपर्दी ने 'विश्वल' का अर्थ चिड़ियों की तरह भागनेवाला किया। इस पर विसलदेव ने अपना नाम विग्रहराज रखा लेकिन कपर्दी ने इसका भी अर्थ "वि+ग्र+हर+अज" व्युत्पत्ति द्वारा शिव तथा ब्रह्मा की नाक काटनेवाला किया तब वीसलदेव ने अपना नाम 'कविबांधव' रखा। 'प्रबंध चिन्तामणि' की यह कथा केवल विनोदमात्र है लेकिन इससे दो महत्त्वपूर्ण तथ्य तो निश्चित ही ज्ञात होते हैं कि वीसलदेव तथा विग्रहराज दोनों एक ही हैं तथा यह कवियों को बंधु के सदृश ही मानता था।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि विग्रहराज नाम के चार राजा हुए थे जिनमें से विग्रहराज तृतीय का वि० सं० ११५० तथा विग्रहराज चतुर्थ का वि० सं० १२१० से १२२ वि० सं० तक वर्तमान रहना शिलालेखों द्वारा प्रमाणित भी होता है। ओझा जी ने तो विग्रहराज प्रथम का समय वि० सं० ८८० तथा विग्रहराज द्वितीय का समय वि० सं० १०३० माना है। विग्रहराज चतुर्थ एक कवि के रूप में भी प्रसिद्ध हैं तथा 'हरकेलि नाटक' भी उसी का लिखा कहा जाता है जिसके कि कुछ अंश प्रस्तर खण्ड पर खुदे हुए रूप में प्राप्त भी हुए हैं। हरकेलि नाटक वि० सं० १२१२ में समाप्त हुआ

माना जाता है—और वि० सं० १२२० तक के कई शिलालेख भ
वीसलदेव चतुर्थ के प्राप्त होते हैं अतः वि० सं० १२१० से १२२० त
का उसका समय युक्तिसंगत ही है। विग्रहराज तृतीय को राजा भो
के भाई उदयादित्य का समकालीन माना जाता है जो कि वि० सं
१११६ के लगभग राजसिंहासनासीन हुआ था और जिसके कि वि० सं
११३७ तथा ११४३ के शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं तथा यह भी क
जाता है कि विग्रहराज तृतीय की सहायता से उदयादित्य ने गुर्जर दे
के सोलंकी राजा कर्ण पर विजय प्राप्त की थी और चूँकि कर्ण के वि
सं० ११३१ तथा ११४५ के दानपत्र भी प्राप्त हुए हैं अतः वीसलदेव तृती
का समय वि० सं० ११५० के लगभग माना जा सकता है। चूँ
'वीसलदेव रासो' में वीसलदेव के पूर्वजों का वंशावली नहीं दी गई
अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें उक्त चारों राजाओं में से कि
वीसलदेव का चित्रण किया गया है। प्रायः अधिकांश विद्वानों
यही मत है कि वीसलदेव रासो में जो दो मुख्य घटनाएँ उल्लिखित
उनमें से वीसलदेव का उड़ीसा जाना तो किसी भी भाँति सिद्ध न
होता और यह कवि कल्पना मात्र ही जान पड़ता है लेकिन राजम
के साथ उसके विवाह की घटना में सत्य का अंश अवश्य प्राप्त हो
है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री सत्यजीवन वर्मा और डॉ० हजा
प्रसाद द्विवेदी वीसलदेव रासो का नायक वीसलदेव चतुर्थ को ही मान
हैं लेकिन डा० श्यामसुन्दरदास, श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा अ
डा० उदयनारायण तिवारी वीसलदेव तृतीय को उसका नायक मान
अधिक युक्तिसंगत समझते हैं। यदि वीसलदेव रासो के नायक वीसल
को विग्रहराज चतुर्थ माना जाए तो फिर राजमती से उसके विवाह
कथा सर्वथा ही इतिहास विरुद्ध जान पड़ती है क्योंकि ग्रंथ में उ
राजा भोज की पुत्री माना गया है और भोज का समय लगभग स
१११२ के आसपास था अतः जब कि वीसलदेव चतुर्थ का समय स
१२०७ से १२२० वि० सं० तक होना सिद्ध किया जा चुका है तब
वर्ष पूर्व के किसी व्यक्ति की पुत्री से उसके विवाह की कथा युक्तिसं
नहीं कही जा सकती। परन्तु श्री सत्यजीवन वर्मा वीसलदेव रासो
वर्णित भोज को परमारवंशीय प्रसिद्ध राजा भोज नहीं मानते अपितु
'हम्मीर काव्य' की 'भोजो भोज इवा परः' नामक उक्ति के आधार
भोजवंशीय किसी अन्य राजा के लिए नाल्ह द्वारा 'भोज' शब्द

व्यवहार किया जाना मानते हैं। बीसलदेव ने परमारवंशीय किसी राजा की लड़की से विवाह किया था यह बात तो पृथ्वीराज रासो में भी लिखी हुई है तथा 'पृथ्वी-विजय' नामक काव्य में भी स्वीकार किया गया है कि मालवा के राजा उदयादित्य ने विग्रहराज की सहायता से उन्नति की थी और उसी के द्वारा दी गई अश्व-सैन्य की सहायता से गुजरात के राजा कर्ण पर विजय प्राप्त की थी अतः चूँकि उदयादित्य ने चौहानों से मिलकर अपनी वंश परम्परा के शत्रु सोलंकी राजा कर्ण को पराजित किया था इसलिए हो सकता है कि मैत्री-निर्वाह के हेतु किसी भोजवंशीय नृप ने वीसलदेव के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया हो। यद्यपि श्री सत्यजीवन वर्मा वीसलदेव की रानी का नाम राजमती कवि कल्पित ही मानते हैं क्योंकि उनका मत है कि वीसलदेव रासो के अतिरिक्त कहीं भी परमारवंशीय 'राजमती' नामक किसी राजकुमारी का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल, जिल्द ५५, भाग १ (सन् १८८६) पृष्ठ ४१ द्वारा विदित होता है कि पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के बीजोल्याँ के शिलालेख में जो चौहानों की वंशावली दी गई है उसमें विग्रहराज तृतीय की रानी का नाम राजदेवी है—

> चामुंडोऽवनिपेति राणकवरः श्री सिंघटों दूसल—
> स्तद्‌भ्रातास्य ततोपि बीसलनृपः श्रीराजदेवि प्रियः—
> पृथ्वीराज नृपोथ तत्तनुभवो रासलदेवी विभुः

अतः इसी के आधार पर हो सकता है कि नरपति नाल्ह ने वीसलदेव की पत्नी का नाम राजमती माना हो। यों तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दी साहित्य' और 'हिंदी साहित्य का आदि काल' नामक कृतियों में उक्त रासो के नायक को विग्रहराज चतुर्थ ही माना है तथा श्री सत्यजीवन वर्मा की भाँति वे भी राजमती नाम को कल्पित ही मानते हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि विग्रहराज चतुर्थ के राजकवि सोमदेव ने 'ललित विग्रहराज' नामक एक नाटक लिखा था जिसमें कि इंद्रपुर के राजा वसन्तपाल की सुता देवलदेवी के साथ वीसलदेव के प्रेम का वर्णन किया गया है तथा जिस प्रकार वीसलदेव रासो में वीसलदेव रानी से रूठकर उड़ीसा चला जाता है उसी प्रकार ललित विग्रहराज नाटक में भी उसने

अपनी प्रिया के पास यह संदेश भिजवाया है कि पहले हम्मीर क
मानमर्दन कर लूँ तब तुम्हारे पास आऊँगा। द्विवेदी जी राजा बसन्त
पाल और देवलदेवी को कल्पित नाम ही मानते हैं तथा वे इस प्रका
की कवि-कल्पना को "उन दिनों के ऐतिहासिक समझे जाने वाले काव
की प्रकृति का सुन्दर परिचय" समझते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने बीस
देव का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना है परन्तु यह कहीं नहीं लि
कि उनका आशय किस बीसलदेव से है। विसेन्ट स्मिथ के अनुस
नवम्बर १००१ में सुलतान महमूद द्वारा पराजित होने पर जैपाल द्व
आत्म-हत्या कर लेने से उसका पुत्र अनंगपाल राज-सिंहासन पर बै
था जो कि अपने पिता के सदृश्य अजमेर के चौहान राजा बीसल
के नेतृत्व में हिन्दू शक्तियों के संघ में सम्मिलित हुआ था। इस प्रक
उक्त बीसलदेव का समय सन् १००१ अर्थात् वि० सं० १०५८ माना
सकता है। डा० रामकुमार वर्मा ने श्री राजेन्द्रलाल मित्र के कथन
मार भोज का समय वि०सं० १०२६ से १०८६ माना है और इस प्रक
वे हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खन्ड, पृष्ठ ३५८ में दिए गए बीसल
के समय वि० सं० १०३०–१०५६ को स्वीकार कर लेते हैं। ओझाज
वि० सं० १०३० में विग्रहराज द्वितीय का होना स्वीकार किया है अ
यदि हम डा० रामकुमार वर्मा का मत स्वीकार कर लेते हैं तो फिर
बीसलदेव रासो के नायक को बीसलदेव द्वितीय मानना होगा ले
हम तो श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० श्यामसुन्दरदास
डा० उदयनारायण तिवारी की भाँति विग्रहराज तृतीय को बीसल
रासो का नायक मानना अधिक समीचीन समझते हैं। ओझा ज
हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि परमार राजा
उदयादित्य के अग्रज थे और भोज ने चौहान राजा वाक्पतिराज द्वि
के अनुज वीर्यराम को युद्ध में धराशायी कर दिया था अतः हो स
है कि मालवा के परमारों और साँभर के चौहानों में अनबन हो ग
जिसको दूर करने के लिए कालान्तर में उदयादित्य ने अपनी भ
का विवाह विग्रहराज तृतीय के साथ कर दिया हो। विवाह द्वारा
प्रकार के विवादों को मिटाने की परम्परा के कई उदाहरण हमें
पुराने के इतिहास में दृष्टिगोचर भी होते हैं। जैसा कि हम अभी
कह चुके हैं पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के बीजोल्यों वाले शिला
में दी गई चौहानों की वंशावली में विग्रहराज तृतीय की रानी का

राजदेवी होना स्वीकार किया गया है और हम यह भी जानते है
श्री सत्यजीवन वर्मा का मत है कि शिलालेख की उक्त 'राजदेवी
अनुसरण में ही नाल्ह द्वारा बीसलदेव की रानी का नाम राज
लिखा गया है परन्तु हम वर्मा जी के कथन से सहमत नहीं है
ओझा जी का यह मत कि "बीसलदेव रासो की राजमती और
राजदेवी नाम एक ही रानी के सूचक होने चाहिए" हमें अधिक
संगत ज्ञात पड़ता है। कहते हैं परमार राजा भोज के अंतिम
उनके राज्य पर विपत्ति की घटाएँ छा गई थीं और गुजरात के
भीमदेव प्रथम तथा चेदि के राजा कर्ण ने उन पर आक्रमण कर
था तथा इस चढ़ाई के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उन
जयसिंह राजगद्दी पर बैठा जिसका कि वि० सं० १११२ का
पत्र तथा १११६ वि० सं० का एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है
कहा जाता है कि जयसिंह भी अधिक समय तक गद्दी पर
पाया और तब उसका चाचा उदयादित्य राजसिंहासन पर
सकता है अपने राज्य की स्थिति सुदृढ़ करने के लिए उसने
साथ अपना वैर मिटाना आवश्यक समझा हो और इस प्रक
भतीजी (राजा भोज की पुत्री) राजदेवी या राजमती का वि
विग्रहराज तृतीय से कर दिया हो जिसके फलस्वरूप रा
विजय प्राप्त करते समय उसे बीसलदेव से पर्याप्त सहायत
हो। इस प्रकार बीसलदेव रासो का नायक विग्रहराज
मानना ही अधिक उपयुक्त है तथा उसकी रानी का ना
केवल कवि कल्पना मात्र नहीं है। यह तो हम पहले ही क
नरपति नाल्ह को 'बीसलदेव रासो' के नायक का सम
मानना उचित नहीं है और उसका रचनाकाल भी हम वि
न मान कर कार्तिकादि वि० सं० १२७२ मानना अधि
समझते हैं। हो सकता है कवि को राजा भोज की पुत्री के
देव के विवाह की कथा स्मरण रही हो अतः उसने उसी
मान कर उक्त घटना से लगभग १५० वर्ष पश्चात् अपने क
किया और चूँकि उसको विवाह की अवधि तथा तिथि
अतः उसने वधू को भोजसुता होने के कारण उसी सम
... दिया हो। इस प्रकार कम से कम बी
... से बीसलदेव

प्रसंग तो ऐतिहासिक ही है और उसे तो इतिहास-विरुद्ध नहीं कह
जा सकता लेकिन सम्पूर्ण रासो में जो अन्य कई ऐसी घटनाएँ तथ
प्रसंग हैं जिन्हें कि किसी भी भाँति ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकत
उनके लिए तो ओझा जी ने केवल मात्र यह लिख कर संतोष कर लिय
है कि "अपने काव्य को लोकप्रिय और रोचक बनाने तथा नायक क
महत्त्व-वृद्धि के निमित्त काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं में उसने कल्पन
का आश्रय कर लिया" लेकिन विचारकों की शंकाओं का समाधान त
उनके केवल इस तर्क से किसी भी भाँति हो नहीं पाता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाह के समय बीसलदेव को भोज
द्वारा आर्लीसार, कुंडाल, मंडोवर, सौराष्ट्र, गुजरात, साँभर, टोडा
टोंक, चित्तौड़ आदि देश दिये जाने की बात कोरी कवि कल्पना मात्र
क्योंकि इतिहास द्वारा इन प्रदेशों का भोज के आधीन होना सिद्ध नह
होता और जैसलमेर, अजमेर तथा आनासागर आदि नाम भी कद
चित् इसीलिए रासो में समाविष्ट कर लिए गए हैं क्योंकि उक्त रासो
प्रणयन के समय ये विद्यमान थे। डा० श्यामसुन्दरदास तो अना
सागर के विषय में यह अनुमान करते हैं कि अनापेण देवी के नाम प
बना था और इस प्रकार वे बीसलदेव रासो में वर्णित आनासाग
तथा अर्णोराज द्वारा वर्णित आनासागर में भेद नहीं मानते परन्तु अ
यह पूर्णतः सिद्ध हो चुका है कि आनासागर केवल एक ही है जो
अजमेर के समीप कुछ दूरी पर है तथा जिसके बाँध-निर्माण का श्रे
अर्णोराज को दिया जाता है। इस प्रकार विग्रहराज तृतीय के सम
अनासागर का विद्यमान रहना युक्तिसंगत नहीं है। डा० माताप्रसा
गुप्त द्वारा संपादित 'बीसलदेव रास' में तो कालिदास और माघ क
उल्लेख करनेवाला छन्द ही नहीं है अतः उसकी प्रमाणिकता पर विचा
करना भी आवश्यक नहीं है। राजमती के साथ बीसलदेव का विवा
विषयक प्रसंग के सदृश्य दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना बीसलदेव का उड़ीस
प्रवास है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि यदि हम रासो
छन्दों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन करें तो भी हमें उसमें एक भी ऐस
छंद दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें कि बीसलदेव द्वारा उड़ीसा विज
का उल्लेख किया गया हो। उड़ीसा-प्रवास तथा उड़ीसा पर विज
प्राप्त करना निस्संदेह दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं अतः मेनारिया जी
पाँचवी आपत्ति तो मूलतः निराधार ही हैं। यों तो इंडियन एंटिक

जिल्द १५ ६० .१८ में वीसलदेव चतुर्थ का यह कथन उद्धृत कि
गया है कि वह अपने वंशजों को सम्बोधित कर यह कहता है
मैंने तो हिमालय और विंध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद बना लि
है लेकिन शेष पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने में तुम्हारा चित्त उ
शून्य न होना चाहिए—

> अविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसङ्गात्
> उद्ग्रीवेषु प्रहर्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः ।
> × × ×
> अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
> शेषः-स्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योग शून्यं मनः ।

चूँकि यह अवतरण दिल्ली के फिरोजशाह की लाट पर चौ
वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के वि० सं० १२२० वैशाख
गुरुवार के लेख से उद्धृत किया गया है अतः इसे अप्रामाणिक
नहीं जा सकता । यदि यह मान लिया जाए कि विग्रहराज
समय हिमालय से लेकर विंध्याचल तक के प्रदेश उसके
थे तो फिर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उड़ीसा
आधीन रहा होगा । करद प्रदेशों के विषय में यह कहा ज
उन पर विजय प्राप्त करना प्रायः आवश्यक नहीं समझा जा
बहुत से प्रदेश तो स्वेच्छा से ही आधीनता स्वीकार
राज्य कहलाना पसंद करते हैं । मिश्रबंधुओं ने पृथ्वीरा
प्रामाणिकता पर विचार करते समय हमारा ध्यान इस ओ
किया है कि मध्यकालीन भारत के अधिकांश इतिहास ग्रंथ
द्वारा ही लिखे गए हैं और उनमें राजपूतों की वीरता
वास्तविक चित्रण नहीं किया गया । 'भारत के प्राचीन रा
ग्रंथ के पृष्ठ २५४ में यह भी स्वीकार किया गया है कि
तीर्थयात्रा के प्रसंग में विंध्याचल से लेकर हिमालय त
विजय प्राप्त की थी, अतः इससे यह कहा जा सकता है
रासो के नायक का उड़ीसा-प्रयाण और वहाँ से अ
लौटना सर्वथा इतिहास विरुद्ध नहीं है । यह अवश्य है
के उड़ीसा जाने का कोई प्रमाण

उससे यह अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि उड़ीसा भी बीसलदेव के आधीन करद राज्य के रूप में होगा। विद्वानों ने जो यह तर्क प्रस्तुत किया है कि चारों बीसलदेवों में से किसी के भी उड़ीसा-विजय करने का प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तो इस विषय में हमारी राय यह है कि बीसलदेव रासो में बीसलदेव के केवल उड़ीसा-प्रवास की बात लिखी है और यह कहीं भी नहीं लिखा गया कि उसने उड़ीसा पर विजय प्राप्त की थी। स्मरण रहे कि रासो में कुछ ऐसे भी छंद उपलब्ध होते हैं जिनसे कि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उड़ीसा नरेश ने बीसलदेव का पर्याप्त आदर-सत्कार किया था और रानी तो उसे अपना भाई कहकर सम्बोधित करती है। प्रायः विजेताओं को इस प्रकार के सम्बोधनों से सम्बोधित नहीं किया जाता और न इतना स्नेह ही प्रदर्शित किया जाता है अतएव इससे स्पष्ट हो जाता है कि बीसलदेव उड़ीसा में एक विजेता के रूप में नहीं गया था; अतः नरपति नाल्ह ने जो बीसलदेव का उड़ीसा जाना और वहाँ से पर्याप्त धन लेकर अजमेर लौटना स्वीकार किया है उसमें भी सत्य का अंश अवश्य है तथा उसे सर्वथा अनैतिहासिक मानना भी उचित नहीं है। 'भारत के प्राचीन राजवंश' नामक ग्रंथ और शिलालेख के उक्त अवतरण भी हमारे कथन का समर्थन करते हैं। यद्यपि रासो में जो राजमती द्वारा बीसलदेव को प्रेरणा दिखाई गई है उसके ऐतिहासिक प्रमाण अनुपलब्ध हैं तो भी उसे सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि राजपूताने के इतिहास में कई ऐसे प्रसंग भी दृष्टिगोचर होते हैं जब वीर राजाओं ने अपनी पत्नी के ताने सुनकर अन्य देशों पर आक्रमण किए हैं। राजमती प्रसिद्ध राजा भोज की कन्या कही जाती है और इस प्रकार उसमें पितृपक्ष का गर्व होना स्वाभाविक ही है तथा ऐसी गर्वीली रूपवती नारियाँ यदि अपने पति को डींग हाँकते हुए देखें और उससे किसी अन्यप्रदेश की समृद्धि का वर्णन करें तो फिर उसका चिढ़कर उस प्रदेश की यात्रा करना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इधर बीसलदेव के विषय में अभी तक बहुत ही थोड़ी सी ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आई है अतः इस बात का प्रमाण इतिहास में खोजने जाना उचित नहीं है। बीसलदेव और राजमती के विवाह की घटना को तो हम प्रामाणिक ही मानते हैं और उसकी ऐतिहासिकता पर भी प्रकाश डाल चुके हैं लेकिन साथ ही हम नरपति

ाल्ह द्वारा अंकित वीसलदेव का उड़ीसा-प्रवास और वहाँ से असंख्य
त्य लेकर अजमेर लौटना भी अप्रामाणिक नहीं मानते क्योंकि शिला-
ेख के उक्त अवतरण तथा 'भारत के प्राचीन राजवंश' में वीसलदेव के
ाधीन विंध्याचल से लेकर हिमालय तक के प्रदेशों का होना स्वीकार
िया गया है। हमारी राय यह है कि राजमती द्वारा जो वीसलदेव को
ह प्रेरणा रासो में दिलवाई गई है उसके प्रमाण चाहे अभी उपलब्ध
हों लेकिन नरपति नाल्ह ने उसे इस स्वाभाविक ढंग से अंकित किया
कि वह अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती अपितु वर्णन में वास्तविकता
ो आ गई है। इतिहास ग्रंथों में तो इतनी छोटी-छोटी बातें प्रायः नहीं
ल्खी जातीं कि अमुक राजा ने अमुक रानी द्वारा ताना दिए जाने पर
मुक प्रदेश पर कूच किया था लेकिन चूँकि 'वीसलदेव रासो' एक
ाव्यग्रंथ है अतः उसके रचयिता ने नायिका द्वारा नायक को यह
रणा दिलवा कर उचित ही किया है। चरित्र-चित्रण तथा कथा-प्रसंग
निर्वाह में भी राजमती का यह कथन सहायक ही सिद्ध होता है।

वीसलदेव रासो मे वीसलदेव द्वारा जो अपने भतीजे को उत्तरा-
कारी नियत करना लिखा गया है उसे भी बहुत से विद्वान अप्रमाणिक
नते हैं और उनका मत है कि इतिहास द्वारा यह विदित होता है कि
सलदेव के पश्चात् उसका पुत्र अमरगांगेय विग्रहराज चतुर्थ का पुत्र
न कि विग्रहराज तृतीय का। हमने वीसलदेव रासो का नायक
सलदेव तृतीय को माना है अतः विग्रहराज चतुर्थ के विषय में कहे
ने वाले तथ्य को हम क्यों स्वीकार करें। तो भी यदि हम मेनारिया
के कथन पर विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका यह कथन
: अमरगांगेय वीसलदेव का उत्तराधिकारी था पूर्णतः युक्तिसंगत नहीं
क्योंकि इंडियन एंटिक्वरी भाग चौदह पृष्ठ २१८ द्वारा यह प्रमाणित
जाता है कि वीसलदेव का उत्तराधिकारी उसका भतीजा जगदेव का
: पृथ्वीभाट था और उसका पहला शिलालेख वि० सं० १२२४ का
ी में मिला भी है। साथ ही पृथ्वीराज-विजय में तो अमर गांगेय
अधिक दिनों तक जीवित न रहने के विषय में भी लिखा गया है
न्तु चूँकि हम 'वीसलदेव रासो' का नायक विग्रहराज तृतीय को
ते हैं अतः हमें उसी के उत्तराधिकारी के विषय में भी विचार करना
ा। वीसलदेव रासो के छन्द से केवल इतना ही भास होता है कि
ीसा जाने के पूर्व वीसलदेव अपने भतीजे को अपना राज्य सौंपने की

इच्छा व्यक्त करता है न कि वह उसे सर्वदा के लिए उत्तराधिकारी बना देता है।[1] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विवाह के समय राजमती की आयु केवल बारह वर्ष की कही गई है यद्यपि श्री सत्यजीवन वर्मा उसे "बारह वर्ष की गोरडी" कहना उपयुक्त नहीं समझते और उनकी राय में तो स्त्रियों की युवावस्था का समय पन्द्रह-सोलह वर्ष मानना ही उचित है। वर्मा जी का कहना है कि हिन्दुओं में उस समय अधिकतर व्यक्ति 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी दश वर्षा च रोहिणी' नामक उक्ति पर विश्वास करते थे अतः हो सकता है कि इस दृष्टि से राजमती का विवाह बारह वर्ष की आयु में ही हो गया हो। परन्तु हम तो वर्मा जी के इस तर्क से ही असहमत हैं कि स्त्रियों की युवावस्था का समय पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था मानी जाए क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कन्याओं के रजस्वला होने का समय भी अलग-अलग है। भारतवर्ष एक बृहत् देश है तथा यहाँ प्रकृति की छहों ऋतुएँ क्रीड़ा करती हैं अतः यहाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रजस्वला होने का समय भी अलग-अलग है, तथा यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि जहाँ जितनी अधिक उष्णता पड़ती है वहाँ उतनी ही शीघ्र कन्याएँ रजस्वला हो जाती हैं और चूँकि राजपूताने का धार प्रदेश उष्ण प्रदेश है अतः वहाँ कन्याओं का शीघ्र ही रजस्वला हो जाना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार हम तो बारह वर्ष की आयु में राजमती का विवाह होना अनुपयुक्त और अस्वाभाविक नहीं समझते। फिर हम यहाँ इस तर्क का भी तो आश्रय ले सकते हैं कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ विवाह जल्दी ही हो जाया करते थे और इस प्रकार यदि राजमती का विवाह बारह वर्ष की आयु में ही हुआ हो तो इसमें संदेह तथा आपत्ति करने की भला क्या आवश्यकता है? अब चूँकि हम विवाह के अवसर पर राजमती की आयु बारह वर्ष की

१—वह छन्द इस प्रकार है—

हूँ न परीसउं गोरी बारह बरसि।
जाँ नहिं देषउं आपणइ नरसि॥
काल्ह ही उलग गम करउँ।
तेहँ बंभण दिन गिणउ आज।
छोडउँ देस सवाल्पउ।
गोरी कौकि मनीसा म्हे मंदपिस्यइ राज॥

—बीसलदेव रास, पृ० ८८, छं० १८

स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमें बीसलदेव की आयु भी कुछ विशेष अधिक न माननी चाहिए। यों तो बीसलदेव ने "अठारह सहस अस्त्रियाँ घरि नारि" नामक उक्ति में अपनी एक सहस्र पत्नी होना स्वीकार किया है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके एक सहस्र स्त्रियाँ थीं। हम इसका लाक्षणिक अर्थ भी ले सकते हैं और साथ ही चूँकि राजपूताने में बहुत अधिक संख्या में रखेली रखने का रिवाज था अतः यह भी अनुमान कर सकते हैं कि उसके रनिवास में कई स्त्रियाँ थीं लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सब उसकी पत्नी ही थीं। फिर इतनी अधिक नारियों के होते हुए भी बीसलदेव "एक अस्त्री छइ अठारह रतन संसारि" नामक उक्ति द्वारा राजमती को ही केवल संसार का रत्न मानता है और उसे ही अपनी प्रेमप्रिया भी कहता है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि 'रासो ग्रंथ' में कहीं भी बीसलदेव के किसी पुत्र का होना स्वीकार नहीं किया गया और यदि उसके संतान होती तो वह उड़ीसा नरेश की रानी के सामने अपने रनिवास का वर्णन करते समय अपने पुत्र का भी स्मरण करता क्योंकि जब उसे अपनी प्राणप्रिया की स्मृति हो उठती है तो फिर अपने पुत्र की भी याद आना स्वाभाविक ही है। साथ ही कैसा भी पाषाण-हृदयी पिता क्यों न हो वह बारह वर्ष तक पुत्र-वियोग कैसे सहन कर सकता है और फिर जब अवसर आता है तो पुत्र का उल्लेख भी नहीं करता अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उड़ीसा-प्रवास के समय बीसलदेव को पुत्र नहीं था क्योंकि यदि उसको पुत्र होता तो किसी न किसी छंद में उसका उल्लेख अवश्य किया जाता। यह अवश्य है कि बीसलदेव की माता का उल्लेख किया गया है और वह बीसलदेव से यात्रा न करने के लिए भी कहती है तथा उसके व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह बीसलदेव की पूजनीय और [illegible] है अतः नरपति नाल्ह ने जो उड़ीसा यात्रा के पूर्व बीसलदेव द्वारा अपनी माता को राज्य सौंपना अंकित किया है वह भी हमें वास्तविक प्रतीत होता है और हम उसे सर्वथा कल्पित नहीं समझते। चूँकि नरपति कोई इतिहासज्ञ न था और वह बीसलदेव का समकालीन ही था अतः हो सकता है उसने ऐतिहासिक तथ्यों का कम से कम आधार लेकर अपनी कल्पना द्वारा कुछ घटनाओं की सृष्टि कर 'बीसलदेव रासो' का एक ढाँचा प्रस्तुत कर दिया हो जिसने परवर्ती कवियों द्वारा

बहुत सा परिवर्तन-परिवर्धन किया गया हो जिसके फलस्वरूप आज जो रासो की प्रतिलिपियाँ प्राप्त हैं उनमें इतिहास-विरुद्ध प्रसंग भी दृष्टिगोचर होते हैं और उसे 'मिथ्या बहुल काव्य' समझ कर उसकी ऐतिहासिक ऊहापोह करना व्यर्थ मान लिया जाता है लेकिन हमारी राय तो यह है कि 'बीसलदेव रासो' को सर्वथा अप्रामाणिक मानना और अनैतिहासिक कहना उसके प्रति अन्याय करना ही है क्योंकि विचार-पूर्वक देखा जाए तो उसमें कई तथ्य ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जो कि इतिहास-सम्मत हैं और उन तथ्यों की प्रामाणिकता पर अभी-अभी हम प्रकाश भी डाल चुके हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नाहटा जी तथा मेनारिया जी ने 'बीसलदेव रासो' की जिन बहुत सी ऐतिहासिक त्रुटियों का उल्लेख किया है वे सब उक्त ग्रंथ की प्रतिलिपियों तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति के आधार पर हैं—लेकिन डा० माताप्रसाद गुप्त ने जो 'बीसलदेव रास' नामक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित करवाया है—उसमें तो बहुत से ऐसे प्रसंग हैं ही नहीं जिनको कि उक्त दोनों विद्वान इतिहास-विरुद्ध मानते हैं तथा अवशिष्ट घटनाओं में से अधिकांश की प्रामाणिकता तो हम सिद्ध कर चुके हैं अतः सम्पूर्ण ग्रंथ का प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक मानना किसी भी भाँति उचित नहीं है और इस प्रकार अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बीसलदेव रासो में न केवल बीजरूप में ही ऐतिहासिक सत्य विद्यमान हैं अपितु उसके अधिकांश प्रसंग भी ऐतिहासिक ही हैं।

बीसलदेव रासो के निर्माण काल तथा उसकी ऐतिहासिकता पर विचार करने के साथ उसकी काव्य-सुषमा पर भी प्रकाश डालना अत्यावश्यक है। यों तो श्री. मोतीलाल मेनारिया ने अपनी 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' नामक कृति में 'बीसलदेव रासो' का मूल्यांकन करते हुए लिखा है "मालूम होता है नाल्ह कोई बहुत पढ़ा लिखा हुआ कवि नहीं बल्कि एक साधारण योग्यता का रमता-फिरता भाट था, जो अपनी तुकबंदियों द्वारा जन-साधारण को प्रभावित कर अपनी उदर-पूर्ति करता था। जन्मसिद्ध काव्य-प्रतिभा उसमें न थी। अतः रासो में न तो काव्य चमत्कार; न अर्थ गौरव और न छंद-वैचित्र्य है। सर्व साधारण की बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग उसने किया अवश्य, पर उनका भी ठीक-ठीक प्रयोग उससे न हुआ; उनके साथ

लिपटे हुए भाव को वह न समझ सका।......निष्कर्ष यह है कि साहि त्यिक दृष्टि से बीसलदेव रासो का मूल्य नहीं के बराबर है।" डा० उदयनारायण तिवारी भी नरपति नाल्ह को एक अत्यन्त साधारण श्रेणी का कवि मानते हैं और उनकी दृष्टि में "बीसलदेव रासो का मूल रूप चाहे जो भी रहा हो, वर्णन शैली तथा प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से वह वर्तमान संस्करण सा ही रहा होगा, उससे सुन्दर कदापि नहीं। परिवर्तन केवल भाषा अथवा वर्णन-विस्तार में ही हुआ होगा, शैली में नहीं।" इतना ही नहीं तिवारी जी का तो यहाँ मत है कि "रासो के वर्तमान रूप को देखते हुए सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि न तो इसमें किसी प्रकार का साहित्यिकसौष्ठव है और न वर्णनों में किसी प्रकार की रोचकता है। नितान्त साधारण और अक्रमिक शैली में घटनाओं का वर्णन मिलता है।" इस प्रकार विचारकों ने न केवल बीसलदेव रासो को अप्रामाणिक और अनैतिहासिक सिद्ध करने का प्रयास किया है अपितु काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से भी उसकी उपेक्षा की है लेकिन क्या वास्तव में साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से वह ऐसी ही असहत्त्वपूर्ण कृति है जैसी कि मेनारिया जी और तिवारी जी मानते हैं ?

पाश्चात्य विद्वान विंचेस्टर ने काव्य के मूल में भाव-तत्त्व (Emotional element), बुद्धि-तत्त्व (Intellectual element), कल्पना-तत्त्व (The element of imagination) तथा शैली-तत्त्व (The element of style) नामक चार प्रमुख तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विचारकों के अनुसार कविता में इन्हीं चार तत्त्वों की आवश्यकता समझी जाती है तथा इन्हीं के आधार पर उसका रूप भी निर्धारित किया जाता है। परन्तु प्राचीन भारतीय आचार्यों ने तो काव्य में अनुभूति पक्ष या भाव-पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष या कला पक्ष नामक दो पक्ष ही आवश्यक माने हैं। यों तो इन दोनों पक्षों का अपना-अपना निजी महत्त्व भी है लेकिन वस्तुतः दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित ही हैं। जिस प्रकार कवि-... शारीरिक शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं उसी प्रकार कुछ विचा-रकों ने अलंकार और रीति को काव्य के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए ... को सर्वस्व प्रदान किया है परन्तु कविता का मूल आधार ... है। ... पाश्चात्य विचारकों ने भी काव्य का ...

तत्त्व भाव तत्त्व ही माना है तथा शेष तीनों को तो वे उसे पुष्ट करने, उसके लिए सामग्री उपस्थित करने और साथ ही अभिव्यक्ति में भी सहायक होने के लिए आवश्यक समझते हैं अतः इस प्रकार कविता में भाव पक्ष को ही प्रधानता दी जानी चाहिए। नाट्यशास्त्र मे भी कहा गया है कि "न भावहीनोऽस्तिरसो न भावो रसवर्जितः" अर्थात् भाव रस से स्वतंत्र नहीं हैं और न भावों के बिना रस की स्थिति ही है अतएव इसमे भी स्पष्ट हो जाता है कि रसाभिव्यक्ति में कारण रूप से भावों की स्थिति ही स्वीकार की जाती है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' नामक उक्ति द्वारा रसयुक्त वाक्य को ही काव्य माना है तथा पंडितराज जगन्नाथ ने भी "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" नामक उक्ति द्वारा रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्दों को ही काव्य मान कर रस का महत्त्व भी स्वीकार किया है क्योंकि रमणीयता में रस का भाव स्पष्टतः संलग्न प्रतीत होता है। इतना ही नहीं स्वयं मम्मट ने भी रस को ही काव्य में प्रधानता देते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस तरह से शौर्यादि आत्मा के गुण हैं उसी प्रकार काव्य में अंगी रूप रस के स्थायी धर्म गुण हैं और ये रसोत्कर्ष के कारण भी होते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बीसलदेव रासो के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है "नाल्ह के इस बीसलदेव रासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठ कर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है।" लेकिन हमारी दृष्टि में तो प्रत्येक रासो को वीरगाथा मान लेना आवश्यक नहीं है। क्योंकि इधर अन्य ऐसे रासो ग्रंथ भी उपलब्ध हुए हैं जिन्हें कि वीरगाथाओं की संज्ञा किसी भी प्रकार नहीं दी जा सकती। यह तो स्पष्ट ही है कि इन रासो ग्रंथों में कविगण किसी सामन्त या राजा-विशेष का वर्णन करते थे और कभी तो वह कवि विशेष उनका समकालीन होता था तथा कभी

उनके उत्तराधिकारियों के दरबार में रहने का उसे संयोग आता था अतः स्वाभाविक ही वह अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए कुछ झूठी-सची विजयों तथा कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का आधार लेकर विरुदावली के रूप में एक ऐसे ग्रंथ का सृजन करता था जिसमें कि एक ओर तो नायक शृंगार का आश्रय होता था तथा दूसरी ओर शृंगार का आलम्बन क्योंकि आश्रयदाता की मनोवृत्ति दोनों में ही रमती थी। फलतः इन रासो ग्रंथों को केवल स्तुति-मात्र मानना चाहिए तथा जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "रासो केवल चरित काव्य का सूचक है" उचित ही जान पड़ता है। प्राकृत पैंगलम तथा तत्कालीन संस्कृत काव्य में तो इस प्रकार की राजस्तुति मूलक रचनाओं की प्रचुरता-सी देख पड़ती है अतः हम इन वीरगाथाओं को स्तुतिपरक रचनाएँ ही मानते हैं और इस प्रकार ऐसा कोई कारण नहीं देखते जिससे कि बीसलदेव रासो को 'रासो' कहलाने में आपत्ति हो। न केवल उसमें बल्कि प्रायः अन्य सभी तथाकथित 'रासो ग्रंथों' में शृंगार रस की ही प्रधानता दीख पड़ती है अतः बीसलदेव रासो में भी शृंगार की प्रधानता स्वाभाविक ही है।

स्मरण रहे रसों में शृंगार रस को ही प्रधानता दी जाती है और उसे ही रसराज भी कहा जाता है तथा भरतमुनि ने तो 'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते' नामक उक्ति द्वारा जो कुछ पवित्र और दर्शनीय है उसकी उपमा शृंगार से दी है। कहा जाता है कि शृंगाररस में ही समस्त अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी भाव पूर्ण रूप से आलोकित हो पाते हैं जब कि अन्य रसों में वे अस्फुट ही रहते हैं और शृंगार रस के स्थायी भाव रति (प्रेम) में जैसी व्यापकता, सुकुमारता, स्वाभाविकता, संग्राहकता, सृजनशक्ति और आत्मत्याग की भावना दृष्टिगोचर होती है वैसी अन्य रसों के स्थायी भावों में नहीं। वस्तुतः प्रकृति पुरुष की प्रणयलीला का प्रतिबिम्ब ही नर-नारी की प्रीति में झलक उठता है तथा जैसा कि पाश्चात्य मर्मीक्षक अर्नाल्ड ने—Poetical works belong to the domain of our permanent passions, let them interest these and the voice of all subordinate claims upon them is atonce silenced नामक उक्ति द्वारा काव्य का सम्बन्ध मनुष्य के स्थायी मनोविकारों से स्वीकार किया है अतः स्थायी मनोविकारों का

अन्वेषण करते समय हमारा ध्यान स्त्री-पुरुष की प्रीति-सृष्टिसृजन के आदि कारण की ओर स्वाभाविक ही जाएगा। स्कीलर का तो स्पष्ट मत है कि जीवन रूपी भवन प्रेम और क्षुधा पर ही आधारित है तथा यदि वे दोनों न हों तो फिर जीवन में कुछ भी अवशिष्ट नहीं बचता। इस प्रकार शृङ्गार रस को रसराज मान कर नर-नारी की प्रीति का वर्णन करना अनुचित नहीं है और न केवल हमारे भारतीय साहित्य में अपितु पाश्चात्य साहित्य में भी नर नारी के प्रेम वर्णन को प्रधानता दी गई है तथा बाइबिल में भी इस विषय को प्रधानता दी है। Books of Meses, Stories of Ammon and Tamars, Lot and his daughters, Potiphar's wife and Joseph आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासो में जो शृङ्गार रस को प्रधानता दी है वह कोई अनुचित कृत्य नहीं है क्योंकि उसने तो काव्य-परम्परा को ही अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है।

शृङ्गार रस के अन्तर्गत संयोग और वियोग नामक दो पक्षों का चित्रण किया जाता है तथा इस प्रकार न केवल संयोग की सुखद अवस्था का अपितु साथ ही वियोग की दुःखद अवस्था का भी वर्णन करने से उसका विस्तार बढ़ जाता है। यों तो शृङ्गार रस में दोनों पक्षों का ही चित्रण किया जाता है लेकिन कुछ विचारकों ने विप्रलंभ शृङ्गार को अधिक महत्त्व दिया है और सूरदास ने तो भ्रमर गीत में विरह की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए लिखा भी है—

> ऊधो ! बिरहौ प्रेमु करै।
> ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहे रसहिं परै॥
> जो आँवाँ घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि संयोग शृङ्गार का कुछ कम महत्त्व है। हो सकता है उसमें ब्रह्मानन्द तो न प्राप्त होता हो परन्तु उसकी सादृश्यता अवश्य आ जाती है और चूँकि उससे भी मनोनुकूल उच्चतम अनुभूति आ जाती है अतः रहस्यवादी तो उसको ईश्वरोन्मुख प्रेम के रहस्यवाद का उपमान मानकर शृङ्गारिक भाषा में ईश्वर-मिलन का ही चित्रण करता है। रवीन्द्र ने तो ईश्वर-मिलन में अलंकारों को भी बाधक माना है क्योंकि उनकी झंकार में प्रियतम का मन्द मधुर स्वर कर्णगोचर नहीं होता—

तोमार काछे राखे नि आर साजेर अलंकार।
अलंकार ते माझे पड़े मिलने ते आड़ाल करे,
तोमार कथा ढाके जे तार मुखर झंकार।

परन्तु बीसलदेव रासो में संयोग शृङ्गार का वर्णन जिन स्थलों पर किया गया है वहाँ अश्लीलता की चरम सीमा भी देख पड़ती है। यों तो एक पाश्चात्य विचारक ने यह लिखकर—"We must indeed, always protiest against the absurd Confusion where by nakedness of speech is regarded as equivalent to immorality and not the less, because it is often adopted in what are regarded as intellectual quarters" शृंगार के निरावरण वर्णन को निरा वासनामूलक मानना उचित नहीं समझा है परन्तु वास्तव में शृंगार रस का चित्रण करते समय इस प्रकार के अश्लील वर्णनों को सर्वदा ही कुरुचि-उत्पादक माना जाएगा। उदाहरणार्थ—

कनक काया जिसी कूँ कूँ रोल।
कठिन पयोहर हेम कचोल ॥
केलि गरभ जिसी कूँवली।
घायल जिऊँ घण पंचइ अंग।
कडि चालउ गोरी करइ।
उण की विरह वेदन नवि जाणइ कोइ
राँणी राज्या सउं मिली।
तिम एण संसार मिलिज्यो सहु कोइ ॥

—बीसलदेव रास, पृष्ठ १६७, छंद १२८

अर्थात् राजमती की कनक काया के अनुरूप ही कुमकुम की रोली थी और उसके उरोज स्वर्ण कटोरियों के सदृश्य थे तथा वह कदली गर्भ की भाँति कोमलांगी थी। क्रीड़ा करते समय राजमती घायल की भाँति कभी तो अपने अंगों को खींच-खींच लेती थी और कभी अपने कमर को हिला देती थी। नाल्ह ने इस संयोग का दीर्घ विरह के उपरान्त चित्रण कर उसे स्वाभाविकता प्रदान करने की चेष्टा की है और इस प्रकार यह भी लिखा है कि जिस प्रकार राजा रानी का संयोग हुआ उसी प्रकार इस संसार में सभी कोई मिलें।

इसी प्रकार एक स्थल पर नाल्ह ने बीसलदेव और राजमती के सम्मिलन के अवसर पर कहा है कि बारह वर्षों के पश्चात् उन दोनों का संयोग हुआ और राजमती के हृदय पर उसका हाथ है तथा बीसलदेव के गले में उसकी बाँह है। विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित राजमती का वह चुम्बन ले रहा है और उसने अत्यन्त अनुराग के साथ उसे बाहुपाश में आबद्ध कर रखा है। राजा के इस कृत्य पर राजमती उससे कहती है कि तुम्हारे इस कृत्य पर मैं अपनी सखियों में लज्जित हो रही हूँ क्योंकि तुमने मेरी कंचुकी पीक से भिगो दी है—

बरहाँ बरसाँ धण मिलियो नाह।
हियडलइ हाथ गला माँहें बाँह॥
अवली सवली चूंबणी।
अति रंग भी राजा लीयउ टीप।
सखी सहेली माहिं लाजसूँ।
म्हांकइ अहृत्व कंचूवउ भीनई छई पीक॥
—बीसलदेव रास, पृ० १६६, छं० १२३

लेकिन इतना होते हुए भी राजमती उसे प्रेमपूर्ण स्वरों में पुकारती है और हँसते हुए आलिंगन में आबद्ध हो जाती है—"मुलकइ हसइ अलिंगन देइ।" इस प्रकार नरपति नाल्ह ने संयोग शृंगार में वासना-मूलक और कुरुचि उत्पादक पंक्तियों का ही सृजन किया है। इतना ही नहीं रासो में वर्णित वियोग शृंगार भी परम्परागत ही प्रतीत होता है। बीसलदेव जब बनारस नदी के पार उतर जाता है तब वियोग में राजमती की यह दशा हो जाती है कि न तो उसकी नासिका में जीवन के कुछ लक्षण ही देख पड़ते हैं और न वक्षस्थल में साँस ही प्रतीत होती है। वह पलँग को तजकर पृथ्वी पर लेट जाती है और न अपना चीर ही सँभालती है न जल ही ग्रहण करती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों कि वह एक आहत हरिणी की भाँति पड़ी हुई हो। उसका गात्र सूखा हुआ है और तन विकल है—

पंडियउ बोलावि मइ आयउ गोरी पासि।
नासिका जीव म होयवलइ सांस॥
पलिंग छुटी धण भुइ पड़ी।
चीर न सँभालए न पीयए जी नीर।

आगे हियडइ हरिगो हणी।
वणि रइ गात्र उघाड़ा मइ विकळ सरीर॥

— बीसलदेव रास, पृ० १११, छं० ६३

राजमती की वियोगावस्था का चित्रण करते समय नरपति नाल्ह ने प्रकृति की भी सहायता ली है और बारहमासा के अन्तर्गत प्रत्येक मास में उद्दीप्त होनेवाली उसकी वियोग भावनाओं को भी अंकित किया है। बीसलदेव कार्तिक मास में प्रवास के लिए गया था और उसकी स्मृति में राजमती सखियों से कहती है कि मैं उसकी प्रतीक्षा में रो-रोकर अपने नेत्र गँवा रही हूँ, मुझे भूख प्यास भी नहीं लगती अतः नींद भी भला कहाँ से आ सकती है। मार्गशीर्ष में दिन छोटा होने लगता है और राजमती को अपने पति का कोई भी सन्देश प्राप्त नहीं होता मानों कि सन्देशों पर भी वज्रपात हो गया है। पौष में तो उसकी विकलता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा वह दुखदग्ध हो कर पंजर मात्र रह जाती है और अपनी सखियों से यही कहती है कि मुझ मरती हुई को कोई दोष न देना। न तो उसे छाँह और धूप की ही अनुभूति होती है और न वह अन्न-जल ही ग्रहण करती है। उसने स्नान करना भी छोड़ दिया है। माघ मास में तो यद्यपि पर्याप्त ठण्ड पड़ती है परन्तु विरह के कारण उसका सारा शरीर दग्ध हो रहा है। विरह में वह न केवल अपने दग्ध होने की अनुभूति करती है अपितु समस्त संसार को विदग्ध होता हुआ देखती है। उसकी कंचुकी के अन्दर भी उष्णता है। बिना पति के नारी की यही दशा होती है अतः वह कहती है कि हे स्वामी तुम ऊँट पर चढ़कर शीघ्रता से आओ क्योंकि मेरा यौवन छत्र उमड़ा हुआ है और इस यौवन की उमंग में तुम आकर मेरी इस कनक काया पर अपने शीतल हाथों से सुखद अनुभूति प्रदान करो—

माहमास हसीय पडइ ठंडार।
दाधा घइ बनडं कीधा हो छार॥
आप दहंती जग दहयउ।
म्हाकी चोलीय माहि थी दाधउ छइ गात्र।
धणीय विहूणी धण साकिजइ।
तूँ तउ उमहगउरे आविज्यो करइ पलाणि।

जोवन छात्र उमाहियउ ।
म्हाकी कनक काया माहे फेरबी आण ।

—बीसलदेव रास; पृ० ११६, छं० ७०

फाल्गुन में भी राजमती की ऐसी ही दुःखद अवस्था रहती है और ऋतु परिवर्तन होते हुए भी उसे सुखानुभूति नहीं होती । अब उसे अपने जीवित रहने की भी बहुत कम आशा रह गई है । चैत्रमास में तो स्त्रियाँ रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुसज्जित हो जाती हैं लेकिन बेचारी विरहिणी नारियाँ अपने प्रियतम के अभाव में भला कैसे जीवित रह सकती हैं । संयोगावस्था में जिस प्रकार नारी की कंचुकी भींग जाती है ठीक उसी प्रकार वियोगावस्था में राजमती की कंचुकी अश्रुओं से भींग रही है परन्तु उसे कोई भी सांत्वना नहीं देता । उसकी सहेलियाँ उससे होली खेलने के लिए चलने को कहती हैं लेकिन वह तो प्रवासी की प्रियतमा है अतः कैसे जा सकती है । इसी प्रकार वैशाख, ज्येष्ठ, अषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन में भी उसकी यही दशा रहती है तथा विरहावस्था में राजमती ऐसी प्रतीत होती है मानों कि वह स्वर्ण की एक ऐसी डिबिया हो जिस पर मोम की तह जमी हुई है । वह कभी तो मत्तगयंद के समान चौपाल पर जा खड़ी होती है और कभी तो चार खण्ड के राजभवन में दृष्टिगोचर होती है जहाँ कि न तो वायु की ध्वनि ही सुन पड़ती है और न सूर्य का उत्ताप ही पहुँच पाता है । उस समय राजमती को देखकर यह भास होता है मानों कि मयंक पर वारिद-खण्ड छा गए हों इस प्रकार एक ओर तो तिमिरमयी रजनी दृष्टिगोचर होती है तथा दूसरी ओर उभरा हुआ यौवन लिए वह प्रिय की प्रतिक्षा कर रही है—

हेम की कूँपली भइण की मूँद ।
साधण ऊभी रे मत्त गइंद ॥
चउवार की चउपंडी ।
तठइ वाइ न वाजए ना तपइ सूर ।
बादल छायउ चंद जेउँ ।
रात्र अंधरीय जोवन पूर ॥

—बीसलदेव रास, पृ० १२४; छं० ७९

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि बीसलदेव रासो में राजमती स्वकीया के रूप में ही अंकित की गई है तथा वह बारह वर्ष तक अपने

पति की प्रतीक्षा करती है, लेकिन परयुरुष चिन्तन नहीं करती। ... उसको बहकाना चाहती है परन्तु वह उसे मारकर भगा देती ... राजमती अपने पति के पास सन्देशा भिजवाते समय भी यही ... है कि हे पण्डित तुम प्रियतम से जाकर यही कहना कि राजमती ... दुर्बल हो गई है कि उसके बाएँ हाथ की मुद्रिका ढीली होकर ... दाहिनी बाँह में आने लगी है। वह पण्डित से यह भी कहती है ... इस प्रकार मेरा यह सन्देश प्रियतम से कहना कि वह ... न ... उससे यह भी कहना कि तुम्हारी पत्नी तुम्हारे विरह में ... जाती, उसकी कंचुकी कुहनी पर फट गई है और उसका ... दीवा पर फट चुका है। वह ऐसी प्रतीत होती है मानों कि दाव... जली हुई लकड़ी हो। उसने यही संदेश भेजा है कि हे मे... के भाई तुम शीघ्र ही आओ—

> पण्डिया तिमि कहिज्यो जिम धीय निरिसाइ।
> साषण तुरा बिण भख न थाइ।
> कुहाणी फाटउ रे कंचुयइ।
> मोपरि फाटउ तु घण केरउ चीर।
> जिम दव दाधी लाकडी।
> तूं तड उवहगउ रे आविज्यो नणद का वीर।
>
> —बीसलदेव रास, पृ० १२...

सौन्दर्य प्रेम का सहायक है अतः कवियों की वृत्ति ... विशेष रूप से रमी है और अपनी अनुभूति के क्षणों में कवि ... दर्शन करता है तथा अनुभूति की परिपक्वता में सौंदर्य का ... सहायक भी होता है। वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति के क्षण ... सामान्य व्यक्ति से नितान्त भिन्न हो जाता है और ... सौन्दर्य-दर्शन आँशिक न होकर परिपूर्ण होता है अत... सौन्दर्य ईश्वर की सृष्टि का ही चमत्कार नहीं है अपि... सर्वस्व भी है। R. W. Emerson (आर० डब्ल्यू० ... शब्दों में Beauty is the creator of the unive... सौन्दर्य इस विश्व का स्रष्टा है। स्मरण रहे कवि के ... में बाह्यजगत की अनेकरूपता के साथ-साथ अन्तर्जगत ... विविधता भी क्रीड़ा करती है और पाश्चात्य आलोचकों ... ... के अन्तर्गत ही महान् मंगल को सन्निवि...

तथा गेटे के शब्दों में The beautiful is higher than the good; the beautiful includes in it the good अर्थात् सौन्दर्य का स्थान मंगल से भी उच्चतम है। वस्तुतः कवि का सौन्दर्य-दर्शन प्रकृति के जड़ एवं चेतन दोनों पदार्थों में समान रूप से होता है तथा वह जड़ को भी चेतन बना लेता है और चेतन को सौन्दर्यमय। इस प्रकार चेतन में उसका सौन्दर्य-दर्शन जीवन की परिपूर्णता की ओर अग्रसर होता है और दाँते की बिएट्रिस, सूर की राधा तथा तुलसी की सीता में राशि-राशि सौन्दर्य जीवन की पूर्णता का ही प्रतीक है। इस तरह यदि हम विचार पूर्वक देखें तो प्रायः सभी भाषाओं के कवियों ने रूप-वर्णन अवश्य ही किया है अतः नरपति नाल्ह ने भी रूप चित्रण की इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने का स्वाभाविक प्रयास अपनी कृति में किया है। उदाहरणार्थ, बीसलदेव के पास सन्देशा ले जाते समय जब पण्डित उसका अभिज्ञान पूँछता है तब राजमती उसका रूप वर्णन करते हुए कहती है कि वह मेरे छोटे देवर की अनुहार का है। विभिन्नता केवल इतनी है कि यह श्वेत वर्ण का है और प्रियतम कृष्ण-वर्ण का। उसके मस्तक पर सुन्दर तिलक लगा रहता है जिसमें नित्य ही नवीन प्रातः काल की सी सुषमा है। उसका वक्ष चौड़ा है और कमर पतली है तथा उसमें भी ऊँची और चौड़ी तलवार म्यान में लटकी रहती है। राजमती कहती है कि मेरा प्रियतम लाखों में भी पहचाना जा सकता है।[1] इसी प्रकार दूसरे छन्द में पण्डित के पुनः यह पूँछने पर कि बीसलदेव किसकी अनुहारि के सदृश्य है राजमती यही कहती है कि उसकी दाढ़ी ऐसी प्रतीत होती है मानों कि भ्रमर मँडरा

---

१. कहि नइ गोरी थारा प्रीयरा कहि नाण।
थोडा थोडा म्हानय दे सहिनाण॥
किण उणहारइ सारिखउ।
लहुडा देवर कइ उणहारि।
एह गोरउ प्रीय सामलउ।
सीस तिलक नितु नवइ रे विहाण।
वरि चौडउ कडि पातलउ।
चंवर रे आडउ कडि जमदाढ़।
लाखां माहि निछाणिजइ।
पंडिया प्रीय छइ एह सहिनाण॥

—बीसलदेव रास, पृष्ठ ११७; छन्द ९५

रहे हों; वह मस्तक में केवड़े का तेल-फुलेल लगाता है, उसके दाहिने नेत्र के मध्य के कोये में भ्रमर जैसा काला तिल है, कटि में तरकस है जिसमें कृपाण है। राजा नौलखा घोड़े पर सवारी करता है; देखिए—

> वलि कहि गोरी मारा भीयता अहिनाण ।
> घोड़ा घोड़ा म्हांनइ रे सहिनाण ॥
> किण ऊणहारइ मारिवउ ।
> वालीय रायकइ भमर भमाइ ।
> मस्तक माहे केवडउ ॥
> माहिलउ कोइय जीमणी आंपि ।
> काळउ तिलइ भछइ भमर जिमउ ।
> कडि तरकस छइ जईड किरवाण ।
> तेजीय चढ़यउ राजा नवलखइ ।
> पंडिया मीय छइ पइ सहिनाण ॥
>
> —बीसलदेव रास; पृष्ठ १२८, छंद ९९

प्रसंगानुसार नरपति नाल्ह ने बीसलदेव की भाँति राजमती का भी रूप वर्णन किया है। विवाह के समय जब राजमती पीढ़े पर बैठती है तब वह पटोली (अस्तर) और सुंदर सी चूनरी पहने हुए है। उसके कानों में कुंडल जगमगा रहे हैं। सिर पर शीशफूल लगा हुआ है तथा ललाट पर तिलक है। उसकी इस सुहावनी छवि ने त्रिभुवन को भी मोहित कर लिया है तथा उसके रूप को देखकर बीसलदेव भी प्रसन्न हो रहा है—

> पाटि बइठी छइ राजकुमारि ।
> पहिरि पटोलीय चूनडी सार ॥
> कानइ कुंडल झिगमिगाइ ।
> सीससउं रापडी तिलक निलाडि ॥
> रूप देखि राजा हंस्यउ ।
> त्रिभुवन मोहियउ जाति पमारि ॥
>
> —बीसलदेव रास; पृ० ७१, छंद १२

इसी प्रकार बीसलदेव जब सिद्ध योगी को अजमेर भेजता है तब वह भी राजमती का रूपवर्णन करते हुए कहता है कि राजमती का कर कोमल कमल जैसा है, मूंगफली जैसी उसकी उँगलियाँ हैं; अधर प्रवाल

के रंग के समान हैं; मुख मयंक-सदृश है। वह बहुत बढ़ चढ़कर बोलती है और उसके दाँत दाड़िम सदृश तथा कमर चीते के समान है—

सांभलउ जोगी कहइ नरनाथ।
कोमल पदम पइ धण कउ हाथ॥
मूंगफली जिसी आंगुली।
एतउ अहर प्रवालीय वदन मयंक।
बोलती बोल धण आकरी।
दांत दाड़िम धण चीता कय लंकि॥

—बीसलदेव रास; पृ० १५३, छं० ११२

वस्तुतः सफल कवि बाह्य-सौन्दर्य के वर्णन तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं रखता अपितु सृष्टि के अन्तरतम में पैठकर सौन्दर्य के दिव्य रूप की भी झाँकी अङ्कित करता है अतः काव्य में नारी का सौन्दर्य वर्णन ही आवश्यक नहीं है अपितु कवि को प्रकृति सौन्दर्य का भी चित्रण करना चाहिए। चूँकि मानव अपने जीवन में सबसे अधिक सम्पर्क प्रकृति से ही स्थापित कर पाता है अतः विविध विचित्रताओं से परिपूर्ण रहस्यमयी प्रकृति का हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है और इस प्रकार जीवन का प्राकृतिक पदार्थों के साथ तादात्म्य होने से मानस में जो सुखानुभूति होती है उसकी प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही लिखा है—"प्रकृति कुछ काल के लिए सभ्यता के कृत्रिम बन्धनों से मुक्त कर, हृदय को शुद्ध भूमि पर ले जाती है और व्यावहारिक जीवन के स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से हटाकर शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है।" इस प्रकार कविता में प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण अत्यन्त आवश्यक है और चूँकि कवि स्वाभाविक ही मानवजीवन की अनेकरूपता से प्रभावित होकर बाह्यजगत की विविध परिस्थितियों को अपनी हृदगत् भावनाओं से अनुरंजित कर अङ्कित करता है अतः प्रत्येक कवि का प्रकृति के प्रति अपना निजी दृष्टिकोण रहता है जिसके फलस्वरूप कविता में भी स्वाभाविक ही प्रकृति-चित्रण के विविध रूपों की झाँकी दीख पड़ती है। काव्यकृतियों का अनुशीलन करने से स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है कि एक ही काल में एक ही वर्ग के कवियों की प्रकृति विषयक चेतना में विभिन्नता पाई जाती है और इस प्रकार

प्रकृति-चित्रण की विविध शैलियाँ भी प्रचलित हैं।[1] स्मरण रहे कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में जिन अधिकांश कृतियों का प्रणयन हुआ है उनमें प्रायः प्रकृति का आलम्बन रूपमें वर्णन नहीं हुआ है क्योंकि काव्य-शिशु को स्वतंत्रता के साथ प्रकृति-प्रांगण में क्रीड़ा करने का तनिक भी अवसर नहीं मिला था। वस्तुतः प्रकृति से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर अपने ज्ञानक्षेत्र को आश्रयदाताओं के प्रासादों में ही सीमित कर लेने के कारण काव्यकृतियों में स्वतंत्र प्रकृति चित्रण के लिए कोई स्थान ही न रहा। बीसलदेव रासो में भी नरपति नाल्ह ने प्रकृति से तटस्थ रहकर बीसलदेव और राजमती के विवाह-प्रसंग आदि घटनाओं का चित्रण किया है जिससे कि मानव भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में ही उसमें कहीं-कहीं प्रकृति निरीक्षण का परिचय प्राप्त हो पाता है।

राजमती की वियोगावस्था पर प्रकाश डालते समय हम लिख चुके हैं कि नरपति नाल्ह ने वियोगिनी राजमती की विरहावस्था का चित्रण करने में बारहमासा की सहायता ली है और इस प्रकार प्रकृति का उद्दीपन के रूप में समुचित उपयोग किया गया है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से नाल्ह का बारहमासा पूर्ण तथा सुन्दर है और कवि ने इसे सफलता के साथ चित्रित करते हुए प्रत्येक मास में प्रकृति की क्या दशा होती है तथा उसका राजमती पर क्या प्रभाव पड़ता है आदि बातों का सुन्दर वर्णन किया है। कहीं-कहीं कवि ने अलंकार रूप में भी प्रकृति चित्रण किया है परन्तु उसका यह वर्णन भी परम्परागत ही रहा है और हम देखते हैं कि राजमती के रूपवर्णन में रूढ़िग्रस्त उपमानों का ही प्रयोग हुआ है तथा कहीं भी कवि ने अपनी स्वतंत्र पर्यवेक्षणी शक्ति द्वारा नवीन उपमानों का नूतन ढंग से वर्णन नहीं किया। कहीं कहीं तो अत्युक्ति की भी हद हो गई है और कवि ने जब राजमती के मुख तथा चन्द्र में सादृश्यता दिखलाकर राजमती की सास को यह भयानुभूति कराई है कि कहीं चन्द्र के धोखे में राहु राजमती को ही न ग्रस ले तब हमें कवि की कल्पना शक्ति की प्रशंसा करने के स्थान में क्षोभ ही होता है।[2] अतएव हम कह सकते

1. देखिए लेखक की 'अनुभूति और अध्ययन' नामक कृति (पृ० १११-१५)।
2. सासू कहइ बहू घर माहे आवि।
   चंदउ भोलइ गिलेसी राहु॥

हैं कि डा० किरणकुमारी गुप्ता ने उचित ही लिखा है "इस प्रकार के प्रकृति के प्रयोग से प्रकट होता है कि नाल्ह का प्रकृति के प्रति अनुराग अथवा उत्साह नहीं था, कविता करने की धुन में जो उनके मुख से निकलता गया लिखते चले गये। सौन्दर्यानुभूति से प्रभावित होकर उन्होंने काव्य रचना नहीं की।"

यों तो बीसलदेव रासो में शृंगार रस की ही प्रधानता है परन्तु साथ ही रौद्र, शांत तथा हास्य रस के भी कतिपय उदाहरण मिलते हैं और साथ ही उसकी कथावस्तु गीति रूप में होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिए हुए हैं जिससे कि विविध घटनाओं की सृष्टि संभव हो सकी है तथा काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के हेतु मनोवैज्ञानिक ढंग से अनेक प्रसंगों की उद्भावना भी की गई है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा भी है "उसमें जीवन के स्वाभाविक विचार गृहस्थ जीवन के सरल विश्वास, जन्मांतरवाद, शकुन,संस्कार, बारहमासा आदि बड़ी सरलता के साथ चित्रित किए गए हैं। स्थानीय प्रथाओं और व्यवहारों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य में स्थानीय अनुरंजन (Local Colour) विशेष मात्रा में है।" बीसलदेव रासो का अध्ययन करने पर वर्माजी के कथन से पूर्णतः सहमत होना पड़ता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्कालीन सामाजिक विचार-धारा का परिचय इस कृति से प्राप्त भी होता है। यहाँ कुछ उदाहरण देना असंगत न होगा। उदाहरणार्थ, विवाह का चित्रण करते समय नाल्ह ने एक स्थल पर लिखा है कि 'लूण उतारइ अपछरा' अर्थात् अप्सराएँ लवण उतार रही हैं; जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय भी कुदृष्टि निवारण के हेतु राई नोन उतार जाता था। इसी प्रकार विवाह की रीति विशेष का चित्रण करते समय कवि ने तत्कालीन वेशभूषा का भी चित्रण किया है और दहेज प्रथा को भी स्वीकार किया है। राजमती अपने पूर्वजन्म की कथा बीसलदेव को सुनाती है जिससे यह ज्ञात होता है कि जन्मांतरवाद पर भी विश्वास किया जाता था। पूर्व देश

चंद पूछ्यइ बलि गयउ।
 दूध लिमि उपरइ अंबारि का फेरि॥
पवनहि डीवलउ नवि बलइ।
 नाइ उड़ीसइ भण अजमेरि॥
—बीसलदेव रास; पृष्ठ ११४; छंद ८०

के लोग उस समय कुलक्षणी समझे जाते थे। ये पान-फूल का भोग नहीं पाते थे तथा संचित करने पर विशेष दृष्टि रखते एवं अभक्ष्य खाते थे। इसी प्रकार यह भी धारणा थी कि चतुरता ग्वालियर में, रूपवती कामिनी जैसलमेर में और सुन्दर पुरुष अजमेर में होते हैं। बीसलदेव उड़ीसा जाने के पूर्व पंडित को बुलवाकर उससे यात्रा का मुहूर्त निकलवाना चाहता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी शकुन-अपशकुन पर विचार होता था। साथ ही उस समय यह भी धारणा थी कि प्रवास भी सभी नहीं करते बल्कि जिसके घर में स्त्री नहीं होती और नमक तक नहीं होता है; जिसकी स्त्री सर्वदा कलह करती है, या जो ऋण के बोझ से दबा हुआ है, या जो योगी हो गया है वही प्रवास करता है। उस समय भी यह परम्परागत विश्वास था कि सतीत्व की परीक्षा प्रज्वलित अग्नि, तप्त तैल या तप्त लोहे के द्वारा की जाती थी क्योंकि बीसलदेव राजमती से कहता है कि तूने अपने कठिन पयोधरों पर अग्नि धारण कर रखी है। पत्नी की वाचालता भी पति को प्रिय नहीं लगती थी क्योंकि बीसलदेव राजमती से कहता है कि जो अधिक बोलता है वह बाद में पछताता भी है। उस समय ज्योतिष पर पूर्ण विश्वास किया जाता था तथा ज्योतिषी को दक्षिणा देकर अनुकूल मुहूर्त निकलवाया जाता था और ज्योतिषी की सहायता लेकर अपना स्वार्थ-साधन या हित-साधन भी किया जाता था। साथ ही उस समय कूटनियाँ भले घरों की बहू-बेटियों को दुष्कर्म के पथ पर चलने के लिए प्रेरित करती थीं तथा बहुविवाह की प्रथा भी थी क्योंकि उड़ीसा नरेश की रानी बीसलदेव से कहती है कि तुम घर न जाओ मैं तुम्हारे चार विवाह करवा दूँगी। इस प्रकार स्थानीय प्रथाओं, रूढ़ियों और व्यावहारों का स्वाभाविक वर्णन बीसलदेव रासो में किया गया है।

किसी भी काव्य के लिए वस्तु (matter) और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार (manner) नामक दो वस्तुएँ अपेक्षित मानी जाती हैं। वस्तुतः वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को ही शैली कहा जाता है और इस प्रकार किसी भी कृति के भाव-पक्ष पर विचार करते समय कला-पक्ष पर भी विचार करना अत्यावश्यक समझा जाता है। वस्तु यदि कविता का प्राण मानी जाती है तो शैली निश्चय ही उसका कलित कलेवर है क्योंकि शैली की उत्कृष्टता के बल पर कविगण साधारण से साधारण भावों को भी चमत्कृत कर सकते हैं। स्मरण रहे कि

प्रायः अधिकांश विद्वानों ने बीसलदेव रासो को वीर गीत ही माना है परन्तु श्री मोतीलाल मेनारिया के शब्दों में "गीतकाव्य की भाषा में जो चलतापन, छंदों में जो गति, शब्दों में जो मर्मस्पर्शिता और विषय में जो लोकप्रियता होनी चाहिए वह इसमें नहीं है।" यह तो स्पष्ट ही है कि नाल्ह ने रासो की रचना गाने के उद्देश्य से ही की थी और उसने गीत शैली में बीसलदेव की कथा का वर्णन किया है। यों तो श्री गुलाबराय जी के शब्दों में गीतकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—"संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकांत पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित (Spontaneous) होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।" परन्तु गीतिकाव्य के नाम पर प्रचलित समस्त कृतियों में इन सभी विशेषताओं का दृष्टिगोचर होना आवश्यक नहीं है तथा जैसा कि डा० दशरथ ओझा ने लिखा है "जिस काव्य में एक तथ्य या एक भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी हो वह गीतिकाव्य है।" इस प्रकार हम तो बीसलदेव रासो को गीतिकाव्य के अंतर्गत ही स्थान देते हैं और चूँकि हिंदी साहित्य के आदिकाल में उसका सृजन हुआ था अतः यह आवश्यक नहीं है कि उसमें गीतिकाव्य की सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर हों। मेनारियाजी का यह तर्क कि "राजस्थान में यह कभी गाया नहीं गया, न आज गाया जाता है" उसे गीतिकाव्य कहलाने में बाधा नहीं देता।

स्मरण रहे श्री करुणापति त्रिपाठी ने अपनी 'शैली' नामक पुस्तक में मिंटों के मतानुसार शैली में "सरलता (सिम्पलीसिटी), स्वच्छता (क्लीयरनेस), प्रभावोत्पादकता (स्ट्रेंग्थ), मर्मस्पर्शिता (पैथोस), प्रसंगसम्बद्धता (हार्मनी) और स्वरलालित्य (मैलोडी)" नामक गुण आवश्यक माने हैं; परन्तु श्री गुलाबराय की दृष्टि में शैली के गुणों के रागात्मक, बौद्धिक, कल्पना-सम्बन्धी और भाषा-सम्बन्धी नामक चार विभाग करने चाहिए। इन चार विभागों में प्रारम्भिक तीन को आन्तरिक और चतुर्थ को बाह्य कहा जा सकता है लेकिन वस्तुतः इन दोनों का साम्य ही साहित्य शब्द की सार्थकता सिद्ध करता है। इस

प्रकार बीसलदेव रासो के कला-पक्ष पर प्रकाश डालते समय उसकी भाषा पर भी विचार करना परमावश्यक है।

यह तो हम लिख ही चुके हैं कि बीसलदेव रासो की प्रामाणिकता पर विचार करते समय श्री अगरचंद नाहटा उसकी भाषा सोलहवीं शताब्दी की राजस्थानी मानते हैं और श्री मोतीलाल मेनरिया ने भी यही समय उसकी भाषा का निर्धारित किया है। मेनरिया जी ने श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई की जैन गूर्जर कविओं नामक कृति में उल्लिखित नरपति नामक गुजराती कवि और बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को एक ही माना है क्योंकि उनका मत है कि दोनों की भाषाशैली तथा शब्दयोजना में सादृश्यता है। मेनरिया जी ने गुजराती कवि नरपति के पंचदण्ड (संवत १५६०) की कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर बीसलदेव रासो की भाषाशैली से उनकी तुलना भी की है। एक उदाहरण देखिए—

मूसा वाहन धीनउ, जेहनि मोदक आहार।
एक दंत दालिद्र हरइ, समरयाँ तूँ दातार ॥

—पंचदंड

एकदंतउ मुखि झलहइल।
मूंसाकउ वाहण तिलक सिंदूर।
कर जोड़ी नरपति भगइ।

—बीसलदेव रास

परन्तु स्मरण रहे 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के प्रकाशन के पूर्व ही श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित अपने निबंध 'बीसलदेव रासो का निर्माण काल में प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित अपभ्रंश के व्याकरण में उद्धृत दोहों तथा मेरुतुंगाचार्य कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के दोहों से बीसलदेव रासो की भाषा का मिलान कर सिद्ध कर दिया था कि चाहे मूल रासो में बहुत कुछ हेर फेर पीछे से हुआ भी हो लेकिन उसमें प्राचीनता के चिह्न विद्यमान हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वि० सं० १२००-१३०० के लगभग ही रचा गया होगा। इस प्रकार हम नाहटा जी तथा मेनारिया जी की भाँति बीसलदेव रासो की भाषा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की नहीं मानते अपितु उसे हिंदी भाषा का प्राचीनतम उदाहरण ही समझते हैं। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी विचार है कि

"भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे, सूकइ ही (= सूखता है), पाटण थीं (= पाटण से), भोज तणा (= भोज का), खण्ड खण्डरा (= खण्ड खण्ड का) इत्यादि।" लेकिन बीसलदेव रासो की प्राचीनता स्वयं शुक्ल जी भी स्वीकार करते हैं और उन्होंने लिखा भी है—"पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिए - मेलवि = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त में। रणि = रण में। प्रामिजइ = प्राप्त हो या किया जाय। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। वाल हो = वाला का। इसी प्रकार 'नयर' (नगर), पसाउ (प्रसाद), पयोहर (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश काल से लेकर पीछे तक होता रहा।" यों तो महल, इनाम, नेजा, ताजनो, खुरासान आदि कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्द भी बीसलदेव रासो में दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन इससे उसकी भाषा की प्राचीनता पर संदेह करना व्यर्थ ही है क्योंकि नरपति नाल्ह के पूर्व ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो चुका था अतः हो सकता है मुसलमानों के संसर्गवश ही इन शब्दों का प्रयोग हुआ हो। बीसलदेव रासो की भाषा के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि वस्तुतः उसकी भाषा बोलचाल की भाषा कही जायगी या तत्कालीन साहित्यिक भाषा या फिर दोनों ही नहीं। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिये कि प्राचीन जैन कवियों तथा लेखकों ने अर्द्धमागधी, प्राकृत तथा अपभ्रंश का ही प्रयोग अपनी कृतियों में किया है जब कि चारण तथा अन्य कवियों ने प्रचलित भाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इस प्रकार नरपति नाल्ह ने अपनी मातृभाषा राजस्थानी में ही बीसलदेव की रचना की है और उस समय "अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह डिंगल कहलाता था" अतः डिंगल की ही छाप उसमें सम्पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। स्मरण रहे कि राजस्थान के कवियों ने अपनी कृतियाँ डिंगल और पिंगल नामक दो प्रकार की भाषाओं में लिखी हैं तथा चन्द बरदाई, दुरसाजी, पृथ्वीराज आदि डिंगल के कवि और मीरा, वृन्द, बिहारी आदि पिंगल के कवि माने जाते हैं। वस्तुतः डिंगल राजस्थान की बोलचाल की भाषा राजस्थानी का साहित्यिक रूप ही है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह पिंगल

की अपेक्षा अधिक प्राचीन, सम्पन्न तथा ओज गुणयुक्त है। भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि में प्राचीन आर्य जब पंजाब में आकर बसे थे उस समय वे जिस भाषा का व्यवहार करते थे उसी से वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति हुई जिसका कि नाम कालान्तर में संस्कृत पड़ा परन्तु चूँकि बोलचाल की भाषा भी उसी प्रकार बनी रही अतः उसे प्राकृत कहा जाने लगा और इस प्राकृत के कालानुसार पहली प्राकृत तथा दूसरी प्राकृत नामक दो भाग हुए जिनमें से पहली तो 'पाली' के नाम से तथा दूसरी 'प्राकृत' के नाम से प्रसिद्ध हुई। देश-भेद के कारण आगे चलकर प्राकृत के कई और भेद हुए जिनमें से शौरसेनी, मागधी तथा अर्धमागधी, महाराष्ट्री नामक चार प्रमुख भेद माने गये परन्तु शनैः-शनैः प्राकृत का साहित्यिक संस्कार करने तथा उसे व्याकरण के दुरूह नियमों से आबद्ध कर देने के कारण उसका प्रचार-क्षेत्र विज्ञजनों तक ही सीमित रहा लेकिन सर्वसाधारण की भाषा का प्रवाह तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और अन्ततोगत्वा प्राकृत भी उसी अवस्था पर पहुँची जो कि वर्तमान समय में अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है। भाषा-वैज्ञानिकों का विचार है कि विक्रम की छठवीं या सातवीं शताब्दी के लगभग ही अपभ्रंश ने प्राकृत को लोक भाषा के पद से च्युत किया होगा और तब से लेकर दसवीं शताब्दी के अंत तक न केवल राजस्थान में अपितु उत्तरी भारत, मगध, सौराष्ट्र तक इसका प्रचार होता रहा लेकिन कालांतर में पाली और प्राकृत की भाँति इसकी भी वही गति हुई तथा साहित्य में व्यवहृत और जनसाधारण में विकसित होनेवाले दो रूप इसके भी हुए। आगे चल कर दूसरे रूप के भी कई भेद-उपभेद हुए जिनमें नागर, उपनागर और ब्राचड़ तीन प्रमुख भेद थे। स्मरण रहे इनमें भी नागर अपभ्रंश को मुख्य माना जाता था जिसका कि आधार जैन विद्वान् हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' में शौरसेनी प्राकृत को माना है और कहा जाता है कि इसी नागर अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का जन्म हुआ है जिसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल था। राजस्थानी भाषा का नाम डिंगल कब, क्यों और कैसे पड़ा इस विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं अतः यहाँ संक्षेप में कुछ विद्वानों के विचारों को प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा।

डाक्टर एल० पी० टैसीटरी का मत है कि "डिंगल शब्द का वास्तविक अर्थ अनियमित अथवा गँवारू है। ब्रजभाषा अर्थात् पिंगल

परिमार्जित थी और साहित्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी लेकिन डिंगल इस दिशा में स्वच्छन्द थी अतः इसका यह नाम पड़ा।" परन्तु टैसीटरी महोदय का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि डिंगल भी शिक्षित चारणों की भाषा थी तथा पिंगल की भाँति उसमें भी छन्द, रस, अलंकार, ध्वनि आदि को रखा जाता था तथा व्याकरण के नियमों का भी पालन किया जाता था और साथ ही वह राजभाषा भी थी अतः उसे गँवारू और अनियमित कहना उपयुक्त नहीं है। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से मानी है और उनकी दृष्टि में पहले इस भाषा का नाम डगल था लेकिन कालांतर में पिंगल के साथ तुक मिलाने के हेतु उसे 'डिंगल' कहा जाने लगा। अपने कथन का समर्थन करने के हेतु उन्होंने कविराजा मुरारीदान से प्राप्त चौदहवीं शताब्दी के एक प्राचीन पद का निम्नांकित अंश भी उद्धृत किया है—

दीसैं जंगळ डगळ जेथ जळ बगळ चाटै।
अनहुँता गळ दियै गळा हुँतागल काटै॥

परन्तु इस पद का अर्थ शास्त्रीजी ने कहीं नहीं किया और चूँकि इन पंक्तियों में कहीं भी भाषा की चर्चा नहीं की गई अतः इसके आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि "इससे स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरुदेश की भाषा डिंगल कहलाती थी।" साथ ही इस पद को ही चौदहवीं शताब्दी की कृति मानने के लिए प्रमाण अनुपलब्ध हैं और चूँकि राजस्थानी में 'डगल' मिट्टी के ढेले अथवा अनगढ़ पत्थर को कहते हैं अतः कोई भी चारण अपने उदरपूर्ति का साधन होने वाली भाषा को 'डगल' कहकर स्वयं को ही अपमानित करने की अनुदारता कभी भी न करेगा। श्री गजराज ओझा की राय है कि चूँकि 'ड' वर्ण डिंगल में अत्यधिक प्रयुक्त होता है, यहाँ तक कि उसे डिंगल की एक विशेषता ही कहा जा सकता है अतः 'ड' वर्ण की इस बहुलता को ध्यान में रखकर पिंगल के साम्य पर उसे डिंगल कहा जाने लगा और जिस प्रकार पिंगल लकार प्रधान भाषा है उसी प्रकार डिंगल डकार प्रधान भाषा है। परन्तु चूँकि डिंगल की सभी कविताओं में 'ड' वर्ण की प्रचुरता नहीं है अतः श्री गजराज ओझा का तर्क केवल क्लिष्ट कल्पना और हेत्वाभास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। श्री पुरुषोत्तमदास स्वामी डिंगल शब्द को डिम+गल से निर्मित मानते हैं और डिम

का अर्थ डमरू की ध्वनि तथा गल में गले का अभिप्राय ग्रहण कर ये डिंगल या डिमगल का लाक्षणिक अर्थ डमरू की ध्वनि की भाँति उन्मादवर्द्धिनी कविता मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है लेकिन न तो महादेव वीर रस के देवता ही हैं और न डमरू की ध्वनि ही उन्मादवर्द्धक मानी गई है अतः श्री पुरुषोत्तमदास स्वामी का मत भी निराधार ही है। कुछ विद्वानों ने 'डिंगल' शब्द की व्युत्पत्ति 'डिम्+गल' मानी है और चूँकि डिम् का अर्थ है बालक तथा गल का अर्थ होता है गला अतः ये डिंगल को बालक की भाषा मानते हैं और उनकी दृष्टि में जिस प्रकार प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी उसी प्रकार राजस्थान की इस काव्य भाषा को डिंगल कहा जाता है। इसी प्रकार मुंशी देवीप्रसादजी का कथन है कि "मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डींगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पाँगला' पंग या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मंद स्वरों में पढ़ी जाती हैं। इसीलिये डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।" परन्तु यह मत भी निराधार ही है क्योंकि ब्रजभाषा की कविता भी जोर-जोर से पढ़ी जा सकती है। कुछ विद्वानों ने डिंगल की उत्पत्ति डिम्गी और गल से मानी है तथा पं० रामकृष्ण आसोपा ने डिंगल शब्द की कल्पना पिंगल शब्द की समकक्षता में की है और स्वर्गीय ठाकुर किशोरसिंहजी बारहठ डिंगल शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'डीङ्' धातु से मानते हैं। डा० श्यामसुन्दरदासजी का विचार है कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी और उससे विभिन्नता रखने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ नाम डिंगल पड़ा तथा पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की दृष्टि में डिंगल शब्द पिंगल के साम्य पर बना अवश्य है परन्तु उसका कोई विशेष अर्थ नहीं है। श्री मोतीलाल मेनारिया का मत है कि प्रारंभ में डिंगल चारण भाटों की भाषा थी और वे अपने आश्रयदाताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते थे जिसे कि एक प्रकार से डींग हाँकना ही कहा जा सकता है अतः जो भाषा डींग हाँकने के काम में लाई जाती थी उसका नामकरण डींगल अर्थात् डींग से युक्त किया गया। कहा जाता है कि राज-

स्थान के वृद्ध चारण तथा भाट आज भी 'डिंगल' शब्द का प्रयोग न कर 'डींगल' ही कहते हैं लेकिन डा० उदयनारायण तिवारी श्री मोतीलाल मेनरिया के मत से सहमत नहीं हैं। कहते हैं प्रारम्भ में साधारण राजस्थानी और डिंगल में कोई विशेष अंतर न था लेकिन शनैः शनैः डिंगल में स्थिरता आती गई और वह फिर सर्वसाधारण के लिए शनैः शनैः न्यूनातिन्यून बोधगम्य होती गई जिससे उसका समझना भी कठिन हो गया; कदाचित इसीलिए पिंगल रचनाएँ अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सकीं। साथ ही डिंगल साहित्य के कई ग्रंथ मौखिक ही रहने के कारण भाषा के वास्तविक स्वरूप से वे रहित हो गए और समय-परिवर्तन के साथ उनके रूपों में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन भी हुए हैं जिसके फलस्वरूप उनमें भाषा का मिश्रित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और एक ओर तो उनमें संस्कृत के तत्सम शब्द दृष्टिगोचर होते हैं तो दूसरी ओर मुसलमानी संसर्ग के फलस्वरूप अरबी फारसी के शब्द भी देख पड़ते हैं। बीसलदेव रासो की भाषा पर विचार करते समय हमें इस तथ्य पर भी ध्यान रखना होगा।

'बीसलदेव रासो' के निर्माणकाल पर विचार करते समय हमने पृथ्वीराज रासो की अपेक्षा बीसलदेव रासो को पूर्ववर्ती ग्रन्थ माना है और यदि हम दोनों रासो ग्रन्थों की भाषा की तुलना करें तो स्पष्ट हो जाता है कि बीसलदेव रासो की भाषा अपेक्षाकृत प्राचीन है तथा वह कृत्रिम डिंगल नहीं है अपितु उसमें प्राचीनता के भी चिन्ह विद्यमान हैं। व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि इसमें प्रयुक्त कुछ कारक चिन्हों का रूप नवीन हो गया है लेकिन जिस समय यह रचा गया होगा उस समय कारकों के वियोगात्मक तथा संयोगात्मक दोनों ही रूप थे और शनैः शनैः वियोगात्मक रूप विकसित होता जा रहा था तथा संयोगात्मक रूप लुप्त अतः हमें स्वभाविक ही ये दोनों रूप बीसलदेव रासो में दृष्टिगोचर होते हैं। कारको की संयोगात्मक अवस्था में विभक्तियों का संयोग किया जाता है और इस प्रकार के उदाहरणों की उक्त रासो ग्रन्थ में कमी नहीं है; उदाहरणार्थ :—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा		भ्रमरां, फूलाँ, दिहाँ, कवित्ताऊँ

द्वितीया

एकाँ, कुवँरहइ

तृतीया

एकइँ

चतुर्थी

मोहि

पंचमी

देवहइ

षष्ठी

वनह, पाटणह, घरइ उलिगणाँ, दीहाँ

सप्तमी

अजमेराँ, उलगइं, सिरह

देसाँ

कारकों की वियोगात्मक अवस्था में कारक चिह्न प्रयुक्त किए जाते हैं। स्मरण रहे खड़ी बोली के कारक चिह्न वियोगावस्था में ही हैं और जिस प्रकार उसमें ने, को, से, की, के, में आदि विभक्तियों को मूल शब्द से संयुक्त कर विचित्र कारक बनते हैं उसी प्रकार के प्रयोग बीसलदेव रासो में भी मिलते हैं केवल अन्तर इतना ही है कि उनमें कारकों की कुछ विभक्तियों के प्राचीन रूप ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ; 'ने' के स्थान पर 'नी' 'नइ'; 'में' की जगह 'महँ' माहि, मँझारि आदि; 'का', 'की', 'के' की जगह 'तणा', 'तणी', 'तणो', 'कई', 'कै' आदि और 'से' के स्थान पर 'सु', 'सों', 'सू' तथा 'ते' इत्यादि। बीसलदेव रासो में क्रियाओं के वर्तमान काल के भी दो रूप देख पड़ते हैं। प्रथम तो आधुनिक हिंदी की भाँति 'है' का रूपान्तर हूँ, छई, छै या हई के संयोग से जैसे प्रथम पुरुष में तिजूँ हूँ, लाँगू हाँ तथा अन्य पुरुष में बसइ छइ, कहइ छइ, करकइ छइ इत्यादि। द्वितीय रूप पूर्वी हिन्दी की ही भाँति मूलक्रिया में परिवर्तन प्रत्यय जोड़कर बना हुआ मिलता है; उदाहरणार्थ, प्रथम पुरुष में जोहाऊँ, बोल्हूँ, मध्यम पुरुष में निगमीस तथा अन्य पुरुष में कहइ, गाई, वेसीयइ, वाजइ आदि। इसी प्रकार क्रियाओं के भूतकाल तथा भविष्य काल में भी परिवर्तन दीख पड़ते हैं। साथ ही आधुनिक हिन्दी की भाँति बीसलदेव रासो की क्रियाओं में लिंगभेद भी दृष्टिगोचर होता है और जिस प्रकार राजस्थानी भाषा में उच्चारण के अनु-

सार 'न' के स्थान पर 'ण' ही प्रयुक्त हुआ है—जैसे गिणइ, मसाण, हंसवाहिणी, जिण, आणि, गायण, रसायण आदि। साथ ही उसमें अपभ्रंश की भाँति संज्ञा शब्द के अन्त में 'ड़', 'ड़ी' 'ड़' का प्रयोग भी राजस्थानी भाषा की भाँति ही हुआ है और दिहाड़उ, हियड़उ, गोरड़ी, मोचड़ी जैसे शब्दों की प्रचुरता सी है। संज्ञा शब्दों के विषय में इतना कहना आवश्यक है कि कुछ तो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से आई हैं; कुछ देशज हैं लेकिन इनमें से अधिकांश का रूप प्राचीन ही है तथा हंस, नन्दन, त्रिभुवन, गुण आदि तत्सम शब्दों का भी अभाव नहीं है। इस प्रकार बीसलदेव रासो की भाषा को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की भाषा मानना युक्तिसंगत नहीं है।

यों तो आचार्य वामन की दृष्टि में उत्तम भाषा के माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, सुकुमारता, समाधि, कांति, उदारता तथा अर्थ-व्यक्ति नामक दस गुण हैं और रीतिकालीन कवि श्रीपति ने भी दस शब्द गुण तथा आठ अर्थ गुण माने हैं और भोज ने तो 'सरस्वती कंठाभरण' में गुणों की संख्या चौबीस मानी है परन्तु जैसा कि 'साहित्य दर्पण' में विश्वनाथ ने "गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति त्रिधा" लिखकर माधुर्य, ओज और प्रसाद को ही उत्तम भाषा के तीन प्रधान गुण कहा है हमारी दृष्टि में इन्हीं तीन गुणों को प्रमुखता दी जानी चाहिए। चूँकि बीसलदेव रासो एक शृंगारिक काव्य ही है अतः उसमें ओज गुण का निरा अभाव ही है और प्रसंगानुसार माधुर्य तथा प्रसाद गुण ही दीख पड़ते हैं। साथ ही भाषा में लालित्य तथा मधुरता भी है परन्तु वह प्रवाहमयी नहीं कही जा सकती। इतना अवश्य है कि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही हुआ है और कवि ने कहीं भी अलंकार प्रदर्शन की चेष्टा में भावों को विकृत नहीं किया। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अत्युक्ति और विभावना के सरस उदाहरण भी देख पड़ते हैं। सम्भवतः नरपति नाल्ह को उत्प्रेक्षा अलंकार अधिक प्रिय था क्योंकि उसने उसका अत्यधिक प्रयोग किया है और 'जाणे रुपमणि सरिसउँ बइठउछइ कान्ह' अर्थात् राजमती और बीसलदेव ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानों कि वे दोनों रुकिमणी और कृष्ण हैं तथा "जाणि करि तोरणि उगियो सूर" अर्थात् बीसलदेव ऐसा प्रतीत होता था मानों कि तोरण में सूर्य उदित हुआ हो जैसी उत्प्रेक्षाएँ स्वाभाविक ही प्रतीत होती

हैं। नाल्ह की भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है तथा कवि ने लोकप्रचलित मुहावरे ही ग्रहण किए हैं। इस प्रकार उनकी भाषा में मृदुलता, मनोहरता एवम् मधुरता की ही अधिकता है और हमें बीसलदेव रासो के कलापक्ष की भी सराहना करनी चाहिए।

यद्यपि कुछ समीक्षकों की राय है कि समालोचना में केवल गुणों पर दृष्टि रखनी चाहिए और To err is human अर्थात् 'भूल करना ही मानव स्वभाव है' नामक उक्ति के अनुसार कतिपय दोषों की उपेक्षा करना अनुचित नहीं है परन्तु 'संत हंस गुन पय गहहिं परिहरि बारि विकार' के सिद्धान्त को उच्चकोटि का मानते हुए भी सच्ची समालोचना तो यही है जिसमें समीक्षक काव्य के सद्गुणों की भी प्रशंसा करे तथा निष्पक्ष भाव से प्रसंगानुसार दोषों का भी उल्लेख करे। श्रेष्ठतम कवि तो वही कहा जाता है जिसमें काव्यगत निर्बलताओं की संख्या न्यूनाविन्यून हो तथा गुणों की ही बहुलता हो। यों तो त्रुटियों से पूर्णतः रहित कदाचित ही कोई वस्तु हो अन्यथा कुछ न कुछ खटकनेवाली बातें प्रायः सभी में अवश्य देख पड़ती हैं अतः बीसलदेव रासो को भी सर्वथा दोषरहित नहीं कहा जा सकता और स्वाभाविक ही कुछ न कुछ त्रुटियाँ उसमें दृष्टिगोचर होती हैं। स्मरण रहे प्राचीन भारतीय आचार्यों ने क्लिष्टत्व, अप्रतीत्व, अप्रयुक्त, अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व, अधिक पदत्व, विपरीत रचना, श्रुति कटुत्व, च्युति संस्कृति, पुनरुक्ति, दूरान्वय तथा प्रतन्प्रकर्ष नामक तेरह प्रकार के दोष माने हैं जो कि शब्द, अर्थ और पद तीनों से ही सम्बंधित हैं तथा गद्य और पद्य दोनों में ही दृष्टिगोचर होते हैं और किसी भी काव्य कृति में यथासंभव इनका परिहार किया ही जाना चाहिए।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि संयोग शृंगार के चित्रण में नरपति नाल्ह ने अश्लील तथा कुरुचिउत्पादक छंद लिखे हैं अतः बीसलदेव रासो अश्लीलत्व से सर्वथा मुक्त नहीं है तथा उसमें न्यूनपदत्व अर्थात् भाषा की सुपुष्टता नष्ट करने वाले न्यून पदों का प्रयोग और विपरीत रचना दोष अर्थात् रसानुकूल शब्दों के प्रयोग का अभाव नामक दो अन्य दोषों के भी उदाहरण मिलते हैं यद्यपि उनकी संख्या न्यून ही है। साथ ही अप्रयुक्त तथा पुनरुक्ति दोष के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं परन्तु बीसलदेव रासो में सर्वाधिक खटकनेवाली बात यह है कि राजमती

पत्नी होते हुए भी प्रवास में जाते समय पति को उपदेश देती है जो कि अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। राजमती बीसलदेव को राजनीति की बातें बताती है और हमारी दृष्टि में राजमती द्वारा बीसलदेव को जो शिक्षा दिलवाने का प्रयास किया गया है वह स्पष्ट रूप से दोष ही है।[१] इसी प्रकार राजमती अपनी सहेलियों से कहती है कि मैंने अपना अंचल हटाकर उसे (बीसलदेव को) अपना शरीर तक दिखाया और कई प्रकार के त्रिया-चरित्र भी किए परन्तु वह नहीं माना और उड़ीसा जा रहा है। इतना ही नहीं वह अपने पति को भैंस का पाँड़ा तक कहती है जो अनुचित प्रतीत होता है—

सात सहेलीय सुणउ म्हारीय बात।
अंचल पोल्हि दिखाडिया गात्र॥
जा दीठा मुनिवर चलइ।
म्हाकउ मूरष राव न जाणए सार॥
त्रिया चरित्र मइ छप किया।
राउ नहीं रूपी भइंस पाँडार॥

—बीसलदेव रास, पृ० १००; छं. ५२

किन्तु इन कतिपय त्रुटियों के रहने से 'बीसलदेव रासो' की साहित्यिक उपयोगिता पर तनिक भी आँच नहीं आती क्योंकि मूलतः किसी भी ग्रंथ की साहित्यिक उपयोगिता केवल इसी बात से नहीं आँकी जा सकती कि उस कृति का साहित्य-सौष्ठव उच्चकोटि का है या नहीं और न उस कृति का ऐतिहासिक मूल्य ही इस दृष्टि से कम हो पाता है कि किसी इतिहासकार ने उसका निर्माण नहीं किया है।

---

१. वह छंद इस प्रकार है—

स्वामी वलय जाण की खरीय दुसार।
राजा नी नीति जिसउ पंडा नी धार॥
मूरष लोक जाणई नहीं।
चोर जुवारी नरे कल्लाल।
तिण सुं हसीय बोलिज्यो
राजाजी पूछइ मरम कर बात
झूँठी साँची थे मत कहउ
मुहरा आडउ दे दीज्यो हाथ

—बीसलदेव रास, पृ० १०८, छं० ६१

स्मरण रहे बीसलदेव रासो कोई इतिहास-ग्रन्थ नहीं है अतः उसे केवल ऐतिहासिक कसौटी में कसना अन्याय ही है और फिर उसकी ऐतिहासिकता पर भी हम प्रकाश डाल चुके हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उसमें ऐतिहासिक तत्त्व विद्यमान हैं। साथ ही उसका साहित्यिक मूल्य भी कुछ कम नहीं है और उसमें काव्यगत विशिष्टताओं का भी अभाव नहीं है तथा रसव्यंजना, भावानुभूति, हृदयस्पर्शिता आदि गुण भी उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि बीसलदेव रासो में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की भाषा की झलक दृष्टिगोचर होती है अतः इस दृष्टि से तो उसकी साहित्यिक उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ जाती है और हिन्दी साहित्य के अनुसंधान कर्त्ताओं के हेतु बीसलदेव रासो भी अध्ययन का महत्वपूर्ण ग्रन्थ बन जाता है। स्मरण रहे स्वयं श्री मोतीलाल मेनरिया ने भी अंत में उसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए यही लिखा है—"हिंदी भाषा के आदि स्वरूप और उसकी अविकसित अवस्था का बहुत कुछ आभास हमें इस ग्रन्थ द्वारा मिलता है; और इसीलिए नाल्ह का नाम हिंदी साहित्य में अमर रहेगा।"

विद्यापति-पदावली पर
एक विहंगम दृष्टि

बंगभाषा और साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान श्री त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य ने एक स्थल पर कहा है "विद्यापति और चण्डीदास की अतुलनीय प्रतिभा से समस्त बंगसाहित्य उज्ज्वल और सजीव हुआ है। वैष्णव गोविन्ददास से लेकर हिन्दू बंकिमचन्द्र और ब्राह्म रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक सभी उन लोगों की आभा से आलोकित हैं और उन लोगों का अनुकरण करके काव्य-सृजन में व्यस्त रहते हैं।" कहा जाता है स्वयं बंगाली कवि चण्डीदास विद्यापति की काव्य-माधुरी पर मुग्ध थे और उन्होंने कविता सम्बन्धी विषयों पर वार्तालाप करने के लिए विद्यापति से साक्षात्कार भी किया था।[1] इतना ही नहीं विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कहा है—"Vidyapati is a poet whom I had loved since my childhood's days. Though strictly a Maithili poet, Vidyapati has long been loved in Bengal as one of our own. His poems and songs were one of the earliest delights that stirred my youthful imagination and I even, had the privilege of setting one of them to music," साथ ही विचारकों का यह भी मत है कि विद्यापति की लोकप्रियता चैतन्यमहाप्रभु के कारण ही बढ़ी है क्योंकि अपने मिथिलाप्रवास में विद्यापति के कुछ सुन्दर पद सुनते ही वे मंत्रमुग्ध से हो गए और फिर वे स्वयं ही उनके पदों को गाने लगे। कहते हैं इस प्रकार उनकी शिष्यपरम्परा में विद्यापति के पदों को गाए जाने की प्रथा दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली गई और जैसा कि डा० जनार्दन मिश्र ने लिखा है "विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव-सम्प्रदाय के ये सबसे बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से

---

१. History of Bengali Language and Literature–
Dr. D. C. Sen (Page 136)

पूर्ण पदों को गाकर वे इस प्रकार तन्मय हो जाते थे कि इन्हें मूर्छा भी आ जाती थी। इनके द्वारा विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इसीलिए बंगाल में विद्यापति का आश्चर्यजनक प्रचार हुआ।"[१] स्मरण रहे सैकड़ों वर्षों तक विद्यापति के पदों का बंगालियों द्वारा प्रचार होने के फलस्वरूप स्वयं विद्यापति ही बंगाल के कवि माने जाने लगे तथा बंगाली विद्वान यह विस्मृत कर कि "विद्यापति बंगाली नहीं मैथिल हैं" उन्हें अपनी भाषा का ही कवि मानते रहे और सर्वदा उनकी ही प्रशंसा की जाती रही तथा जैसा कि श्री नरेन्द्रनाथदास विद्यालंकार ने लिखा है "विद्यापति की शृंगारी कविताएँ आज भी बंगाल के समाज में श्रीमद्भागवत एवं गीतगोविन्द की भाँति आदरणीय हैं।"[२] परन्तु जब सर्वप्रथम श्री राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने संवत् १९८८ में 'बंगदर्शन' नामक पत्र में यह प्रकाशित किया कि विद्यापति बंगाली नहीं मैथिल थे और अपने मत के प्रमाण-स्वरूप उन्होंने ताम्रपत्र आदि प्रस्तुत किए तब समस्त बंगाल में हलचल सी मच गई क्योंकि विद्यापति को वहाँ इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी कि उन्हें अन्यदेशीय कवि माना जाना बंगालियों को रुचिकर न लगता था अतः विद्यापति को बंगाली सिद्ध करने के लिए पुनः कुछ तर्क प्रस्तुत किए गए लेकिन डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने प्रबल तर्कों के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि वे बंगला के नहीं अपितु मैथिली भाषा के ही कवि हैं और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, जस्टिस शारदाचरण मित्र, बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त जैसे बंगसाहित्य के प्रसिद्ध विचारकों ने भी उन्हें मैथिली भाषा का ही कवि माना है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि मैथिली भाषा को अपनाते हुए भी वे हिन्दी के ही कवि कहे जाते हैं और उनकी पदावली को हिन्दी की उल्लेखनीय कृति माना जाता है क्योंकि स्वयं मैथिली भाषा ही पूर्वी हिन्दी का अन्यतम रूप है और फिर पदावली में तो हिन्दी शब्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया गया है अतः हमें विद्यापति को हिन्दी का ही कवि मानना चाहिए।[३] इतना ही नहीं हिंदी साहित्य में कृष्ण-काव्य के जन्मदाता भी वे ही कहे जाते हैं।

---

१. विद्यापति—डा० जनार्दन मिश्र (पृ० ३२)
२. विद्यापति काव्यालोक—श्री नरेन्द्रनाथदास विद्यालंकार (पृ० ५४)
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ५७)

विद्यापति का जन्म मिथिला के बिसपी ग्राम में हुआ था और उनके पिता का नाम गणपति ठाकुर, पितामह का जयदत्त ठाकुर और प्रपितामह का धीरेश्वर ठाकुर था तथा उनके पूर्वज बड़े ही विद्वान और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे अतः उन्हें कवित्व-शक्ति पैतृक ही प्राप्त थी। विद्यापति को राजाश्रित कवि कहा जाता है तथा शिवसिंह उनके प्रमुख आश्रयदाता थे और उनकी पदावली में कई ऐसे पद दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी का उल्लेख हुआ है तथा शृंगार रस का कवि ने जहाँ कहीं भी वर्णन किया है वहाँ उसने यही लिखा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी ही जानते हैं, जैसे—

राजा सिवसिंह रूप नरायन।
लखिमापति रस जान॥

और भी—

भन कवि विद्यापति कम रमनि रति कौतुक बुझ रसमन्त।
सिव सिवसिंघ राउ पुरुष सुकृत पाउ लखिमा देइ राति कन्त॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा शिवसिंह कवि का बहुत अधिक सम्मान करते थे। वस्तुतः विद्यापति को जो भी लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त हुई है तथा हिंदी गीतिकाव्य में जो उन्हें उल्लेखनीयस्थान प्राप्त है वह उनकी मैथिली भाषा में लिखी पदावली के कारण ही है लेकिन साथ ही उन्होंने भू परिक्रमा, पुरुषपरीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्वसार, प्रमाणभूतसंग्रह, गंगावाक्यावली विभागसार, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरंगिणी, वर्षकृत्य, गयापत्तलक, पांडव विजय नामक कृतियाँ संस्कृत में और कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका नामक रचनाएँ अवहट्ट में लिखी हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि उर्दू में भी उन्होंने कुछ कविताएँ लिखी थीं और इस प्रकार की एक दंत कथा भी प्रचलित है कि जब उनके आश्रयदाता शिवसिंह दिल्ली के बंदीगृह में बंद थे तब वे उन्हें मुक्त कराने के लिए दिल्ली पहुँचे और वहाँ जोवराज ने जो कि युवराज या यवनराज का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है या किसी दरबारी कवि का नाम जान पड़ता है उनसे अपनी कविता सुनाने का अनुरोध किया—

कहे जोवराज बानी सुधर बहुत नगर कवि दलमल्यो।
गप्प सप्प तुम छोड़ि देइ बदन निहारो आपनो॥

अतएव जोंधराज के कहने पर विद्यापति ने तुरन्त एक कविता सुनाई जो कि उर्दू फारसी मिश्रित भाषा में थी लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह अब मूल रूप में प्राप्त नहीं होती और उसका वर्तमान स्वरूप निश्चय ही बहुत कुछ विकृत हो गया है, देखिए—

शेर फरक शमशीर फरक हौंजे दरियाओ असल
ऐन फरक आफताब फरक आसमान जा अस्त
हींग फरक काफूर फरक खिमिदार खिस्मी अस्त
फरश्ता जरे ताजनाजी ठने भर अस्त
बदकस जादा दे सिलाव बस्तर धूमी सिपाय
जोंधराज सोंझे दिगर सुन्दूक पयामे ते कुन्दी

कहते हैं कि इसे सुनकर बादशाह ने अत्यंत प्रसन्न होकर राजा शिवसिंह को मुक्त कर दिया तथा विद्यापति से आतिथ्य-ग्रहण करने की प्रार्थना भी की परन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः क्या यह उर्दू कविता विद्यापति की ही लिखी हुई है ? इस प्रकार की एक कथा और भी प्रचलित है जिसके अनुसार जब राजा शिवसिंह अपनी उद्दंडता या स्वाभिमान के कारण बंदी दशा में दिल्ली पहुँच गए थे तब चंद बरदाई के सदृश्य विद्यापति भी उन्हें मुक्त कराने दिल्ली पहुँचे परन्तु उन्होंने चंद की युक्ति से काम नहीं लिया। उनसे कहा गया कि यदि तुम वास्तव में कवि हो तो एक ऐसी कामिनी का वर्णन करो जो स्नान कर रही हो पर जिसको तुम देख नहीं सकते हो तब उन्होंने उसी समय एक पद रचकर सुनाया और उसे सुनकर बादशाह ने राजा शिवसिंह को तुरन्त मुक्त कर दिया[१] अतएव इस प्रकार एक ही ढंग की इन दोनों घटनाओं में से किसे सत्य

---

१. वह पद इस प्रकार है—

कामिनी करए सनाने।
हेरितहि हृदय हनए पँचबाने।
चिकुर गरए जलधारा।
जानि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥
कुच जुग चारु चकेवा।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा।
ते संका भुजपासे।
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे।

कहा जाए यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है ? लेकिन यह तो सर्वविदित ही है कि विद्यापति को जो प्रसिद्धि आज प्राप्त है वह उनकी अन्य कृतियों के कारण नहीं अपितु पदावली के कारण है और काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से उसमें वे सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि एक श्रेष्ठतम कृति के लिए अपेक्षित हैं तथा उसकी प्रशंसा भी मुक्तकंठ से की जाती है[1] अतः हम पदावली की काव्य-सुषमा पर ही यहाँ विस्तार के साथ विचार करेंगे।

वस्तुतः हमारी अनुभूतियों का विकास भाषा द्वारा ही होता है और उसी के माध्यम से हम अपना राग, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि दूसरों पर व्यक्त करते हैं अतः यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि विश्व के समस्त साहित्य की सुरक्षा का श्रेय भाषा को ही है और साहित्य में भावों की दीप्ति तथा उनका प्रसार भी उसी की शक्ति पर ही निर्भर है अतएव स्वाभाविक ही कुशल कलाकार इस दिशा में विशेष सतर्क रहता है। फारसी के एक कवि ने लिखा भी है कि जब कि पक्षी और मछलियाँ सोती रहती हैं तब भी केवल एक उचित शब्द के प्रयोग की चिन्ता में ही कलाकार सारी रात जागता रहता है—

बाए पाकिए लफ्जे शदे मरोज़ भारूद।
कि मुर्ग माही व बादान्द खुफ्तः ओ बेदार॥

इस प्रकार विद्यापति पदावली के काव्य-सौन्दर्य पर प्रकाश डालते समय सर्वप्रथम उसके भाषासौंदर्य पर ही विचार करना चाहिए और इसमें कोई संदेह नहीं कि पदावली की भाषा सुमधुर और सरस है। यों तो उसमें कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्द भी विद्यमान हैं परन्तु कवि ने सर्वत्र ही भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है और यद्यपि मैथिली

तिमल बसन तनु लागू।
मुनिहु क मानस मनमथ जागू॥
भनइ विद्यापति गावे।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे॥

१. "विद्यापतिर जे रूप अनुकरण हइयाछिल, बोध हय कोन देशे कोन कविर सद्रूप हय नाईं। तॉहारइ भाषा भॉगिया, चूरिया, गढ़िया-गठिया, रूपरस, छंदोबंध, भावभंगी शब्द, उत्प्रेक्षा, उपमा, तॉहारइ पदावली हइते लइया लोक मनोमोहन वैष्णव काव्य समूह सज्जित हइल।"

—श्री. नगेन्द्रनाथ गुप्त

भाषा उस समय नई-नई थी लेकिन पदावली को देख कर यही प्रतीत होता है कि उस समय भी उसमें प्रौढ़ता विद्यमान थी। सर्वत्र ही पदावली में अत्यन्त सुघर शब्द-योजना देख पड़ती है और कोमलकांत पदावली भी पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है अतः जैसा कि श्री अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने लिखा है—"गीत गोविन्दकार वीणापाणि के वरपुत्र जयदेव जी की मधुर पदावली पढ़कर जैसा अनुभव होता है वैसा ही विद्यापति की पदावलियों को पढ़कर। अपनी कोकिलकंठता के कारण ही वे मैथिल कोकिल कहलाते हैं।"[2] इसी प्रकार डा० विमलकुमार जैन के शब्दों में "विद्यापति की कोमलकांत पदावली प्रसिद्ध ही है। उनका एक एक पद मधुप्रवाही नद है जो प्रबलवेग से रस का संचार करता है। मंजुल, मृदुल पेशल एवं स्निग्ध शब्दों की योजना, संगीत की तरल ध्वनि, नवीन से नवीन उत्प्रेक्षाओं की उद्‌भावना जैसी इस पदावली में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ ही है।"[3] यद्यपि रस को काव्य की आत्मा कहा जाता है किन्तु अलंकारविहीन कविता में तो काव्यगत सुषमा का निरा अभाव रहता है और 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव की दृष्टि में तो जो विद्वान अलंकारविहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी उष्णतारहित क्यों नहीं मानते।[4] कहा जाता है कि विद्यापति की कवित्वशक्ति ईश्वर प्रदत्त ही थी अतः पदावली में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही हुआ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो यही प्रतीत होता है कि अलंकारों में उत्प्रेक्षा ही कवि को अधिक प्रिय थी क्योंकि पग-पग पर हमें एक से एक सुन्दर तथा चित्ताकर्षक उत्प्रेक्षाएँ दृष्टिगोचर होती हैं; जैसे—

> सुन्दर बदन चारु लोचन
> काजरंजित भेला।
> कनक कमल माझ काल-भुजंगिनी
> श्रीयुत खंजन खेला॥

---

२. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० २५०)

३. हिन्दी साहित्य रत्नाकर—डा० विमलकुमार जैन (पृ० ३९)

४. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

नाभि-विवर सयँ लोम-लतावलि
भुजगि निसास-पियासा ।
नासा खगपति-चंचु भरम-भय
कुच-गिरि-संधि-निवासा ॥

अर्थात् चंद्रमुखी बाला के सुन्दर मुख में काजलयुक्त ललित लोचन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों कि स्वर्णकमल में कालसर्पिणी शोभाप्रद खंजन की भाँति क्रीड़ा कर रही हो। नाभिविवर से निकली रोमराशि ऐसी जान पड़ती है मानों कि सुवासित श्वासवायु का पान करने हेतु सर्पिणी ऊपर की ओर बढ़ी हो लेकिन नुकीली नासिका को गरुड़ की चोंच समझकर भयवश कुचरूपी दो पर्वतों के मध्य मिलन स्थान में आ छिपी हो। इसी प्रकार एक स्थल में कवि ने नायिका की त्रिवली को कामदेव को आबद्ध करने वाली पाशलता मानकर यह उत्प्रेक्षा की है कि पीन नितम्बों के भार से नायिका चलने में असमर्थ है और उसके उदर पर पड़ी हुई त्रिवली ऐसी प्रतीत होती है मानों कि वह रतिराज को उलझा कर भाग जाने से रोक रही हो।[1] साथ ही अज्ञातयौवना बाला के सुन्दर मुख पर अरुण अधर कवि को ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानों कि सरोरुह के साथ मधुरी पुष्प विकसित हुआ हो और उस सुन्दरी के दोनों ललित लोचन मुख कमल पर इस प्रकार दिखाई देते हैं मानों कि भ्रमर मधु-पान कर उड़ने में असमर्थ हो वहीं रुक गए हों।[2] नायिका के खुले हुए केश उरोजों पर छिटके हुए हैं तथा उनके मध्य हार के श्वेत मोती इस प्रकार चमक रहे हैं मानों कि सुमेरु पर्वत पर चन्द्रमा को पीछे छोड़ कर सभी तारे उदय हुए हों।[3] उत्प्रेक्षा की भाँति कवि ने उपमालंकार का भी सफलता के साथ वर्णन किया है और पदावली में तो नायिका के

---

१. गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए
माझ खानि खीनि निमाई ।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि
त्रिवलि लता अरुझाई ॥

२. मुख मनोहर अधर रंगे । फूललि मधुरी कमल संगे ।
लोचन जुगल भृंग अकारे । मधुर मातल उड़ए न पारे ॥

३. कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल
ता अरुझायल हारा ।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद बिहिनु सब तारा ॥

ललित लोचनों का वर्णन भी प्रायः उपमाओं की सहायता से किया गया है; जैसे—

लोचन जनु थिर भृंग अकारे
मधुर मातल उड़ए न पारे

अर्थात् दोनों नेत्र भ्रमर के सदृश हैं जो कि मुख रूपी कमल का रसपान कर उन्मत्त होने के कारण उड़ भी नहीं पाते। और भी—

नीर निरंजन लोचन राता
सिन्दूर मंडित जनि पंकज पाता

उत्प्रेक्षा और उपमा के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के उदाहरण भी पदावली में प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं और कवि ने अनुप्रास, यमक, श्लेष, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, मीलित, पर्यायोक्ति, तद्‌गुण, अर्थान्तरन्यास, परिकर और असंगति नामक अलंकारों का सफलता के साथ प्रयोग किया है[1] तथा कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें कि कई अलंकारों का संकर या संसृष्टि भी पाई जाती है; जैसे कि निम्नांकित उदाहरण में उपमा, रूपक और विरोधाभास का संकर है—

१. कुछ उदाहरण देखिए—

अनुप्रास—

मधु रितु मधुकर पाँति। मधुर कुसुम माति।
मधुर वृन्दावन माँझ। मधुर मधुर रसराज॥

यमक—

सारँग नयन बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग ऊपर उगल दस सारँग, केलि करथि मधुपाने॥

अतिशयोक्ति—

चाँद सार लए मुख रचना करु,
लोचन चकित चकोर रे
अमिय धोय आँचर जनि पोछलि
दह दिसि भेल उँजोर रे॥

परिकर—

तुहु रस आगर नागर ढीठ
हम न बुझिअ रस तीत को मीठ

अर्थान्तरन्यास—

कहइ विगुन सत अवगुन सजनी
तति सम मोहि नहि आन।
कतेक जतनसँ मेटिय सजनी
मेटय न रेख परवान॥

चिकुर निकर तम सम
पुनु आनन पुनिम ससी।
नयन पंकज के पतिआओत
एक ठाम रहु बसी॥

साथ ही विद्यापति ने लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों का भी अत्यधिक प्रयोग अपनी कविता में किया है जिससे कि उनकी भाषा और भी भी अधिक निखर उठी है तथा उनकी भाषा प्रवाहमयी भी है और उसमें माधुर्य तथा प्रसाद गुणों की अधिकता सी है। कहीं-कहीं उनकी भाषा में लाक्षणिकता तथा ध्वन्यात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने जो अपनी भाषा पर गर्व करते हुए कीर्तिलता में यह गर्वोक्ति की थी कि बालचन्द्रमा और विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुर्जनों की हँसी कलंकित नहीं कर सकती वह उचित ही है।[1]

विद्यापति पदावली के पद प्रधानतः तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—शृंगार-सम्बन्धी, भक्ति-सम्बन्धी और विविध। विविध के अंतर्गत उन पदों को लिया जाता है जिनमें राजा शिवसिंह के राज्याभिषेक का वर्णन है तथा प्रहेलिका और कूट भी इसी श्रेणी के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। भक्ति-सम्बन्धी पदों में शिव की नचारियाँ, गंगा, दुर्गा और गौरी की प्रार्थनाएँ आती हैं तथा शृंगार-सम्बन्धी पदों में राधा-कृष्ण के सौंदर्य और प्रेम का चित्रण करनेवाले पदों की गणना की जाती है। स्मरण रहे जिस प्रकार जयदेव ने गीत-गोविन्द में राधाकृष्ण के सौन्दर्य और प्रेम से परिपूर्ण चित्रों को अंकित किया है उसी प्रकार पदावली में भी राधा-कृष्ण के सौन्दर्य और प्रेमसम्बन्धी प्रसंगों की ही अधिकता है। विद्यापति रचित भक्ति सम्बन्धी पदों के विषय में कहा जाता है कि उनकी शिव विषयक नचारियाँ तो अभी भी मंदिरों में गाई जाती हैं और श्री कृपानाथ मिश्र का मत है कि बंगाल में तो इन प्रणय विषयक गीतों को किसी भी भाँति धार्मिक स्तवों से कम नहीं समझा जाता।[2] श्री सुशील-

---

१. बालचन्द विज्जावइ भासा। दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ। ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥

२. कविता कौमुदी (बंगला)—सातवाँ भाग—पृष्ठ ५१

कुमार चक्रवर्ती ने भी अपने ग्रंथ 'वैष्णव साहित्य' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विद्यापति के अनेक अश्लील पदों को वैष्णव समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है[1] और डाक्टर ग्रियर्सन ने भी Even when the sun of Hindu-religion is set, when belief and faith in Krishna and in that medicine of 'disease of existence' the hymns of Krishna's Love is extinct, still the love born for songs of Vidypati in which he tells of Krishna and Radha will never be diminished." नामक उक्ति द्वारा विद्यापति के पदों का भक्तिपरक महत्व स्वीकार किया है अतः इस प्रश्न पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तुतः विद्यापति शृंगारी कवि थे या भक्त ?

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने तो विद्यापति के पदों को शृंगारी ही कहा है तथा उनकी दृष्टि में पदावली के राधा और कृष्ण काल्पनिक ही हैं। शास्त्रीजी का कहना है कि उस समय कवियों में यह प्रथा सी थी कि वे कृष्ण और राधा को नायक नायिका मानकर इसी प्रकार के शृंगार रस पूर्ण चित्र अंकित करते थे अतः यही परम्परा विद्यापति ने भी अपनाई है। उनका यह भी मत है कि विद्यापति ने ये पद अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए लिखे

---

१. "श्री चैतन्य स्वयं आनमादे भजन करितेन बलियाछ, जयदेव, चंडीदास ओ विद्यापतिर पदावली ते अमन मुग्ध हइया पड़ितेन। एइ सकल पदे, याहा इह सर्वस्व अन्तर्हित रूप्य शोभा भजन करीर निकट रूपवर्णना ओ नायक नायिकार शारीरिक सम्बन्धेर चित्रांकन ताहा श्री चैतन्य ओ ताँहार साधन पथावलम्बी दिगेर निकट मधुर रसेर दैन साधनार भजन गीति ओ परम मिलनेर निकट आत्मनिवेदनेर मधुर इसारा।"

और भी—

"ए विषयेर आर आलोचना करिते गेले अनाधिकार चर्चा हइया पड़िबे। कारण अनेक भक्त वैष्णव एइ अश्लीलता दोष पदावली साहित्ये साहित्ये. पुलकाश्रुपूर्ण लोचने भावे विह्वल हइया यान, अनेक वृद्ध वैष्णव निष्ठावे नितान्त अंतरंग संगे एइ सकल पदेर आलोचना करिया, अविरत अश्रुमोचन करिया थाकेन। साधारण पाठकेर निकट याहा निरर्थक, औल विकारेर संकेतेर विस्तृत निपुण वर्णना देइ परम भक्त वैष्णवर निकट वे मधुर रसेर द्वारा उद्घाटन करियाछेन ताहा बुझिबार सामर्थ्य आमादेर नाइ।"

—वैष्णव साहित्य : श्री सुधीरकुमार चक्रवर्ती (पृ० ११६-२८४)

हैं और उनकी संस्कृत कृतियों में कहीं भी राधा-कृष्ण का उल्लेख नहीं हुआ अतः उन्हें शृंगारी कवि ही कहना उचित है। इसी प्रकार हाल ही में प्रकाशित एक विचारक की कृति में भी पदावली के राधा और कृष्ण शृंगारिक नायक-नायिका ही माने गए हैं[1] तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और श्री शुकदेव विहारी मिश्र भी विद्यापति को शृंगारी कवि ही मानते हैं।[2] इसी प्रकार डा० बाबूराम सक्सेना ने भी कीर्त्तिलता की भूमिका में स्पष्ट रूप से यही कहा है कि "विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता चलता है कि वे बड़े शृंगारी कवि थे···। इन पदों को राधाकृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद पदार्थ के प्रति अन्याय है।" साथ ही डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "विद्यापति ने राधाकृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है।"[3] डॉ० विनयमोहन शर्मा का भी यही मत है कि "कवि ने राधा-कृष्ण के सच्चे प्रेम को, जिसे भक्ति कहते हैं, कहीं नहीं दिखाया है और वह उसका उद्देश्य भी नहीं था। उन दिनों मिथिला में भक्ति की विशेष चर्चा भी नहीं थी जैसी कि चैतन्यदेव के समय बंगाल में थी। विद्यापति किसी विरक्त समाज के नहीं थे जिससे कि उनके हृदय में भक्ति का स्रोत उमड़ता अतः हम उन्हें विशुद्ध शृंगारिक कवि ही मानते हैं।"[4] साथ ही

---

१. "To him Krishna was just a Khight-errant and Radha his la belle."

—A History of Hindi Literature By K. B. Jindal (P. 99)

२. "विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक राधाकृष्ण हैं।···इन्होंने इन पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिए।"

—हिन्दी साहित्य का इतिहास: पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ५७)

"आप की कृष्णभक्ति सम्बन्धिनी रचना में लौकिक शृंगार की ध्वनि बहुत देख पड़ती है, यहाँ तक कि अश्लीलता की मात्रा कुछ प्राचुर्य के साथ आ गई है।"

—हिन्दी साहित्य और इतिहास: श्री शुकदेवबिहारी मिश्र (पृ० १२४)

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० ७२९)

४. दृष्टिकोण—डॉ० विनयमोहन शर्मा (पृ० १२७)

डा० उमेश मिश्र ने भी लिखा है "जितनी कविताएँ राधाकृष्ण को लेकर कवि ने बनाईं प्रायः सभी शृंगारिक हैं और कवि ने संसार के स्त्री पुरुष को राधा-कृष्ण के नाम से अन्योक्ति रूप में मिथिलादेशीय सब प्रकार के मनुष्यों के उचित आचार-विचार तथा व्यवहार के अनुकूल शृंगारिक मात्र सभी बातों का संग्रह अपने पदों में किया है। राधा-कृष्ण के नाममात्र से यह न समझना चाहिए कि लेखक केवल भक्ति रस की पराकाष्ठा पर पहुँचकर जीवब्रह्म के ऐक्य ही को शृंगारिक शब्दों में कह रहा है।"[१] इधर विचारकों का यह भी मत है कि मिथिला में राधा और कृष्ण के गीतों को धार्मिक महत्व दिया ही नहीं गया तथा हाल ही में प्रकाशित The Songs of Vidyapati की भूमिका में भी यही विचार व्यक्त किया गया है[२] अतः हम देखते हैं कि विद्यापति को शृंगारिक कवि मानने वाले विद्वानों की ही संख्या अधिक है परन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो कि उन्हें केवल भक्त रूप में देखते हैं। स्वयं डा० उमेश मिश्र की दृष्टि में विद्यापति प्रारम्भ में शृंगारी कवि ही थे परन्तु "जीवन का अन्त आने के पहले कुछ दिन पूर्व इस संसार से विरक्त हो गए और उन्होंने अवशिष्ट समय में केवल शिव की नचारी तथा कृष्णकीर्तन के ही पद बनाए"[३] लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्व० श्री शिवनन्दन ठाकुर ने तो इसी बात का खण्डन किया है कि विद्यापति ने इन पदों की रचना कृष्ण-कीर्तन के लिए की थी।[४] परन्तु इतना होते हुए भी

---

१. विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र (पृ० ९२)

२. "It may here be marked that in Mithila, the RadhaKrsna Songs never became religious. As they were replete with expressions of love they passed into the category of ordinary erotic songs, along the side of those that had nothing of Radha-Krsna in them. All the erotic songs began to be employed for similar purposes particularly on the occasion of marriages."

—The songs of Vidyapati-Dr. Subhadra Jha (Intro. P. 69)

३. विद्यापति ठाकुर—डा० उमेश मिश्र (पृ० ५४)

४. "विद्यापति के पद कीर्तन के लिए नहीं बनाए गए थे। नगेन्द्र बाबू ने बड़ा अन्याय किया कि कीर्तन के अनुरोध से विद्यापति के पदों का क्रमपरिवर्तन कर डाला। जिस क्रम से उन्हें विद्यापति के पद उपलब्ध हुए थे उसी क्रम से प्रकाशित करना उचित था।

उन्हें भक्त कवि माननेवालों की संख्या कम नहीं है और सहजिया पंथ में तो वे सात रसिक भक्तों में चुने गये हैं। डा० श्यामसुन्दरदास भी उन्हें भक्त-कवि ही मानते हैं और उनकी दृष्टि में तो "विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है उस पर विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।" और पं० अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में "मैं सोचता हूँ कि उस समय वैष्णव धर्म विशेषकर श्रीमद्भागवत जैसे वैष्णव ग्रन्थों के प्रभाव से वैष्णव धर्म का जो उत्थान देश में नाना रूपों में हो रहा था उसी के प्रभाव से बंगाल प्रान्त में चंडीदास और विहार भूमि में विद्यापति की रचनाएँ प्रभावित हैं।" परन्तु पदावली में स्पष्ट रूप से शृंगारिक पदों की ी बहुलता के कारण कुछ विचारकों ने उन्हें रहस्यवादी कवि मानते ुए उनके शृंगाररस पूर्ण पदों में रहस्यवादी भावना भी आरोपित करने ी चेष्टा की है और उनकी दृष्टि में इन पदों में कृष्ण का अर्थ है रमात्मा, राधा का अर्थ है जीवात्मा तथा दूती का अर्थ है मार्ग-दर्शक गुरु अतः इसका अभिप्राय है कि गुरु की सहायता से ही ीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन होता है; इसीलिए भक्त ईश्वर को ति और अपने को पत्नी समझकर ईश्वरोपासना करता है तथा उसकी ह उपासना माधुर्योपासना कहलाती है और भक्ति शृंगारपरक ाम्पत्यभाव को स्वीकार करती हुई चलती है। स्मरण रहे कि उपनिषदों ी भी इसी प्रकार की शृंगारिक भावना लक्षित होती है' और स्वयं

विद्यापति राजकवि और राजसभासद थे। उन्हें जिस तरह का गाना बनाने की फरमाइश मिलती थी, वसी तरह का गाना बनाते थे और राजा को प्रसन्न रखने के लिए राजा और राजपरिवार के नाम भी उसमें जोड़ दिए जाते थे। अनेक समय विद्यापति ने फरमाइश करने वाले राजा को श्याम और उनकी प्रिय पत्नी को राधा मानकर गाना गाया है।'''विद्यापति ने स्वयं जिन पदों की रचना की है वे सब के सब शृंगार रस के पद हैं—राधाकृष्ण के पद या वैष्णवों के पद नहीं हैं।"

—महाकवि विद्यापति : श्री शिवनन्दन ठाकुर

हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास

हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० १५९)

तद्यथा प्रियया स्त्रियों संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरे।
एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचवेदन् नांतरम्॥
जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेदनान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खलम् मन्यते विभिन्॥

जयदेव ने भी शृंगार के आधार पर ही भक्तिभाव को स्वीकार करना उचित समझा है।[१] डा० ग्रियर्सन ने भी विद्यापति के पदों को रूपक मानते हुए लिखा है "The people of a colder western climet, have contented themselves with comparing the inafiabla love of God to that of a father to his children, which the warmer climes of tropics have led to the seekers after truth to compare the love of the worshipper for the worshipped to that of supreme misterss Radha for her supreme lord Krishna...The glowing stanzas of Vidypati are read by the devout Hindu with as little of the base part of human sensuousness, as the song of Solomon is by the Christian priest."[२] डा० ग्रियर्सन के विचारों के अनुरूप ही डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने भी विद्यापति की कविता को ईश्वरोन्मुखी माना है और उनकी दृष्टि में तो पदावली में रहस्यवाद की अनुपम छटा है तथा बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने भी २ फरवरी सन् १९३५ को पटना सिनेट हाल में दिए गए अपने भाषण में यही सिद्ध करना चाहा है कि विद्यापति-पदावली के शृंगारिक पदों का यही अभिप्राय है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रही है और उनसे एकांत में मिलन के हेतु लालायित भी है। डा० ग्रियर्सन, डा० आनन्दकुमार स्वामी और श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त के विचारों का समर्थन करते हुए डा० जनार्दन मिश्र ने भी यही कहा है "विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्ब करना उन्हें शायद अभीष्ट न था, अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति उनमें न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में

---

१. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो,
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकांत पदावली,
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

२. Introduction to a christomathy of the Maithili of language, Pt. 36 (Extra Number to Journal Asiatic Society Bengal Part 7, 1882)

जीवात्मा और परमात्मा की धारा जो उमड़ रही थी उसमें इन्होंने अपने को बहा दिया।"[1] परन्तु विद्यापति को रहस्यवादी सिद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि रहस्यपरक रूपक-विधान कदाचित ही उनके किसी पद में दृष्टिगोचर होता हो और यदि अशिखापादांत परिश्रम करने पर भी हम एकाध पदों में रूपक का संगति-निर्वाह कर भी लें तो भी विद्यापति-पदावली में अनेक ऐसे पद हैं जिन्हें किसी भी भाँति रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वयः सन्धि, सद्यःस्नाता और नखशिखवाले पदों में तो रूपक-विधान का निर्वाह किसी भी प्रकार से नहीं होता। डा० विनयकुमार सरकार तो But the earthly element, the physical beauty, the pleasures of sense are too many to be ignored" नामक उक्ति द्वारा शृङ्गारिक वर्णनों को रूपक का स्वरूप देकर रहस्यवादी सिद्ध करने के प्रयास को शृंगार की हीनता सिद्ध करना समझते हैं तथा वे किसी भी भाँति विद्यापति को रहस्यवादी कवि नहीं मानते।[2] वस्तुतः जायसी और कबीर आदि की सूक्तियों की भाँति विद्यापति के पदों में किसी भी प्रकार का न तो रहस्योद्घाटन ही होता है और न उनमें सूफी मतावलंबियों की भाँति रहस्यभावना ही दृष्टिगोचर होती है। स्मरण रहे कि कवि ने स्वयं ही अपनी कृति 'कीर्त्ति-पताका' में लिखा है कि सीता की विरहवेदना सहन करने के कारण राम को कामकलाचतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट इच्छा हुई इसीलिए उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ विभिन्न प्रकार से कामक्रीड़ा की अतः इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं कवि की दृष्टि में कृष्ण और राधा शृंगार रस के नायक नायिका ही थे अतएव उनके शृंगार वर्णन में तनिक भी दार्शनिक गूढ़ रहस्य नहीं है। साथ ही सूर, तुलसी और मीरा की सी भक्ति-भावना की झलक भी विद्यापति की पदावली में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती और यद्यपि श्री गुलाबराय ने नखशिख तथा लीला-वर्णन की दृष्टि से सूर और विद्यापति को एक ही श्रेणी में रखा है परन्तु सूर की कविता में तो भक्ति-भावना युक्त पदों की संख्या कुछ कम नहीं है और उनका शृंगार वर्णन भी विद्यापति की भाँति असंतुलित नहीं है। स्मरण रहे सूर का संयोग

१. विद्यापति—डा० जनार्दन मिश्र (पृ० ४७)
२ Love in Hindu Literature—Dr. B. K. Sarkar (P. 47-48)

शृंगार वर्णन उतना अश्लील नहीं है जितना कि विद्यापति का और हम सूरसागर में न केवल नवधा भक्ति की ही सम्पूर्ण झाँकी देखते हैं अपितु उनकी भक्ति-भावना में मौलिकता की झलक भी पाते हैं तथा वात्सल्य भाव की भक्ति सर्वप्रथम उन्होंने ही कुशलता के साथ अंकित की है। ठीक इसके विपरीत जैसा कि डा. रामकुमार वर्मा का मत है "विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है"[1] अतः हम भक्तिभावना की दृष्टि से सूर के समक्ष विद्यापति को रखना उचित नहीं समझते। यों तो आए दिन विचारकों द्वारा उन्हें भक्त कवि सिद्ध करने के प्रयत्न होते रहते हैं और कभी तो उनकी महेश बावनी तथा शिव की नचारियों को लेकर उन्हें भक्तों की परम्परा में भी स्थान दे दिया जाता है और कभी वज्रयान सम्प्रदाय की प्रतिक्रियाप्रसूत सहजयान सम्प्रदाय से लेकर आई हुई तथा वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में गृहीत राधाकृष्णसम्बन्धी लीलाभावना पर प्रकाश डालते हुए उनके पदों को शृंगार, भक्ति और रहस्य की त्रिवेणी कह दिया जाता है तथा श्री गुलाबराय जी जैसे विचारवान् भी हिन्दी साहित्य में विद्यापति का स्थान निर्धारित करते हुए यह निर्णय दे देते हैं कि "विद्यापति में भक्ति के संस्कार थे। उन पर कभी-कभी उनकी शृंगारिकता विजय पा जाती थी। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह रीतिकालीन कवियों की भाँति केवल कला-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा वे रसिक भक्तों में से थे, कभी भक्तिभावना प्रबल हो जाती थी और कभी रसिकता का पल्ला भारी हो जाता था।"[2] परन्तु पदावली का सम्यक् अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति को भक्त कवि सिद्ध करने का अतिशय प्रयास परिश्रम करना उचित नहीं है और वे मूलतः शृंगारी कवि ही थे। हो सकता है उनकी शृंगारिकता और रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना में भिन्नता हो परन्तु उनकी भक्ति-भावना भी भक्तिकालीन कवियों के सदृश नहीं है और न उनकी पदावली के पदों को पढ़ कर हृदय पर भक्ति-भावना की वह छाप ही पड़ती है तथा न वैसी भक्ति-भावना ही उद्भूत होती है जैसी कि सूर आदि कवियों की कृतियों से होती है और भक्ति-भावना की अपेक्षा पाण्डित्य ही विशेष रूप से उनकी पदावली में झलकता है। साथ ही सूर आदि कवियों ने राधाभाव के

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा. रामकुमार वर्मा
२. काव्य विमर्श—श्री गुलाबराय

प्रति स्पष्ट ही उपेक्षा और तिरस्कार प्रदर्शित किया है परन्तु विद्यापति तो पग पग पर शिवसिंह, रूप नारायण, लखिमादेइ आदि का उल्लेख करते हैं। इतना ही नहीं उन्होंने तो भक्ति में भी शृंगार को ही प्रधानता दी है तथा पयोधरों को स्पर्श करती हुई मोतियों की माला उन्हें ऐसी प्रतीत होती है मानों शंकर के शीश पर सुरसरि की धारा प्रवाहित हो रही हो—

गिरिवर गरुअ पयोधर परसित
गिम गज मौक्तिक हारा
काम कम्बु भरि कनक संभुपरि
ढारत सुरसरि धारा

इस प्रकार विद्यापति शृंगार के ही अत्यधिक प्रेमी प्रतीत होते हैं तथा उनकी मनोभावनाएँ मूलतः शृंगारिक ही थीं और उनकी भावनाओं से 'दम्पत्ति' को तो विलग किया ही नहीं जा सकता क्योंकि उन्होंने तो दोनों के मूल को ही रस का मूल मानते हुए कहा भी है—

ई रस रसिक विनोदक बिंदक।
कवि विद्यापति गावे॥
काम प्रेम दुहु एक मन भए रहु।
करयने की न करावे॥

और भी—

मधुर नटनगति भंग, मधुर नटिनी संग।
मधुर मधुर रस गान, मधुर विद्यापति मान॥

अतएव जैसा कि श्री. चन्द्रबली पांडे ने लिखा है "विद्यापति की कविता मधुर रस की कविता है। वह माधुर्य की वाणी है और है यौवन की रंगस्थली।"[1] साथ ही डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "विद्यापति शृंगाररस के सिद्धवाक् कवि थे। उनकी पदावली में राधा और कृष्ण की जिस प्रेम लीला का चित्रण है वह अपूर्व है। इस वर्णन में प्रेम के शरीरपक्ष की प्रधानता अवश्य है पर भावों की सान्द्रता और अभिव्यक्ति की प्रेषणीय गुणिता के कारण वह बहुत ही आकर्षक हो सका है।"[2] स्मरण रहे कि जयदेव के गीत-गोविंद का

१. हिन्दी कवि चर्चा—पं० चन्द्रबली पांडे (पृ. १९)
२. हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ. १९८-१९९)

अनुसरण करते हुए भी विद्यापति ने अपनी पदावली में कई मौलिक प्रसंगों की उद्भावनाएँ की हैं और अभिसार, कौतुक, प्रबोधन, मिलन मान, मानभंग, विरह, स्वप्न आदि विषयों का वर्णन तो निश्चय ही सर्वथा नवीन ढंग से किया गया है। कथानक का प्रारम्भ वयःसंधि से करने के कारण उन्हें सद्यःस्नाता तथा यौवन सुलभ अनुरक्ति की उद्भावना आदि नवीन प्रसंगों का चित्रण करने का अवसर भी मिल सका। साथ ही श्रीमद्भागवत से भी उन्होंने बहुत ही कम सामग्री ग्रहण की है और राधा को स्वकीया मानकर उसे मुग्धा, अभिसारिका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा एवम् प्रोषितपतिका के रूप में अंकित कर विशेष महत्व प्रदान किया है जब कि भागवत् में राधा का उल्लेख तक नहीं है। यों तो विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के ही कवि हैं लेकिन उन्होंने प्रकृति-सौंदर्य के चित्रण के प्रति उदासीनता ही प्रकट की है। प्रायः ऋतुओं का वर्णन केवल उद्दीपन की दृष्टि से ही किया गया है; हाँ वसन्त का जन्मोत्सव अवश्य सांगरूप की सहायता से कुशलता के साथ अंकित किया गया है। कवि को मानवीय सौंदर्य के चित्रण में अवश्य सफलता मिली है और जैसा कि डा० रघुवंश ने लिखा है "विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौंदर्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के दृश्यात्मक रूप में यौवन की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है, उसी के समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृतिरूप योजना के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं।"[१] वस्तुतः विद्यापति ने सौन्दर्य की सृष्टि सी की है तथा नारी के समस्त अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करने की ओर भी उनकी दृष्टि गई है लेकिन उनके सौंदर्य वर्णन में तुलसी की सी आध्यात्मिकता का अभाव है और भौतिकता तथा ऐन्द्रियता की मात्रा विशेष रूप से पाई जाती है। नारी की सुकुमारता का चित्रण भी कवि ने किया है और उसकी भाव-मूर्ति विधायनी कल्पना पग-पग पर झलक उठती है। श्री. प्रभाकर माचवे के शब्दों में, "विद्यापति में बॉयरन की भाँति कविता में सजीव रक्तत्त्व (ब्लड एलीमेंट) बहुत थोड़े शब्दों में चित्र खड़ा कर देने की क्षमता है।"[२] चूँकि सौन्दर्य प्रेम का सहायक है और वास्तव में प्रेम

१. प्रकृति और हिन्दी काव्य—डा. रघुवंश (पृ. १८९)
२. व्यक्ति और वाङ्मय—श्री प्रभाकर माचवे (पृ. ४२)

की उत्पत्ति भी करता है अतः सौंदर्य वर्णन में निष्णात कवि विद्यापति ने स्वाभाविक ही प्रेमवर्णन में पूर्ण सफलता भी प्राप्त की है लेकिन उनकी प्रेमभावना में ऐन्द्रियता ही अधिक है और चाहे वे प्रत्यक्ष रूप से केलि को महत्व न देते हों परन्तु उसमें अश्लीलता की मात्रा कुछ कम नहीं है। श्री परशुराम चतुर्वेदी की दृष्टि में "विद्यापति ने प्रेम भाव के आकस्मिक उदय, उसके स्वरूप, उसकी तीव्रता, व्यापकता और उसके महत्व आदि का वर्णन, इतनी सूक्ष्मता और सफलता के साथ किया है कि उसके वास्तविक रहस्य की झलक मिले बिना नहीं रह पाती।"[1] पदावली में नायिका की संयोगावस्था और वियोगावस्था दोनों का ही चित्रण हृदयस्पर्शी है तथा कहीं कहीं कवि ने नायिका की हृद्गत भावनाओं को साकार रूप देकर इतनी कुशलता के साथ अंकित किया है कि उसकी भावप्रवणता की निपुणता देखते ही बनती है। विरह-व्यथित नायिका की मनोभावनाओं को अंकित करते समय वियोग की समस्त अंतर्दशाओं का भी कुशलता के साथ चित्रण किया गया है और जैसा कि श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने लिखा है "विद्यापति का विरह वर्णन प्रेमिका के हृदय की सच्चाई है—उसमें वेदना है, व्याकुलता है, प्रियतमा की प्रियतम के प्रति तल्लीनता है; कोरी हाय-हाय वहाँ नहीं है।"[2] वस्तुतः विद्यापति का विरह वर्णन ऊहात्मक नहीं है अपितु उसमें स्वाभाविकता भी है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पदा-वली का कलापक्ष ही सुघर नहीं है अपितु उसका भावजगत भी विस्तृत है तथा रसव्यंजना, भावाभिव्यक्ति, भाव सौन्दर्य आदि उत्तम काव्य के समस्त गुण उनकी पदावली में दृष्टिगोचर होते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्यापति का हिंदी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है तथा उन्हें आशातीत लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है और उनकी काव्य-माधुरी तथा सुललित भाषा पर मुग्ध होकर अभिनव जयदेव, सुकवि कंठहार, कविशेखर और कविरंजन जैसी उपाधियाँ भी प्राप्त हुई हैं। राजाश्रित कवि होते हुए भी उन्होंने लोक जीवन को अपनाया है और उनकी इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनके पद लोकगीतों के रूप में प्रचलित हो गए हैं तथा मिथिला में कदाचित ही कोई ऐसी स्त्री हो जिसे विद्यापति

---

१. हिन्दी काव्य धारा में प्रेमप्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ. ४०)
२. विद्यापति पदावली—संकलनकर्ता श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (परिचय पृ. ४०)

को पद कंठस्थ न हों। प्रेमप्रधान पदावली को मिथिला में 'निरहुनि' और अभिसार भावगर्भ कृतियों को 'बटगमनी' कहा जाता है तथा वैवाहिक प्रसंगों पर उनका गान अवश्य होता है। साथ ही वे पद जिनमें कि नायक को नायिका के वशीभूत कराने वाले भावों का चित्रण होता है 'जोग' और नायिका के अनुनय तथा विनय से पूर्ण पद 'उचिती' कहलाते हैं अतः हम देखते हैं कि विद्यापति पदावली को न केवल साहित्यज्ञों में अपितु जन साधारण में भी आदरणीय स्थान प्राप्त है। डा. सूर्यकान्त शास्त्री ने उचित ही लिखा है "उपमा और उत्प्रेक्षा की स्वच्छता में, प्रकृष्ट भावनाओं की ऊँची उड़ानों में और प्रतिभा के ऐन्द्रिय नृत्य में यह हिंदी कवियों के सिरमौर हैं। उनकी भाषा, उनका पदविन्यास, उनकी रचना चातुरी अपनी जैसी आप ही है। उनकी कविता में सरलता, सौम्यता, धार्मिक ऐन्द्रियता सबकी सब विराजमान है। संस्कृत साहित्य को मथ इन्होंने उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा और चुभती उपमाएँ इकट्ठी कर दी हैं। संस्कृत-साहित्य की ऐन्द्रियता को निचोड़ कर कूजे में बंद कर दिया है। अलंकारों के मोती तो कविता के हार में ऐसे सजाए हैं कि देखते ही बनता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि विद्यापति के गीत सौन्दर्य के सार हैं और ऐन्द्रिय प्रेम के ललित प्रसून हैं।"[1] स्वयं विद्यापति के शब्दों में—

> माधुर्य प्रभवस्थली गुरु यशो विस्तार शिक्षा सखी।
> यावद् विश्वमिदं च शेखर कवे विद्यापते भारती॥

---

१. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डा. सूर्यकान्त शास्त्री (पृ. १३८)

कबीर की कविता

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उचित ही लिखा है कि "हिंदी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।"[1] वस्तुतः युग की श्रेष्ठतम विभूतियाँ काल प्रसूत ही होती हैं और कबीर के सम्बन्ध में तो यह बात पूर्ण रूप से सत्य प्रतिपादित होती है। स्मरण रहे कि मध्ययुग में रूढ़िवादी, सामंजस्यवादी और स्वतंत्र नामक तीन श्रेणियों के विचारक दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इनमें से तृतीय श्रेणी के उदारवृत्ति वाले चिन्तकों को ही विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि उनका लक्ष्य सर्वतोन्मुखी सुधार द्वारा रूढ़िवादी विचारधारा का खंडन करना था। इस प्रकार वे शास्त्रीय विधिविधान, वर्णाश्रम धर्म तथा प्रामाण्यवाद में विश्वास नहीं करते थे और साथ ही उन्हें अंधानुसरण तथा अंधविश्वास से भी विशेष घृणा थी। यद्यपि भारत में स्वतंत्र चिन्ता का स्रोत अनादिकाल से ही प्रवाहित हो रहा है और वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक कुछ-न-कुछ ऐसे विचारक अवश्य थे जिन्होंने कि अपनी स्वतंत्र विचारधारा के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं परन्तु स्वामी शंकराचार्य के प्रभाव से जब बौद्धधर्म पतनोन्मुख महायान, हीनयान वज्रयान, सहजयान, नाथपंथ आदि विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विभाजित हो गया तो धर्मक्षेत्र में भी अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। इधर भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने पर अपेक्षाकृत मारकाट और संघर्ष भी कम होता गया तथा हिंदू और मुसलमान दोनों में एक दूसरे को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। अतः इन स्वतंत्र चिन्तकों ने धार्मिक क्षेत्र की विशृङ्खलताओं को दूर करते हुए सबको मर्यादित कर न केवल एक सात्विक और स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया अपितु सबल तर्कों सहित हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की आवश्यकता को श्रेयस्कर समझते हुए समताभाव का महत्व प्रतिपादित [illegible] साहित्य में संत कवियों को हम [illegible] जाता

1. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

है और यह तो सर्वविदित ही है कि हिंदी संत-साहित्य में कबीर का अपना विशिष्ट स्थान है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में "सत्य के उस अरूप उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्तना, कट्टर क्रांतिकारी क्रांति और कठोरता, अनन्य भक्ति की विनम्रता और प्रेमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता, सच्चे साधु की आचरण-प्रियता, आदर्श पुरुष की कर्तव्यपरायणता, योगियों की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर कबीर की अक्खड़ता थी।"[1]

स्मरण रहे कि गार्सां द तासी की दृष्टि में "उनका नाम 'कबीर' केवल एक उपाधि है जिसका अर्थ सबसे बड़ा है। लोग उन्हें ज्ञानी नाम से भी पुकारते हैं।"[2] साथ ही उनके नाम के सम्बन्ध में बहुत सी जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं और इस प्रकार जहाँ कि एक ओर यह कहा जाता है कि चूँकि कबीर का जन्म हाथ के अँगूठे से हुआ था अतः उन्हें करबीर या कबीर कहा जाने लगा वहाँ दूसरी ओर यह किम्वदन्ती भी प्रचलित है कि कबीर के नामकरण के अवसर पर जब काजी ने उनका नाम निश्चित करने के लिए कुरान देखी तो उसे सर्वप्रथम कबीर शब्द ही दृष्टिगोचर हुआ अतएव उसने उनका नाम कबीर रख दिया। अरबी भाषा में कबीर का अर्थ महान होता है तथा इस शब्द का प्रयोग प्रायः ईश्वर के विशेषण के रूप में भी किया जाता है और यदि हम कबीर-साहित्य का अवलोकन करें तो हमें स्पष्ट रूप में यही प्रतीत होता है कि कबीर ने प्रायः जहाँ कहीं अपने नाम का प्रयोग किया है वहाँ वस्तुतः उनका अभिप्राय महान से ही है।[3] कबीर के जीवनवृत्त के विषय में तो विभिन्न मत प्रचलित हैं तथा विचारक अभी तक किसी भी उचित निष्कर्षपर नहीं पहुँच सके हैं और यहाँ हमारा उद्देश्य भी उनके जीवन-वृत्तान्त पर प्रकाश डालना नहीं है अतः हम कबीर के कृतित्व का ही मूल्यांकन करेंगे। यों तो संत-साहित्य में कबीर का अपना विशिष्ट स्थान है ही और उन्होंने अत्यंत सफलता के

१. कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत (पृ० १०९)

२. हिंदुई साहित्य का इतिहास—गार्सां द तासी—हि० अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (पृ० २१)

३. एक उदाहरण देखिए—

कबीरा तू ही कबीरु तू तोरो नाम कबीर।
राम रतन तब पाइदे जउ पहिले तजहि सरीर॥

साथ स्पष्ट रूप में धार्मिक पाखण्डों का विरोध करते हुए सत्यानुमोदन ही किया है लेकिन साथ ही उनका साहित्यिक कृतित्व भी कुछ कम महत्व नहीं रखता। यद्यपि एक विचारक ने यह लिखकर कि "कबीर-दास जैसा लिखा जा चुका है, केवल एक योगी या संत थे और उन्हें अपने एक पंथ (मत) विशेष का उपदेश एवं प्रचार करना ही इष्ट था। वे कुछ पढ़े लिखे और अधीत न थे, उनमें काव्य-शास्त्रादि का भी ज्ञान शून्य ही था"[1] कबीर का साहित्यिक महत्व स्वीकार नहीं किया है लेकिन अंत में ये स्वयं ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "कल्पना, भाव (विचार) और भावनाओं के विचार से आपका काव्य अवश्य सत्काव्य कहा जा सकता है। आप ही सबसे प्रथम महात्मा हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रभाव से हिन्दी का अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय हित किया है।"[2] वस्तुतः यह धारणा कि कबीर एक सत्कवि नहीं थे उपयुक्त नहीं है क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो उनकी कविता में काव्यगत विशिष्टाओं का अभाव नहीं है और उसमें अपनी निजी काव्यसुषमा भी विद्यमान है।[3] श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "कबीर साहित्य उन रंग-बिरंगे पुष्पों में नहीं जो सजे-सजाये उद्यानों की क्यारियों में किसी क्रम विशेष के अनुसार उगाए गए रहते हैं और जिनकी छटा और सौंदर्य का अधिकांश योग्य मालियों के कलानैपुण्य पर भी आश्रित रहा करता है। यह एक वन्य कुसुम है जो अपने स्थल पर अपने आप उगा है और जिसका विकास केवल प्राकृतिक नियमों पर ही निर्भर रहा है। उसके आकार-प्रकार अथवा रूप-रंग पर कभी भी किसी कृत्रिम वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ा और न उसका पौधा तक कभी किसी निश्चित क्रम या काट-छाँट का अभ्यस्त रहा। इसका

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (पृ० १७०)

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (पृ० १७२)

३. "हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य में रोचकता का ह्रास है, उनकी भाषा अक्खड़ है, उसमें दार्शनिक पदों का ही बाहुल्य है और वे पद भी अधिकतर पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं है, परन्तु कबीर में महान् कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं। उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गांभीर्य है। उनके काव्य में उनका हृदय प्रतिबिम्बित है, अपनी निजी कल्पना का जीता जागता चित्र है, अपना निजी सन्देश है।"

—कबीर : सिद्धान्त और रहस्यवाद—श्री सोमनाथ गुप्त (परिषद् निबंधावली, द्वितीय भाग पृ० १५५)

अपना निजी माधुर्य है और निजी सौन्दर्य है और इसकी विशेषताओं का सादृश्य केवल उन्हीं अन्य कुसुमों में मिल सकता है जिनका विकास भी वैसे ही वन्य जीवन में हुआ हो।"[1]

यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर एक धर्मगुरु थे और उनकी वाणियों में आध्यात्मिकता का स्रोत ही प्रवाहित हो रहा है तथा उनका उद्देश्य भी काव्यसृजन न होकर उपदेश देना मात्र था लेकिन भक्तिभावना में रत कबीर के मानस से जो उद्गार निकले हैं वे ही उनकी काव्यकला-कुशलता के परिचायक कहे जा सकते हैं और श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर ने तो उन्हें सत्कवि मानकर उनके बहुत से पदों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। स्मरण रहे कि कबीर के नाम पर जो रचनाएँ कही जाती हैं उनका कुछ हिसाब ही नहीं है और कबीर-पन्थियों का तो यह भी कहना है कि सद्गुरु अर्थात् कबीर की वाणी अनन्त है परन्तु चूँकि स्वयं कबीरदास ही यह कहते हैं कि वे साक्षर नहीं थे तथा प्रायः सभी विचारकों ने स्वीकार कर लिया है कि उनकी वाणियों का संग्रह दूसरों ने ही किया है अतः यह कहना सहज नहीं है कि कौन सी रचना उनकी स्वयं की है और कौन सी परवर्ती अन्य संतों की है क्योंकि यह तो निर्विवाद सत्य है कि उनकी कृतियों में अधिकांश स्वयं उन्हीं के द्वारा रचित नहीं हैं। स्व० रामदास गौड़ ने उनकी ७१ पुस्तकों की एक लम्बी सूची दी है[2] और डा० रामकुमार वर्मा ने खोज की रिपोर्टों के आधार पर ५१ पुस्तकों की एक तालिका प्रस्तुत की है[3] तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर द्वारा रचित कहे जानेवाले लगभग ४३ मुद्रित ग्रन्थों के नाम दिए हैं।[4] बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस ने भी 'बोधसागर' नाम से ११ जिल्दों में कबीर के ग्रन्थों का संग्रह छापा है परन्तु इन समस्त ग्रन्थों में प्रामाणिक कितने हैं यह कहना सहज नहीं है। साथ ही कबीर की कृतियाँ पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी से तो प्रभावित जान पड़ती ही हैं लेकिन कभी-कभी ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिन पर मराठी एवं गुजराती भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है और इस प्रकार के पद्य पूना से प्रकाशित 'संतगाथा' तथा

---

१. कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (प्रस्तावना, पृ० ३)
२. हिन्दुत्व —स्व० रामदास गौड़ (पृ० ७३४)
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० ३५८-३७)
४. हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १२१-१२२)

गुजरात से उपलब्ध एकाध संग्रहों में मिलते भी हैं। डा० श्यामसुन्दर-दास ने तो संवत् १५६१ की लिखी हुई एक हस्तलिखित पुरानी पोथी को प्रामाणिक मानते हुए उसे 'कबीर ग्रंथावली' के नाम से नागरी प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित भी करवाया है परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी उक्त प्रति को काफी प्राचीन मानते हुए भी उसे सं० १५६१ के पश्चात् की लिखी मानते हैं[1] लेकिन श्री परशुराम चतुर्वेदी और श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की दृष्टि में उसका प्रतिलिपिकाल सं० १५६१ ही है।[2] डा० रामकुमार वर्मा ने तो 'गुरुग्रंथ साहिब' में अवतरित कबीर के वचनों को ही प्रामाणिक माना है और 'संत कबीर' नामक एक संग्रह भी प्रकाशित करवाया है परन्तु पं० चन्द्रबली पांडे की दृष्टि में उसमें भी कबीर के काव्य का शुद्ध रूप दृष्टिगोचर नहीं होता[3] लेकिन श्री परशुराम चतुर्वेदी ने आदि ग्रन्थ के पाठ को प्रामाणिक ही माना है।[4] कबीर के नाम पर प्रकाशित कृतियों में 'कबीर बीजक' को विशेष महत्व दिया जाता है तथा कबीर पंथ के अनुयायी तो उसे परम आदरणीय एवं पूज्यनीय धर्म ग्रन्थ समझते हैं और सर जार्ज ग्रियर्सन बीजक का अर्थ The chart of secret treasure मानते हैं तथा Key की दृष्टि में उसका अर्थ a document by which a hidden treasure can be located है। लेकिन बीजक के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसे लेकर भगवानदास नामक शिष्य भाग गया था और उसने उसे विकृत भी कर डाला था अतः ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उसका कितना अंश प्रामाणिक है। कबीर की वाणी को बीजक, शब्द, साखी और रमैनी नामक चार भागों में विभाजित किया जाता है जिनमें से बीजक में कबीर की शिक्षाओं के संग्रह के साथ-साथ स्वमत प्रतिपादन को महत्व देते हुए परमत खण्डन पर जोर दिया गया है तथा कबीर के पदों को शब्द कहा जाता है और दोहों को साखी जिनमें कि धर्म एवं नीति सम्बन्धी अनेकानेक शिक्षाएँ हैं तथा रमैनी के अन्तर्गत जिसमें कि अनेक कूट पद भी सम्मिलित हैं

---

१. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १९-२०)
२. कबीर साहित्य की परख—श्री परशुरामचतुर्वेदी (पृ० ७४-७६) और कबीर साहित्य का अध्ययन—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव (७३-७८)
३. हिन्दी कवि चर्चा—पं० चंद्रबली पांडे (पृ० ६३-७२)
४. कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ७७-७८)

उन्होंने अपने निजी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। यद्यपि कबीर ने विशेष रूप से दोहों में ही अपनी अधिकतर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और नीति सम्बन्धी उनकी साखियाँ तो सर्वसाधारण में विशेष रूप से प्रचलित भी हैं परन्तु साथ ही उन्होंने पदों को भी अपनाया है और इस प्रकार हिन्दी गीतिकाव्य को अलंकृत करने का श्रेय भी उन्हें मिलना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि "कबीर 'क्रान्तदर्शी' आत्मज्ञानी संत"[१] तथा एक सच्चे भक्त थे और भगवत् साधना ही उनका ध्येय था लेकिन विचारकों में उनकी साधना और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पारस्परिक मतभेद सा पाया जाता है तथा कभी-कभी उनकी साधना-पद्धति को अभारतीय भी समझ लिया जाता है।[२] कबीर की कृतियों का अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी भी सिद्धान्त को निर्भ्रान्त रूप से सर्वमान्य मानकर चलना अनुपयुक्त ही समझते हैं और साथ ही आधारस्वरूप किसी धर्म ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी स्वीकार नहीं करते बल्कि उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ समन्वयवादी ही है तथा अण्डरहिल ने तो उनकी ब्रह्मविषयक अनुभूति को ही समन्वयात्मक कहा है।[३] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, इसीलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू-मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।"[४] परन्तु स्मरण रहे कि कबीर के समन्वयवाद को किसी विशिष्ट वाद की संज्ञा देना भी उचित नहीं है और न उसे किसी प्रकार का समझौता या विभिन्न वादों से संगृहीत उत्तम विचारों का संकलन ही समझना चाहिए बल्कि जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है "कबीर साहब के समन्वयवाद की आधार शिला परमतत्व के केवल, नित्य तथा एकरस होने, उस पर आश्रित बहुरूपिणी सृष्टि के

---

१. संत साहित्य—श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' (पृ० १४)

२. "Yet the Bhakti movement to which he (Kabir) was undoubetdly under obligation to christian ideas".
—Kabir and his followers–F. E. Keay (chap. XI)

३. हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर—रवीन्द्रनाथ टैगोर (इंट्रोडक्शन पृ० २२)

४. कबीर का योग—श्री० क्षितिमोहन सेन (कल्याण, योगांक–पृ० २९९)

अस्थिर होने और उसके विविध अंगों के उनकी मौलिक एकता के कारण एक समान सिद्ध होने पर स्थित है।"[१] यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर का प्रदुर्भाव इस प्रकार की युग-सन्धि में हुआ था जब कि धर्म-साधनाओं और मानवीय मनोभावनाओं में विविधता सी दीख पड़ती थी तथा हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक सौहाद्रता को बढ़ाना भी अत्यंत आवश्यक था अतः कबीर का समन्वयवादी दृष्टिकोण यहाँ भी सहायक हुआ है और जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है " कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुणभावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुणसाधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।"[२] कहा जाता है कि कबीर की कृतियों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने अवतारवाद का समर्थन किया है परन्तु सम्भवतः इस प्रकार के प्रसंग प्रक्षिप्त ही होंगे क्योंकि उनकी रचनाओं में तो उसी प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जिनमें कि प्रतिमा-पूजन, तीर्थव्रत, वेदाध्ययन, अवतारवाद इत्यादि सभी बाह्याचारों का खंडन किया गया है।[३] यद्यपि कबीर ने रामानंद जी के प्रधान उपदेश अनन्य भक्ति को स्वीकार कर लिया था और वे राम के अनन्य भक्त भी हो गए थे परन्तु राम नाम की महिमा का

१. कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ११०)
२. हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १२०-१२१)
३. कुछ उदाहरण देखिए—

> चारि बेद चहुँ मत का विचार। इहि भ्रम भूलि परयौ संसार।
> सुरति सुमृति दोउ को विसवास। बाझि परयौ सब आसापास॥
>
> × × ×
>
> पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तू राम न जपहि अभागी।
> बेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चंदन जैसे भारा।
> राम नाम तत समझत नाहीं अंति पडै मुखि छारा॥
>
> × × ×

वर्णन करते हुए वे अवतारवाद को नहीं मानते हैं और उनके राम पुराणों में वर्णित राम नहीं हैं अपितु निर्गुण ही हैं और सर्वत्र व्याप्त हैं।[1] डा. भगीरथ मिश्र के शब्दों में "कबीर के निर्गुण राम परम-तत्त्व के रूप में ही हैं। हम उन्हें किसी मूर्ति में सीमित नहीं कर सकते। वे घट-घट में, जड़-चेतन में, लोक-लोक में व्याप्त हैं।"[2] स्मरण रहे कि कबीर की विचार-धारा पर शंकराचार्य और उनके अद्वैतवाद का भी विशेष प्रभाव पड़ा है तथा वे 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' नामक सिद्धान्त के अनुयायी ही प्रतीत होते हैं। कबीर जीव और ब्रह्म की एकता तो स्वीकार करते ही हैं[3] तथा साथ ही शंकराचार्य की भाँति अवतारादि को माया का ही विकार समझते हैं।[4] इस प्रकार कबीर ने ब्रह्म को निर्गुण और गिराज्ञानगोतीत ही माना है तथा उसे सर्वत्र ही व्यापक और आत्मा में अंतर्हित मानते हुए साधक को उसकी खोज स्वयं करने के लिए कहा है। गासाँ द तासी ने भी स्पष्ट रूप में लिखा है

योग यज्ञ जप संयमा तीरथ व्रतदाना
नवधा वेद किताब है झूठे का बाना
× × ×
ब्रह्मा विष्णु महेश्वर कहिये इनसिर लागी काई
इनहिं भरोसे मत कोऊ रहियो इनहूँ मुक्ति न पाई।

१. राम का नाम ते पिंड ब्रह्मांड सब, राम का नाम सुनि भरम मानी।
निरगुन निरंकार के पार परब्रह्म है, तासु को नाम रंकार जानी॥

और भी—

निर्गुन राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरनाँ मरम न जाना॥

२. अध्ययन—डा. भगीरथ मिश्र (पृ. ८५)

३. जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथ्यौ गियानी॥

४. सन्तों आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके ना कहुँ गया न आया॥
वै कर्ता न बराह कहावै धरणि धरै नहिं भारा।
ई सब काम साहिब के नाहीं झूठ कहै संसारा॥
सिरजनहार न ब्याही सीता जल पखान नहिं बंधा।
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा॥
दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा॥

"कबीर की सभी रचनाओं में ईश्वर की एकता में दृढ़ विश्वास और मूर्ति पूजा के प्रति घृणा भाव व्याप्त है।"[१] वस्तुतः कबीर का ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों से ही परे है तथा उन्होंने शून्य और सहज को भी माना है परन्तु कदाचित उन्होंने इन शब्दों को बौद्ध धर्म और सहजयान सम्प्रदाय से ग्रहण नहीं किया क्योंकि उनकी शून्य-भावना और सहज-साधना का दूसरा ही अर्थ निकलता है। कबीर की कविता में हठयोग का उल्लेख भी अनेक स्थानों में हुआ है और उनके पदों में बंकनालि, सुषुम्ना, मेरुदंड, षट्दल कमल तथा कुंडलिनी को जाग्रत करने की क्रियाओं का भी वर्णन है। स्मरण रहे कि कबीर साहित्य में योग सम्बन्धी दो विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें से प्रथम में तो योगसम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार कर योगपरक रूपकों से आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है और साथ ही सिद्धों तथा नाथपंथियों की भाँति अनेक संकेतार्थी शब्द भी उलट-बाँसियों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। संभवतः कबीर ने कदाचित योग-पंथ की साधना को प्रारम्भिक अवस्था में ही ग्रहण किया है क्योंकि बाद में तो वे सहज समाधि का ही महत्व अंकित करते हैं तथा योग की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए अवधू को मुद्रा, आसन, षटकर्म आदि त्यागने का भी उपदेश देते हैं। स्मरण रहे कि कबीर के काव्य में रहस्य-वादी भाव-धारा भी दृष्टिगोचर होती है और विचारकों ने तो उनकी भावभूमि पर प्रकाश डालते हुए उन्हें रहस्यवादी कवि भी माना है।[२]

---

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास—गार्सां द तासी—अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (पृ० २१)

२. "The poetry of mysticism might be expreseed as a temperamental reaction to the vision of reality and also as a form of prophecy. As it is the special vocation of the mystical consciousness to mediate between the temporal and the spiritual world, so the artistic expression of this consciousness has also a double character. It is love poetry, but love poetry which is often written with a missionary intention. Kabir's songs are of this kind: outburst of rapture and of charity. As they have been written in popular Hindi, they were addressd to the people rather then to the professinally religious class. A constant employment in them of the imagery drawn from the common life makes these songs

डा० रामकुमार वर्मा की दृष्टि में तो "कबीर का रहस्यवाद अपनी विभिन्नता लिए हुए है। वह एक ओर तो हिंदुओं के अद्वैतवाद की गोद में खेलता है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी सिद्धान्तों को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही था कि कबीर हिंदू और मुसलमान दोनों प्रकार के संतों के सत्संग में रहे और वे आरम्भ से ही यह चाहते थे कि दोनों धर्मवाले आपस में दूध पानी की तरह मिल जायँ। इसी विचार के वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफीमत की गंगा-जमुनी साथ ही बहा दी।"[१] सांसारिक दृष्टि से अद्वैतमतावलम्बी और निर्गुणवादी कबीर ने माधुर्य भाव से भी उपासना की है तथा सूफी संतों के साथ सम्पर्क रहने के कारण सूफियों की ही भाँति प्रेम को ही ईश्वर प्राप्ति का साधन समझा है परन्तु सूफियों की प्रेमसाधना और कबीर की प्रेमभावना में विभिन्नता होने के कारण उनकी रहस्यवादी भावनाओं में भी अन्तर है। स्मरण रहे कि कबीर ने तो अपने आपको राम की बहुरिया कहकर ईश्वर के साथ अपना आध्यात्मिक विवाह भी कराया है अर्थात् वे भारतीय परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने आपको स्त्री मानकर ही ईश्वर के प्रति प्रेम प्रकट करते हैं लेकिन सूफियों ने तो ठीक इसके विपरीत साधक को पुरुष माना है तथा ईश्वर को स्त्री या प्रेमपात्र और इस प्रकार सूफी सन्त

universal in their appeal. It is by the simplest metaphors, by appeals to needs, passions, relations, which all men understand and that he drives home his intense conviction in the mystical experience of life. The bridegroom and brid, the "guru" and disciple, the pilgrim, the former, the migrant bird link the 'natural' and 'supernatural' worlds. When the mystic has achieved the theophanic state, all aspects of *the universe are equal, sacramental* declarations of the ultimate reality. Kabir 'melts and merges' into a unity by, ascending to a height of spiritual intuition where there is no room for incompatible concepts either of religion or of philosophy."

—*Tagore's Introduction to 100 Poems of Kabir*

१. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० २८)

परमात्मा को तो नारी और साधक को पुरुष मानते हैं जब कि कबीर ने साधक को स्त्री या प्रेमिका और ईश्वर को पुरुष या प्रियतम कहा है। इस प्रकार कबीर के पदों में कहीं तो 'दुलहिन का मधुर उल्लास' दृष्टिगोचर होता है और कहीं 'विरह व्यथित विरहिणी की पुकार' तथा प्रेम की तन्मयता भी उनके पदों में कूट कूट कर भरी हुई है। कबीर के रहस्यवाद का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है और उसे किसी विशिष्ट प्रकार के रहस्यवाद की कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता तथा वह एकांतिक नहीं है अपितु प्रवृत्यात्मक है और उसमें एकात्मानुभूति के साथ-साथ प्रेमतत्त्व को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। श्री अयोध्या-सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में "कबीर साहब हिन्दी संसार में रहस्यवाद के प्रधान स्तम्भ हैं।"[1] कबीर की साधना-पद्धति की मूल विशेषता यह है कि उन्होंने राम और रहीम दोनों को ही एक माना है हिन्दुओं के अन्धविश्वासों पर व्यंग्य करने के साथ साथ मुसलमानों की क्रूरता और हिंसा का भी उपहास किया है और कबीर पन्थ में तो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। कबीर के सिद्धांतों में तो आचार-विचार को भी अत्यन्त महत्त्व दिया गया है और उन्होंने आत्मदर्शन के हेतु आचार विचारों की शुद्धता अनिवार्य समझी है तथा आत्मज्ञानी में संयम, संतोष, सुशीलता, निर्विकारता, गम्भीरमति, धैर्य, दया, निर्वैर, समता, कोमलता, सेवा, परस्वार्थ, निष्काम कर्म आदि गुण आवश्यक माने हैं। डा० इन्द्रनाथ मदान की दृष्टि में "उन्होंने योगियों का हठयोग, सूफियों का प्रेम, ब्राह्मणों का अद्वैतवाद और मुसलमानों का एकेश्वरवाद लेकर उसको ऐसा रूप दिया कि उसमें मानवता की काया निखर उठी और साधक और भक्तों को अपने अनुकूल वस्तु मिल गई।"[2]

स्मरण रहे कि विद्यापति ने जहाँ एक ओर काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा और एक विशेष कला माना है वहाँ ठीक इसके विपरीत दूसरी ओर कबीरदास कविता को निःसार वस्तु समझते हैं तथा उनकी दृष्टि में ग्रन्थसृजन और काव्य-लेखन एक प्रकार से व्यर्थ का परिश्रम ही है[3]

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० १७८)

२. हिन्दी कलाकार—डा० इन्द्रनाथ मदान (पृ० ७)

३. "कबीर के विचार से कवि और विद्वान कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं थे। वे दोनों ही

परन्तु वास्तव में वे "साधना के क्षेत्र में युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा"[1] अतः एक सफल साधक के साथ-साथ उन्हें कुशल कवि भी मानना चाहिए। वस्तुतः कला का मूल-तत्त्व शुद्ध अनुभूति ही है जो कि हमारे रागप्रधान जीवन में ही नहीं विचार-प्रधान जीवन में भी सम्भव है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान और दर्शन के सत्य को भी हम अपने आनन्द का विषय मान सकते हैं।[2] इस प्रकार कबीर की कविता को कवित्वहीन कहना अनुपयुक्त ही है। वस्तुतः उनके मानस में सचाई थी तथा आत्मा में असीम साहस अतः स्वाभाविक ही उनकी वाणी में शक्ति आ गई और जैसा कि डा० इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है "अनुभूति की गहराई कबीर में इतनी है कि वे सीधे हृदय पर चोट करते हैं। + + + यद्यपि कबीर प्रतिज्ञा करके कविता लिखने नहीं बैठते तथापि यदि कोई कविता की मार्मिक अनुभूति ढूँढना चाहे तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। वे अपनी इस अनुभूति के बल पर सहज ही महाकवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, सन्देश प्रधान है। यह सन्देश इतना प्रधान है कि उनकी कविता में अलंकारादि का चमत्कार न होने पर भी रस की कमी नहीं है। इसी सन्देश के बल पर वे महान् कवि हैं। + + + उनका काव्य जीवन के अत्यन्त निकट है जो रहस्य-वाद की अनुभूति से आच्छादित होते हुए भी स्फटिक की भाँति स्वच्छ और काँच की भाँति पारदर्शी है।"[3] यों तो उनकी कविता में शान्त

मरे हुए व्यक्ति थे—क्योंकि अमर आत्मा की ज्योति जगाकर इन्होंने अपने को सजीव नहीं किया था। उनका कथन है—

कवि कबीने कविता मुए।
तथा
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोई।
(साखी)

इससे यही अर्थ निकलता है कि कविता के विषय में उनकी एक अपनी धारणा थी।"
—अध्ययन : डा० भगीरथ मिश्र (खण्ड २, पृ० ११)

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० ९८)
२. The matter of literature is pure experience which is possible not only in emotional life but also in intellectual life. Truth of scince and Philosophy may also be enjoyed.
-Principles of Literary criticism—L. Abercrombie.
३. हिन्दी कलाकार—डा० इन्द्रनाथ मदान (पृ० ११-११)

रस की ही अधिकता है परन्तु साथ ही शृङ्गाररसपूर्ण स्थलों की भी कुछ कमी नहीं है तथा प्रेमवर्णन में तो उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः "कबीर की कविता भावयोग का उत्कृष्ट नमूना है"[1] और उसमें संयोग तथा वियोग के सरस उदाहरणों का अभाव नहीं है। हो सकता है उनके विरह-वर्णन में सूर की सी सरसता न हो परन्तु कई ऐसे प्रसंग हैं जहाँ कि विरह-व्यथित मानस की झाँकी प्रस्तुत करने में वे पूर्ण सफल रहे हैं और उनकी विरहिणी आत्मा की पुकार तो निश्चय ही काव्य-जगत में अद्वितीय है। बहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ पर कबीर की सौन्दर्यानुभूति भी झलक उठती है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी सौन्दर्य-भावना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है परन्तु उन्होंने किसी भौतिक पदार्थ या किसी विशिष्ट रूपरेखा की परिधि में आनेवाली वस्तु का आधार लेकर उसे सीमित नहीं कर दिया है। कहीं-कहीं उनकी कृतियों में इब्नेसिना के सौन्दर्यवाद की छाया भी दृष्टिगोचर होती है और कुछ स्थलों में तो ब्रह्म का वर्णन बहुत कुछ अंशों में अनिर्वचनीय सौन्दर्यवाद से प्रभावित सा जान पड़ता है।

कबीर की कविता के भावपक्ष की सुघरता पर प्रकाश डालने के पश्चात् जब हम उनके कलापक्ष पर विचार करते हैं तो सर्वप्रथम कठिनाई यह आती है कि वस्तुतः कबीर की भाषा किस प्रकार की थी क्योंकि उनकी भाषा का एक निश्चित स्वरूप नहीं है और उसमें अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण है। रेवेरेंड अहमदशाह ने तो उनकी काव्य-भाषा भोजपुरी या उससे किसी मिलती-जुलती बोली को माना है और जार्ज ग्रियर्सन पुरानी अवधी को जो कि पश्चिमी मिर्जापुर, इलाहाबाद और अवध की लोकभाषा है उनकी भाषा मानते हैं तथा साथ ही वे कबीर की अवधी को तुलसी की अवधी से भिन्न मानते हैं। स्मरण रहे कि स्वयं कबीर ने अपनी बोली को पूर्बी कहा है[2] परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी उनकी उस साखी का आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करना ही उचित समझते हैं। आचार्य शुक्लजी और बाबू गुलाबराय ने तो उनकी भाषा को सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा कहना ही उपयुक्त समझा है परन्तु श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव उसे खड़ी दक्खिनी का पूर्व रूप

१. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डा० सूर्यकान्त शास्त्री (पृ० ८४)

२. बोली हमरी पूरब की, हमैं लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥

जाए तो कबीर की कविता में रूपकों का ही सर्वाधिक प्रयोग हुआ है परन्तु डा० रामकुमार वर्मा की दृष्टि में "कबीर के रूपक स्वाभाविक होने पर भी जटिल हैं। यद्यपि उनके रूपक पुष्प की भाँति उत्पन्न होते हैं और उन्हीं की भाँति विकसित भी पर उनमें दुरूहता के काँटे अवश्य होते हैं।"[१] रूपक के साथ-साथ अनुप्रास, विभावना, असंगति अन्योक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, श्लेष और समासोक्ति का भी उन्होंने प्रयोग किया है[२] तथा लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों की भी अधिकता है अतः जैसा कि मिश्रबंधुओं ने लिखा है—"इन्होंने ऐसी विलक्षण रचना की है कि इनके सैकड़ों पद कहावतों के रूप में आज सब छोटे बड़ों की जिह्वा पर हैं।"[१] व्यंग्य के सरस सुमधुर उदाहरण भी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं तथा पंडितों और मौलवियों को जो उन्होंने खरी-खरी बातें सुनाई हैं उनमें व्यंग्य की छटा देखते ही बनती है। स्मरण रहे कि व्याकरण की दृष्टि से जो कबीर की कविता पर विकृत शब्दों का प्रयोग तथा कारक चिह्नों की अशुद्धियों की अधिकता इत्यादि दोषों का आरोप लगाया जाता है और पिंगल की दृष्टि से जो उसमें छंदोभंग के उदाहरण मिलते हैं उन सबका बहुत कुछ उत्तरदायित्व प्रतिलिपिकारों पर ही है।

१. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० ४६)

२. कुछ उदाहरण देखिए—

अनुप्रास—

(१) गगन घटा गहरानी साधो गगन घटा गहरानी।
(२) बाबा बंदहि बंद मिला, बदहि बिंद बिछुरन पाता॥
(३) माया मोह मद मैं पीया, मुगध कहै यहु मेरी रे।
(४) फूफा बिन फूकों फल होई ता फल फक लहै जो कोई॥

विभावना—

तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाके, अष्टगगन मुख बागा॥
पैर बिन निरत करा बिन बाजै, जिभ्या हीणी गावै।
गावणहारे कै रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै॥

अन्योक्ति—

काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास जल में नलनी तोर निवास॥
ना जल तपन न ऊपर आग, तोर हेतु कहु कासन लाग।
कहत कबीर जो उदक समान, ते नहिं मुए हमारी जान॥

१. हिंदी नवरत्न—मिश्रबन्धु (पृ० ४७६)

साथ ही कबीर के पद पूर्णतः गेय हैं तथा उनका उपयोग भी भजनों के रूप में भी किया जाता है और स्वयं कबीर की उक्तियों से यह प्रकट होता है कि उनके समय में वे पद गाए जाते थे।[1] गीतों में कबीर को रूपमाला, सोहर, विष्णुपद, सार आदि छंदों के उपयोग में भी पूर्ण सफलता मिली है लेकिन कभी-कभी एक ही पद में अनेक छन्दों का समावेश भी कर दिया गया है। कबीर की कृतियों में संगृहीत रचनाएँ रागों के अनुसार विभाजित हैं लेकिन भिन्न-भिन्न संग्रहों में वे विभिन्न रूपों में विभाजित हैं अतः इससे यही अनुमान होता है कि वे कई प्रकार से गेय हैं। जहाँ कि आदि ग्रंथ के पदों का वर्गीकरण सिरी रागु, रागु गउड़ी, रागु आसावरी, रागु गूजरी, रागु सोरठि, रागु धनासरी, रागु तिलंग, रागु सूही, रागु बिलावलु, रागु गौंड, रागु रामकली, रागु मारू, रागु केदारा, रागु भैरउ, रागु बसंत, रागु सारंग और रागु प्रभाती के अनुसार किया गया है वहाँ 'कबीर ग्रंथावली' में ये राग गौड़ी, राग रामकली, राग आसावरी, राग सोरठि, राग केदारो, राग मारू, राग टोड़ी, राग भैरू, राग बिलावल, राग ललित, राग बसंत, राग माली गौड़ी, राग कल्याण, राग सारंग, राग मलार और राग धनाश्री के अनुसार विभाजित हैं। स्मरण रहे कि जौहेर्नी (उदयपुर) के संगीतज्ञ श्री कृष्णानंद व्यास ने 'राग कल्पद्रुम' के अंतर्गत 'कबीर बीजक' के शब्दों को रागनी आसावरी, ताल तितारा, धनाश्री तितारा, पूरबी तितारा, गौरी तितारा, भूपाली तितारा, कलिंग गौरि तितारा, एमन तितारा, केदारा तितारा, सोरठ तितारा, बिहाग तितारा, ठुमरी तितारा, देशी ठुमरी, खँमाइच तितारा, परज तितारा, रागिनी परज, मारू तितारा, कलिंगरा तितारा, काफी तितारा, जोगिया तितारा, सीधू तितारा, जत तितारा, सिं० तितारा, आहीरी तितारा, दादरा तितारा, राग कलिंग तितारा, राग सुरठ तितारा और हिंडोला धनाश्री नामक रागों के अनुसार विभाजित किया है। यह तो निश्चित ही है कि कबीर ने स्वयं अपने पदों का वर्गीकरण रागानुसार नहीं किया है परन्तु इन उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनके पद

---

१. पद गाएँ मन हरषिया, साखी कह्यां अनंद।
सोतत नाव न जाँणियां, गल में पड़िया फंद॥

संगीत की कसौटी पर खरे उतरते हैं तथा कवि को संगीत के प्रति अनुराग भी था और हमारी यह धारणा उस समय पूर्णतः सत्य प्रमाणित हो जाती है जब कि कई ऐसे प्रसंग व प्रयोग मिलते हैं जिनसे कि उनके रचयिता का संगीत प्रेम प्रकट होता है। 'तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचारि' जैसी पंक्तियों से उनका गीतिकार होना तो प्रकट होता ही है लेकिन साथ ही कवि ने अपने कुछ पदों में कहीं-कहीं वाद्ययंत्रों के स्वरूप एवम् बनावट का भी उल्लेख किया है। अतएव जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है "कबीर साहित्य में हमें केवल पदों का रागानुसार किया गया विभाजन ही नहीं मिलता। उसमें बहुत से ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनसे कबीर साहब की संगीत के प्रति अभिरुचि तथा उनकी तद्विषयक अभिज्ञता का भी कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की कविता का भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों ही निखरा हुआ है और संक्षिप्तता, भावोल्लास, तीव्रानुभूति तथा संगीतात्मकता की दृष्टि से वह निस्संदेह सराहनीय है। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "निर्गुण संत कवियों में प्रचार की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से तथा कविता की दृष्टि से भी कबीर का स्थान सर्वोपरि है, उनके पीछे प्रायः सब संतों ने अधिकतर उनका ही अनुसरण किया है।"[2] वस्तुतः श्री शिवदानसिंह चौहान ने उचित ही लिखा है "इस प्रकार कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आचार-प्रवणता और सामाजिक अन्याय और हिंदू मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की वे निश्चय ही युगानुरूप थे। यह कहकर कि 'सब के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय' उन्होंने मानवमात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के हित सबके लिए समान अधिकार की माँग की। इस विराट जन आंदोलन के सबसे प्रमुख और हठी नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए जीवन संदेश भी।"[3]

---

१. कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० १००)
२. हिंदी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास (पृ० १८५)
३. साहित्यानुशीलन—श्री शिवदानसिंह चौहान (पृ० ६४)

सूर-काव्य की विशिष्टताएँ

यदि विचार पूर्वक देखा जाए तो सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि कहना अनुचित न होगा और चूँकि 'हिन्दी के कवित कलेवर का सौंदर्य इन्हीं कवि-कुल-कमल दिवाकर के आलोक में दृष्टिगोचर हुआ है' अतः कतिपय विचारकों ने तो इन्हें हिन्दी का आदि कवि ही माना है।' यद्यपि सूरदास के पूर्व हिन्दी साहित्य में कई प्रसिद्ध कवि हो चुके थे परन्तु हिन्दी का सौष्ठव मात्र सर्वप्रथम इन्हीं की कविता में दृष्टिगोचर होता है तथा कबीर आदि संत कवियों की कविताएं जटिल और दुर्बोध होने से एवम् सूर की सी रसात्मकता के अभाव में उतना अधिक आदर न पा सकीं। स्मरण रहे सूर का कविता काल जो कि संवत् १५६० से १६२० तक माना जाता है हिन्दी का स्वर्ण काल कहलाता है और वस्तुतः यही हिन्दी का समृद्ध युग भी था तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों ने ब्रजवाणी में पियूष की अविरल धारा को प्रवाहित कर हिन्दी की सर्वांगीण उन्नति भी की है। यह तो स्पष्ट ही है कि "कविवर सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम आचार्य हैं"' तथा साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा के लिए सिद्धान्तों को निर्धारित करने और मार्ग-प्रदर्शन का श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है और आज तक उन्हीं की प्रवर्तित प्रणाली का अनुसरण ब्रजभाषा के कवियों द्वारा होता भी रहा है। हो सकता है कुछ कवियों ने प्रान्त विशेष के निवासी होने के फलस्वरूप चाहे कहीं-कहीं अपनी कृतियों में प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया भी हो लेकिन वास्तविकता में तो उन्होंने सूर का ही पदानुसरण किया है और उनकी मान्यताएँ भी स्वीकार की हैं अतः ब्रजभाषा के आरंभिक काल में सूरदास ने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा जिस प्रकार का सर्वांगपूर्ण काव्य-ग्रन्थ प्रस्तुत किया वैसा उनके पश्चात् कोई भी कवि नहीं कर सका और फिर यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ तक ब्रजभाषा का सम्बन्ध है सूर को अपने पूर्ववर्ती

---

१. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डा० सूर्यकान्त शास्त्री (पृ० ३२६)

२. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० २६४)

कवियों से किसी भी प्रकार की प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई थी क्योंकि उनके प्रादुर्भाव के पूर्व ब्रज के लोकगीतकारों एवं संगीतकारों के गीतों में भाषा तथा भाव का जो स्वरूप था वह किसी भी भाँति श्रेष्ठतम काव्य-सृजन के लिए उपयुक्त न था। वस्तुतः सूर ने ही अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा सुव्यवस्थित भाषा में काव्य-सृजन की परम्परा परवर्ती कवियों के लिए निर्मित की थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि "संस्कृत साहित्य में जो स्थान आदि कवि वाल्मीकि का है, ब्रजभाषा साहित्य में वही स्थान सूरदास का है।"[1]

यद्यपि वार्तासाहित्य तथा सूर के सम-सामयिक इतिहास-ग्रन्थों में कहीं भी सूर द्वारा रचित कृतियों के सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता और केवल यही कहा जाता है कि उन्होंने कृष्ण-विषयक पदों की रचना की है परन्तु काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट और प्राचीन पुस्तकालयों में सुरक्षित ग्रन्थों की नामावली के अनुसार सूरदास के लगभग पचीस ग्रंथों की तालिका प्रस्तुत की जाती है[2] परन्तु ये सभी ग्रन्थ अष्टछापी सूरदास के ही नहीं माने जा सकते। डा. मोतीचन्द्रजी की खोज से यह तो सिद्ध हो चुका है कि नलदमयन्ती वास्तव में नलदमन नामक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जो कि किसी अन्य सूरदास द्वारा सं० १६८५ में लिखा गया है।[3] हरिवंश टीका, एकादशी माहात्म्य और रामजन्म को भी अष्टछापी सूर की कृतियाँ नहीं माना जाता[4] तथा प्राणप्यारी को भी डा. दीनदयालु गुप्त उनकी संदिग्ध रचना ही मानते हैं[5] जब कि कुछ विचारक उसे सूर की प्रामाणिक कृति मानते हैं और उनकी दृष्टि में उसका समावेश सूरसागर के अन्तर्गत ही होना चाहिए।[6] कहा जाता है कि सूर द्वारा रचित तथा उनके

१. सूर निर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीत्तल (पृ० ३१३)

२. सूरसागर, सूरसारावली, साहित्यलहरी, भागवत भाषा, दशमस्कन्ध भाषा, सूरसागर सार, सूर रामायण, राधारसकेलिकौतूहल, गोवर्द्धन लीला (सरस-लीला), दान-लीला नागलीला, मानलीला, व्याहलो, भँवरगीत, प्राणप्यारी (श्याम सगाई), दृष्टिकूट के पद, सूरशतक, सूरसाठी, सूरपचीसी, सेवाफल, सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद। नलदमयन्ती, हरिवंश टीका (संस्कृत), एकादशी महात्म्य, रामजन्म।

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४३, संवत् १९९५, भाग १९, अङ्क २

४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त (पृ० २९५-२९७); सूरनिर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीत्तल (पृ० १०५-१०६)

५. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त (पृ० २८२)

६. सूरनिर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीत्तल (पृ० १९७)

नाम से प्रचलित पदों के संग्रह भिन्न-भिन्न बहुत से स्थानों पर सुरक्षित रखे गए और जब अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ तो वे सभी हस्तलिखित प्रतियाँ सूरदास के नाम से पृथक्-पृथक् ग्रंथ मानी गईं अन्यथा यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो उनके नाम पर प्रचलित अधिकांश कृतियाँ सूरसागर के कुछ पदों का संग्रहमात्र ही हैं और इस प्रकार सूरसागर, सूरसारावली तथा साहित्यलहरी ही उनकी तीन प्रामाणिक कृतियाँ कही जा सकती हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि डा. जनार्दन मिश्र सूरदास के उन पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं,जो सूरदास और सूरश्याम के नाम से लिखे गए हैं[१] परन्तु मिश्रजी ने अपने मत के पक्ष में कुछ भी प्रमाण नहीं दिए हैं अतः हमारी दृष्टि में सूर, सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम के नाम से प्रचलित पद अष्टछापी सूर की ही कृति हैं तथा स्वयं हरिराय जी ने भी सूर के इन चार नामों का होना स्वीकार किया है।[२] साथ ही डा० मुंशीराम शर्मा ने भी उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सूर, सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम आदि उपनामों को इन्हीं महाकवि सूरदास का माना है और उनकी दृष्टि में "पदरचना में जहाँ जैसा उपयुक्त जान पड़ा और पद के अनुकूल बैठ गया, वहाँ वैसा ही नाम उन्होंने प्रयुक्त कर दिया है। सुजान, सरस आदि शब्द भी भावभरित उमंग की लपेट में इस प्रकार प्रयुक्त हो गये हैं। जो लीला ही सरस हो और सुजान श्याम से सम्बन्ध रखनेवाली हो उसमें ऐसे शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है।"[३] इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरसागर तो सूरदास की ही कृति है और न केवल वह उनकी व्यापक प्रतिभा की परिचायक है अपितु उसी पर उनकी अक्षय कीर्ति भी आधारित है तथा विचारकों ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की है[४] परन्तु सूर-

१. सूरदास—डा० जनार्दन मिश्र (पृ० ७)
२. अष्टछाप—विद्या विभाग, काँकरौली (पृ० ५५)
३. सूरसौरभ—डा० मुंशीराम शर्मा (पृ० २२२-२२३)
४. "सूरसागर में गीति और प्रबन्ध, प्रेमभक्ति और काव्यरस, वैराग्य और जीवनानुराग, सर्वोच्च आदर्श और सहज स्वाभाविकता, अलौकिकता और अतिलौकिकता तथा अध्यात्म और भौतिकता के परस्पर विरोधी जैसे तत्त्व इस रूप में एकाकार हो गए हैं कि कवि की विचक्षणता, सरलता, वाक्चातुर्य, व्यंजना शक्ति, अन्तर्दृष्टि, कल्पना-शक्ति, असाधारण संवेदनशीलता और प्रतिभा पर आश्चर्य होने लगता है।"
—डा० ब्रजेश्वर वर्मा (हिन्दी के गौरव ग्रन्थ, भूमिका पृ० १)

सारावली और साहित्यलहरी की प्रामाणिकता पर तो सन्देह ही व्यक्त किया जाता है। स्मरण रहे कि डा० व्रजेश्वर वर्मा ने सूरसागर और सूरसारावली की रचना शैली में सत्ताइस अन्तर स्थापित कर इन दोनों ग्रंथों को एक ही कवि की रचना न मानते हुए सूर सारावली को किसी अन्य सूरदास की कृति माना है[1] लेकिन डा. दीनदयालु गुप्त, डा. मुंशीराम शर्मा, श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल तथा डा० हरवंशलाल शर्मा ने प्रबल प्रमाणों सहित सिद्ध कर दिया है कि सूरसागर और सूरसारावली दोनों के रचयिता वास्तव में अष्टछापी सूर ही हैं।[2] वस्तुतः सूरसारावली वल्लभचार्य कृत 'पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम' के आधार पर रची गई सूर की स्वतन्त्र और प्रामाणिक सैद्धांतिक कृति है तथा उसे केवल सूरसागर की सूचीमात्र समझना उपयुक्त नहीं है। साथ ही भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से भी सूरसागर तथा सूरसारावली में अन्तर स्थापित करना भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि कथावस्तु और शैली से सम्बन्धित ऐसी अनेक समानताएँ दोनों ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती हैं जो कि निस्संदेह हृदयस्पर्शी और तथ्यपूर्ण हैं तथा स्वयं डा० व्रजेश्वर वर्मा ने भी इसे स्वीकार किया है कि सूरसारावली सूरसागर के बहिरंग का अनुसरण करने की चेष्टा तो अवश्य करती है[3] अतः हमारी दृष्टि में तो दोनों एक ही कवि की कृतियाँ हैं। स्मरण रहे कि सूरसारावली की प्रति जिस रूप में आज उपलब्ध है उसी रूप में उसका गुजराती अनुवाद संवत् १८८० में गुजराती के प्रसिद्ध कवि दयाराम ने किया था और उनका यह भी कथन है कि उन्होंने पुष्टि सम्प्रदाय के किसी एक आचार्य की आज्ञानुसार ही यह अनुवाद किया है अतएव इससे भी यही सिद्ध होता है कि सूरसारावली न केवल वर्तमान रूप में ही उस समय भी प्राप्त थी और गुजरात प्रदेश तक में उसे प्रसिद्ध भी प्राप्त हो चुकी थी अपितु उसके रचयिता पुष्टि सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि सूर ही हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि डा० व्रजेश्वर वर्मा साहित्यलहरी को भी सूरदास कृत नहीं मानते और उनका अनुमान है कि इसकी रचना सं० १७०० के पश्चात् किसी सूरजचन्द

१. सूरदास—डा० व्रजेश्वर वर्मा (पृ० १०५)

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (पृ० २८४-२९०); सूरसौरभ; सूरनिर्णय (पृ० १०७-१४३) सूर और उनका साहित्य (पृ० ६१)

३. सूरदास—डा० व्रजेश्वर वर्मा (पृ० ७६)

नामक जाट ने की भी[1] तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी सम्पूर्ण साहित्यलहरी को ही संदेहास्पद रचना मानते हैं[2] परन्तु वास्तव में यह भी सूरदास का एक स्वतंत्र प्रामाणिक ग्रन्थ है और उसमें कवि की निजी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। साहित्यलहरी में रस, अलंकार और नायिका-भेद सम्बन्धी पद संगृहीत हैं तथा रीतिकाव्य प्रवाह का उसे आदिस्रोत भी कहा जा सकता है। स्मरण रहे कि साहित्यलहरी की दो टीकाएँ क्रमशः नवलकिशोर प्रेस लखनऊ और खंगविलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित हुई हैं जिनमें से प्रथम में १८१ तथा द्वितीय में ११८ पद हैं लेकिन डा० दीनदयालु गुप्त ने तो १०९ वें पद के पश्चात् सभी पदों को प्रक्षिप्त माना है[3] जब कि डा० मुंशीराम शर्मा सम्पूर्ण साहित्यलहरी को प्रामाणिक मानते हैं।[4] यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सूर की वंश-परम्परा विषयक साहित्यलहरी के ११८ वें पद को प्रायः सभी विचारकों ने अप्रामाणिक माना है और आचार्य शुक्ल का यह मत कि "हमारा अनुमान है कि साहित्यलहरी में यह पद पीछे किसी भाट द्वारा जोड़ा गया है"[5] प्रायः सभी अधिकांश विचारकों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है अतः विभिन्न क्लिष्ट कल्पनाओं द्वारा ११८ वें पद को प्रामाणिक सिद्ध करना उचित नहीं है और फिर जब कि १०८ वें पद में ही कवि ने ग्रंथ समाप्ति का संवत् तथा रचना हेतु का उल्लेख कर दिया है इसलिए स्वाभाविक ही १०९ वें पद के पश्चात् सभी पद प्रक्षिप्त होने चाहिए। स्मरण रहे कि इस १०९ वें पद में उल्लिखित रचना काल और हेतु के विषय में भी विचारकों में मतैक्य नहीं है तथा उसके आधार पर आचार्य शुक्ल जी और डा. हरवंशलाल शर्मा साहित्यलहरी का रचनाकाल वि० सं० १६०७; डा. मुंशीराम शर्मा सं० १६२७ तथा डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा. व्रजेश्वर वर्मा सं० १६७७ मानते हैं लेकिन वास्तव में उसका समय वि० सं० १६०७ ही उपयुक्त है। साहित्यलहरी के उसी पद की अंतिम पंक्ति 'नंद नंदन दास हित साहित्यलहरी कीन' से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नंद-

---

१. सूरदास—डा० व्रजेश्वर वर्मा
२. हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १७७)
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त (पृ० २९४)
४. सूरसौरभ—डा० मुन्शीराम शर्मा
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १६१)

दास के ही लिए इसकी रचना की थी तथा अधिकांश विचारकों का भी यही मत है परन्तु 'नंदनंदन दास' का शब्दार्थ 'कृष्णदास' मानते हुए श्री महावीरसिंह गहलौत का अनुमान है कि अष्टछाप के कवि कृष्णदास को काव्यज्ञान कराने के हेतु सूर ने साहित्यलहरी की रचना की थी[1] लेकिन वास्तव में यहाँ नंददास अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

वस्तुतः सूरसागर तो सूर की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'वार्ता' में 'सूरसागर' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ विशेष के लिए नहीं किया गया अपितु स्वयं सूरदास के ही लिए हुआ है[2] और साथ ही यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सूरसागर के पदों की संख्या कितनी है क्योंकि मूल चौरासी वार्ता में केवल यही उल्लेख है कि उन्होंने 'सहस्रावधि' पद लिखे हैं जब कि श्री हरिराय जी द्वारा सम्पादित वार्ता में लिखा है कि—"सो तब सूरदास जी मन में विचारे—जो मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियो है सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवद्इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन और प्रकट करने।"'वाही समय श्री गोवर्धननाथ जी आप प्रकट होय के दरशन देके कह्यो—जो सूरदास जी! तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो है, सो तो पूरन होय चुक्यो है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये है।"[3] इस प्रकार श्री हरिराय जी "सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं" नामक उक्ति द्वारा सूरदास को एक लाख पदों का रचयिता मानते हैं[4] तथा सूरसारावली के एक पद से भी यही बात सिद्ध होती है।[5] परन्तु इस सहस्रावधि एवम्

---

१. सम्मेलन पत्रिका, श्रावण-भाद्रपद सं० २००२

२. "और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो—आवो सूरसागर! सो ताको आशय यह है, जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये है। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला को बरनन कियो है।"

—प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग (पृ० २३)

३. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग (पृ० ४६)

४. प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग (पृ० ६०)

५. कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो॥

'एक लक्ष पद बंद' वाली उक्ति को लेकर भी विचारकों ने भाँति-भाँति की कल्पनाएँ की हैं। श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने तो 'सहस्रावधि का अभिप्राय सहस्रों की अवधि मानते हुए उसका अर्थ सूर द्वारा ९९९९९ पदों का लिखा जाना स्वीकार किया है तथा 'एक लक्ष पद बंद' का भी वे संख्यावाची अर्थ नहीं मानते अपितु उनकी दृष्टि में "सूरदास प्रारम्भ में कर्मयोग, ज्ञान, उपासना आदि में विश्वास करते थे, किन्तु श्री वल्लभ गुरु ने जब उनको तत्त्व सुनाकर लीलाभेद दिखाया (समझाया) तब सूरदास को कर्मयोग आदि के अपने पूर्व विश्वास भ्रमरूप ज्ञात होने लगे और तभी से उन्होंने उन लीलाओं को एक 'लक्ष' स्वरूप श्री कृष्ण की पदवंदना करते हुए गाया है, जिसका सार सिद्धान्त तत्त्व रूप यह सारावली है।"[1] स्मरण रहे कि सूर के सवा लाख पद अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं तथा विद्वानों में भी इस बात पर मतभेद सा है कि वस्तुतः उन्होंने सवा लाख पद लिखे भी थे या नहीं। 'शिवसिंह सरोज' के लेखक ने लिखा है कि उन्होंने साठ हजार पद देखे थे पर कहाँ देखे थे इसका कुछ भी उल्लेख नहीं है।[2] स्मरण रहे Keay ने ७५ हजार तथा इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने भी साठ हजार पद सूर के माने हैं और श्री राधाकृष्णदास ने तो सूरसागर की पदसंख्या सवा लाख ही मानी है[3] लेकिन उन्होंने भी कुछ प्रमाण आदि नहीं दिए अतः जैसा कि डा. श्यामसुन्दरदास का विचार है "सूरसागर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते।"[4] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सूरसागर की जो भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें बहुत ही कम ऐसी प्रतियाँ हैं जिनमें चार हजार से अधिक पद हों तथा स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने तो अत्यन्त परिश्रम से सूरसागर की कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ संकलित कर नागरी प्रचारिणी

ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार 'सूर' सारावलि गावत अति आनन्द ॥

१. सूर निर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० ११२)
२. शिवसिंह सरोज (पृ० १०२)
३. श्री सूरदास जी का जीवन चरित (पृ० २)
४. हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास

सभा काशी के तत्त्वाधान में उनके समुचित सम्पादन और प्रकाशन का आयोजन किया था परन्तु उनके देहावसान से यह कार्य अपूर्ण सा रह गया तथा बाद में श्री नंददुलारे बाजपेयी ने १७२४ पृष्ठों की दो जिल्दों में सूरसागर का अद्यावधि वृहत्तम संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाया है। बाजपेयी जी द्वारा सम्पादित इस सूरसागर में ४९३६ पद हैं तथा अंत में दो परिशिष्ट भी हैं जिनमें से प्रथम परिशिष्ट में २०३ तथा दूसरे में ६७ पद हैं; परन्तु बाजपेयी जी पहले परिशिष्ट को निश्चित रूप से प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक मानते हैं तथा केवल दूसरे को ही प्रामाणिक समझते हैं अतः इस प्रकार सूरसागर के पदों की संख्या पाँच हजार से अधिक नहीं जान पड़ती। यद्यपि रचना परिमाण, काव्यगुण श्रेष्ठता की दृष्टि से कुछ भी कहने के लिए पदों की यह संख्या भी कम नहीं है लेकिन विचारकों ने सूरसागर की सवा लाख पद संख्या सिद्ध करने के लिए प्रयास बंद नहीं किए हैं तथा श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने तो उदाहरण देते हुए प्रतिदिन की पदरचना का हिसाब लगाकर सूर के पदों की संख्या सवालाख से भी अधिक मानी है[1] और डा० हरवंशलाल शर्मा भी सूरसागर की पदसंख्या सवा लाख ही मानते हैं।[2] स्मरण रहे कि डा० हरवंशलाल शर्मा ने सूरसागर की प्रतियों का विवरण देते हुए उनके संग्रहात्मक तथा द्वादशस्कंधात्मक नामक दो प्रकार माने हैं और वे द्वादश स्कंधात्मक प्रतियों की अपेक्षा संग्रहात्मक प्रतियों को ही अधिक मान्य तथा प्राचीन मानते हैं।[3] यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सूरसागर की जो द्वादश स्कंधात्मक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनकी पदसंख्या में भी महान् अंतर है क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि सूरसागर के अधिकांश संस्करणों में दशम स्कन्ध की पद संख्या ही अधिक मानी गई है लेकिन नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में संवत् १७९८ की एक ऐसी प्रति का भी विवरण दिया गया है जिसमें कि दशम स्कन्ध का केवल एक ही पद है जब कि द्वादश स्कन्ध में १७५४ पद हैं अतः इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सूर द्वारा रचित बहुत से पद आज अलभ्य हैं और उनकी

१. सूर निर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० १११)
२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा (पृ० ५५-५७)
३. सूर और उनका साहित्य (पृ० ७०-९०)

उपलब्धि के अभाव में किसी भी निश्चित संख्या के विषय में अनुमान लगाना उचित नहीं है। यद्यपि वार्ता साहित्य से यह तो आभास हो ही जाता है कि सूर के कीर्तन-पदों का संकलन उनके जीवन काल में ही होने लगा था लेकिन अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन प्रति सं० १६९७ की कही जाती है[1] परन्तु अभी तक ऐसा एक भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें कि सूर के समस्त पद सम्मिलित हों। साथ ही यह भी कहा जाता है कि वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तनों में भी बहुत से ऐसे पद मिलते हैं जो कि अभी तक सूरसागर के किसी भी संग्रह में सम्मिलित नहीं किए गए हैं अतः उनका भी संग्रह आवश्यक है और फिर सूर जैसे निष्णात भक्त कवि के लिए सवा लाख पदों का सृजन कोई असम्भव बात भी नहीं थी अतः हो सकता है उन्होंने सवा लाख पदों की रचना की हो।

यद्यपि सूरसागर सूर के मानस रत्नों का सागर ही है लेकिन उसकी आधारभूमि श्रीमद्भागवत कही जाती है क्योंकि दोनों में ही बारह स्कंध हैं तथा प्रत्येक स्कंध की कथाओं में भी समानता है और साथ ही उसकी जो भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें भी कथा श्रीमद्भागवत की भाँति स्कन्धों में विभाजित है यों तो सूर ने स्वयं ही भागवत का आधार लेना स्वीकार किया है[2] तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा भी श्रीमद्भागवत और सूरसागर की तुलना करते हुए अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है और उसका मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारह स्कन्धों का संक्षिप्त अनुवाद मात्र

---

१. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग (पृ० १५८)

२. श्रीमुख चारि श्लोक दए ब्रह्मा को समझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पदभाषा करि गाइ॥

और भी—

व्यासदेव जब सुकहिं पढ़ायौ सुनि कै सुक सो हृदय बसायौ।
सुक सौं नृपति परीक्षित सुन्यौ तिनि पुनि भलीभाँति करि गुन्यौ॥
सूत सौनकादि सौं पुनि कह्यौ विदुर सौं मैत्रेय पुनि लह्यौ।
सुनि भागवत सबनि सुख पायौ सूरदास सौं बरनि सुनायौ॥

है"[1] लेकिन अंतःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के कतिपय उदाहरणों द्वारा चाहे हम यह स्वीकार भी कर लें कि सूर ने भागवत का आधार लिया होगा परन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा की यह मान्यता कि समस्त सूरसागर उसके बारह स्कंधों का संक्षिप्त अनुवाद मात्र है पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव में विवादग्रस्त ही है। वस्तुतः सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवादमात्र कहना सूर के प्रति अन्याय करना ही है क्योंकि दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि "सूरसागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है अनुपात में भी उनमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथावस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।"[2] स्मरण रहे कि सूर ने भागवत के दशम स्कन्ध को छोड़कर अन्य स्कन्धों से तनिक भी सामग्री ग्रहण नहीं की है और उन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों की भी पूर्ण उपेक्षा करते हुए भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी प्रश्रय नहीं दिया। साथ ही भागवत के दशम स्कन्ध का भी सूरसागर में पूर्णतः आधार नहीं लिया गया क्योंकि उसमें तो कृष्ण की ब्रज और द्वारिका दोनों प्रकार की लीलाओं को समान महत्त्व दिया गया है तथा कृष्णलीलासम्बन्धी ९० अध्यायों में से ४९ अध्यायों में ही केवल कृष्ण की ब्रजलीला का वर्णन है और शेष ४१ अध्यायों में द्वारिकालीला अंकित की गई है जब कि सूरसागर में ब्रजलीला को ही विशेष महत्त्व दिया गया है और उत्तरकालीन लीला से सम्बंधित बहुत ही थोड़े से पद हैं। इतना ही नहीं सूरसागर में पूर्णतः मौलिक स्वतंत्र और भागवतनिरपेक्ष प्रसंगों के भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं तथा राधाकृष्ण मिलन, पनघट प्रस्ताव, बाललीला, मानलीला, राधा की महत्ता, अनन्य भक्ति की प्रधानता आदि में तो कवि ने भागवत से स्वतंत्र कई नई उद्भावनाएँ भी की हैं अतएव सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मात्र नहीं माना जा सकता और जैसा कि डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—"भागवत जहाँ निवृत्तिमूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधा-कृष्ण लीला

१. भागवत और सूरदास—डा० धीरेन्द्र वर्मा (हिंदुस्तानी, अप्रैल १९३४)
२. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा

मनुष्यों को प्रवृत्तिमार्ग में लगानेवाली है। अतः सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।"[१]

यह तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि भाषा की दृष्टि से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। यद्यपि चंद वरदाई तथा कबीर आदि संतों की भाषा में भी ब्रजभाषा की झलक दृष्टिगोचर होती है लेकिन भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से सूरदास ही ब्रजभाषा के प्रथम उत्कृष्ट कवि माने जा सकते हैं। सूर ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है और ब्रजभाषा को सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बनाने की चेष्टा की है। सूर की शब्द-योजना सराहनीय है और प्रसंगानुकूल भाषा लिखने में वे पूर्ण सिद्ध-हस्त थे तथा साथ ही उनकी भाषा सरल, सुबोध और अशक्त होते हुए भी उसमें तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ-साथ अन्य प्रांतीय शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। जहाँ कि इहवाँ, मोर, तोर, हमार, कीन आदि पूर्वी प्रयोगों को भी उन्होंने अपनाया है वहाँ फारसी के खसम, जवाब, खवास, मरताज, दामनगीर आदि बहुत से शब्दों को भी निस्संकोच ग्रहण किया है। पंजाबी का प्यारी जो कि मूल्यवान के अर्थ में प्रयुक्त होता है, गुजराती का वियो, बुंदेलखंडी के गहिबी, सहिबी और प्राकृत के सायर, लोयन, नाह, केहरि आदि शब्द भी उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार ब्रजभाषा को व्यापक बनाने के लिए उन्होंने अन्य सहयोगिनी भाषाओं को अपना कर उचित ही किया है।

सूर की भाषा प्रवाहमयी है और उसमें माधुर्य एवम् प्रसाद गुण ही विशेष रूप से देख पड़ते हैं तथा कंसवध या ऐसी एक दो घटनाओं में ही ओजगुण का समावेश है अन्यथा सर्वत्र माधुर्य और प्रसाद की ही अधिकता है। माधुर्यमयी प्रवाहपूर्ण पदावली के साथ-साथ सूर की भाषा में अलंकारों की स्वाभाविक योजना भी हुई है और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों के उदाहरण प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं। 'बिलसत विपन विलास विविध वर वारिज वदन विकच सचुपाये' जैसी अनुप्रास युक्त पंक्तियों की अधिकता सी है तथा दृष्टिकूट संबंधी पदों में उन्होंने यमक का अत्यधिक प्रयोग किया है और राधा

---

१. सूर सौरभ—डा० मुंशीराम शर्मा (पृ० १६९-१७०)

कृष्ण के सौन्दर्य की रहस्यात्मक व्यंजना में भी उससे सहायता ली है।[1] वस्तुतः अर्थालंकारों के प्रयोग में सूर की वृत्ति अधिक रमी है तथा उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और प्रतीप नामक सादृश्यमूलक अलंकारों तथा स्मरण और संदेह नामक स्मृतिमूलक अलंकारों के प्रयोगों की बहुलता सी है[2] तथा विभावना जैसे विरोधमूलक अलंकारों

---

१. एक उदाहरण देखिए—

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तहँ हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि न सोहावय हरि हरि कह उठि जागी॥

२. कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा—

स्याम भए राधा बस ऐसे।
चातक स्वाँति चकोर चंद ज्यों चक्रवाक रवि जैसे॥

और भी—

क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर उर ज्यों मरकत मणिकंचन में अरिया॥

अतिशयोक्ति—

चपला नयन दीरघ अनियारे हाव भाव नाना गति भंग।
वारौं मीन कोटि अम्बुज गण खंजन वारत कोटि कुरंग॥

उत्प्रेक्षा—

मुख छबि कहा कहौं बनाइ।
निरखि निसिपति बदन सोभा गयौ गगन दुराइ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ॥
निकसि सर तें मीन मानौ लरति कीर।

प्रतीप—

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत ते सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली।

सन्देह—

गोपी तजि लाज, संग स्याम रंग भूलीं।
पूरन मुखचंद देखि, नैन कोर फूलीं॥
कैधौं नव जलद स्वाति चातक मन लाए।
किधौं बारि बूँद सीप हृदय हरष पाए॥
रवि छबि कैधौं निहारि, पंकज बिकसाने।
किधौं चक्रवाकि निरखि, पतिहीं रतिमाने॥
कैधौं मृगजूथ जुरे मुरली धुनि रीझे।
सूरस्याम मुख मंडल छबि के रस भीजे॥

का संकर या संसृष्टि भी पाई जाती है।[1] परन्तु सूर का प्रिय अलंकार रूपक ही है और उसी की अधिकता भी सूरसागर में दृष्टिगोचर होती है। तुलसी के समान सूर भी सांग रूपक का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे तथा उसकी सहायता से उन्होंने न केवल विभाव चित्रण किया है अपितु संयोग और वियोग के प्रसंग भी अंकित किए हैं। एक उदाहरण देखिए—

मनौं गिरिवर तें आवति गंगा।
राजति अति रमनीक राधिका, इहिं विधि अधिक अनूपम अंगा॥
गौर-गात-दुति विमल वारि-निधि, कटि तट त्रिवली तरल तरंगा।
रोमराजि मनु जमुन मिली अध, भँवर परत मानौं भुव भंगा॥
भुज-जुग पुलिन पास मिलि बैठे, धार धकधै उरज उतंगा।
मुख लोचन, पद पानि पंकरुह, गुरु गति, मनहुँ मराल बिहंगा॥
मनिगन भूषन रुचिर तीर वर, मध्यधार मोतिनमय मंगा।
सूरदास मनु चली सुरसरी, श्री गुपाल सागर सुख संगा॥

सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है तथा 'हमारे हरि हारिल की लकरी', 'काकी भूख गई बयारि भखि', 'तुमसों प्रेम कथा की कहिबो है मनो काटिबो घास,' 'वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे' जैसे उदाहरणों की अधिकता सी है और इतना ही नहीं कवि ने 'ट' वर्ण को भी प्रसंगानुसार अपनाकर उसमें भी मधुरिमा ला दी है तथा साथ ही उनकी लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता भी सराहनीय है। निम्नांकित पंक्तियों में ध्वन्यात्मक शब्दों ने सूर की भाषा में सजीवता सी ला दी है—

तरपत नभ डरपत ब्रज लोग।
घहरात, तररात, गरगरात, हभरात, झहरात, परात माथ नाये॥

वस्तुतः सूर की भाषा में दोषों का अभाव ही है तथा तुकान्त के लिए या छन्दों की गति को नियमानुकूल रखने के हेतु चाहे उन्होंने

१. रूपक तथा वक्रोक्ति का संकर—
आयौ घोष बड़ौ व्यापारी।
लादि खेप यह ज्ञानयोग की ब्रज में आइ उतारी॥
यथासंख्या, हेतुत्प्रेक्षा और प्रतीप की संसृष्टि—
भुज भुजंग, सरोज नयननि, बदन बिधु जित्यौ हरनि।
रहे विवरत, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥

कुछ शब्दों को विकृत भी कर दिया हो जैसे पंगु को पंग, नवनीत को लवनी, वर्ष को वरीष, गमन को गैन इत्यादि परन्तु सभी प्रकार से विचार करने पर यही विदित होता है कि उनकी भाषा सबल, सजीव और सरस है। स्मरण रहे कि उन्होंने प्रायः संयुक्त वर्णों का भी बहिष्कार कर दिया है और यदि प्रसंगानुसार कहीं उनका प्रयोग किया भी है तो स्वरागम करके उनको अमीलित कर दिया है और इसी प्रकार वे पंचमवर्ण के स्थान में अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं। श्री. गुलाबराय ने उचित ही लिखा है "सूर की भाषा अपनी कोमलता और सजीवता के कारण व्रजभाषा का शृंगार है।"[१]

यह तो सर्वविदित ही है कि वल्लभाचार्य की आज्ञा से ही सूर ने भागवत की कथा को पदों में गाया है तथा कहते हैं कि जब सूर ने आचार्य जी को पहले प्रार्थना सम्बन्धी एक दो पद सुनाएँ तब रीझकर उन्होंने कहा "सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को है। कछु भगवद्-लीला वर्णन करि"[२] और इसके पश्चात ही उनसे दीक्षा प्राप्त कर उन्होंने कृष्णलीला सम्बन्धी पदों की रचना की हैं, अतः इस प्रकार श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "व्रज के समस्त जीवन का सार रस, माता के हृदय का रस, पिता के सुख का रस, प्रियतमा गोपियों के संयोग वियोग का रस जो सम्पूर्ण कृष्णमय रस है, यही सूरसागर है।"[३] वस्तुतः सूरसागर का दशमस्कंध जिसमें कि कृष्णलीला अंकित की गई है अपेक्षाकृत अन्य स्कंधों से बहुत अधिक विस्तृत है और जैसा कि डा० रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी ने लिखा है—"समस्त सूरसागर का अध्ययन करने पर कृष्ण का चरित्र हमारे सामने निम्नांकित रूपों में आता है—

(१) अत्यन्त मुखर बालक के रूप में।
(२) चंचल किशोर के रूप में।
(३) किशोर प्रेमी के रूप में।
(४) क्रीड़ाकौतुक प्रिय सखा के रूप में।
(५) तरुण नायक के रूप में।

---

१. हिन्दी काव्य विमर्श—श्री. गुलाबराय (पृ० ११३)
२. सन् १८८१ ई० की मथुरा से प्रकाशित चौरासी वैष्णवों की वार्ता (पृ० २८१)
३. महाकवि सूरदास—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (पृ० १०२)

(६) अतिप्राकृत अलौकिक सत्ता के रूप में जो अनेक आश्चर्यमय लीलाएँ करतीं हैं; जो भक्तों की रक्षा करती है।

(७) गौरव गम्भीर महाराज के रूप में।"[1]

स्मरण रहे कि श्रीमद्भागवत की अपेक्षा सूरसागर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उसमें उन्हें केवल दास्य भक्ति का आलम्बन न मानकर सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों को महत्व देते हुए उन पर इस कुशलता के साथ मानवीयता आरोपित की गई है कि उनका अतिप्राकृत रूप आच्छादित सा हो जाता है। इस प्रकार सूरसागर के कृष्ण भक्तों के प्रति अनुग्रह न प्रकट कर प्रेम प्रकट करते हैं और उसमें उनका लौकिक रूप ही झलकता है। साथ ही सूर की गोपियों में भी श्रीमद्भागवत की गोपिकाओं की अपेक्षा अधिक वास्तविकता प्रतीत होती है और जहाँ कि भागवत में गोपियों पर अतिप्राकृत तत्त्व का ही आरोप किया गया है वहाँ सूरसागर में गोपियों के प्रेम की वृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण करते हुए कृष्ण के प्रति उनके प्रेम का विकास इतना अधिक स्वाभाविक है कि उनमें अति प्राकृतता का तनिक भी आभास नहीं होता।

यहाँ सूर की राधा के विषय में भी कुछ कहना असंगत न होगा। सूर की राधा चण्डीदास की राधा की भाँति न तो परकीया ही है और न विद्यापति की राधा की तरह केवल प्रेयसी ही है तथा यह एक साधारण या असाधारण गोपी भी नहीं है अपितु कृष्ण की पत्नी ही है और नायिका भेद के अनुसार यह स्वकीया ही मानी जायगी। स्मरण रहे सूर की राधा में परकीया की तीव्र वेदना के स्थान पर स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कण्ठा ही देख पड़ती है तथा डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "इस प्रकार सूर के चित्रण में हमें सच्ची प्रेमिका का चित्रण मिल जाता है जो विरह की अगम्य ज्वाला में जलती है पर उफ तक नहीं करती, जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है परन्तु नम्रता के कारण झुका हुआ, जिसकी कर्तव्यभावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतसम कोमल, जिसे मानवप्रिय नवनीत चोर कृष्ण ने हँसते खेलते ही चुरा लिया।"[2]

---

१. सूरसाहित्य की भूमिका—डा० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी (पृ० ८१)

२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा (पृ० १८१)

सूरसागर में कैशोर्य की संयत चपलता एवम् यौवन के श्याम सागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नहीं किया गया बल्कि अपने भोलेपन से सबका चित्तहरण करनेवाली एवम् सहज निर्बाध सरलता से कृष्ण को आवृत्त करनेवाली बालिका राधा का भी चित्रण किया गया है और यह सूर की निजी देन तथा निजी मौलिकता है।[1] साथ ही सूर की राधा गृहस्थी के सुख-दुख की अनुभूति करनेवाली आर्य-महिला के अत्यन्त उज्वल स्वरूप में भी अंकित हुई है और इसीलिए वे संयोग के सुखद क्षणों में जितना अधिक मुखर, मानवती और चंचल प्रतीत होती हैं वियोगजन्य अवस्था में उतना ही संयत और गम्भीर भी जान पड़ती हैं। इस प्रकार कृष्ण-काव्य की परम्परा में राधा का सर्वाधिक स्वाभाविक और सुन्दर चित्रण सूरदास ने ही किया है तथा जैसा कि डा० हरवंशलाल शर्मा ने लिखा है "सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चंडीदास और ब्रह्मवैवर्त पुराण की विशेषताएँ संनिहित हो गई हैं और उन सबके ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिमवर्ग से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड़ गए।"[2]

यद्यपि डा० मुंशीराम शर्मा समस्त सूर-काव्य को विनय के पद और हरिलीला के पद नामक दो भागों में विभाजित करना ही उपयुक्त समझते हैं[3] लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो सूरदास के पदों को विनय के पद, बाल-लीला के पद, सौन्दर्य-वर्णन सम्बन्धी पद, मुरली विषयक पद और भ्रमर-गीत नामक पाँच भागों में विभाजित करना अधिक युक्तिसंगत है। विनय के पद सूर की भक्ति-भावना का परिचय देते हैं। यों तो उन्होंने ईश्वर के अन्य अवतारों का भी वर्णन किया है और उनकी भक्ति-भावना में संकीर्णता नहीं है क्योंकि राम और कृष्ण

---

१. "उन्होंने जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की तरह राधिका को प्रथम से ही वयप्राप्त, यौवन्प्राप्त अथवा प्रेयसी के रूप में चित्रित नहीं किया। उन्होंने कुमार कुमारी के अबोधो मिलन से प्रारम्भ करके स्नेह के अंकुर को अन्त में प्रेम के रूप में परिणत किया है।"

—सूर-साहित्य की भूमिका : डा० रामरत्न भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी (पृ० ९१)

२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा (पृ० २८५)

३. भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा (पृ० ५२-५९)

तथा शिव और राम में उन्होंने कुछ भी विशेष अन्तर नहीं माना है लेकिन कृष्ण की ही ओर उनका अधिक अनुराग था और उन्हीं का गुणगान भी उन्होंने विस्तार के साथ किया है तथा कृष्ण-भक्ति-शाखा के वे सर्वप्रधान कवि भी कहे जाते हैं। विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय की दीनता, मान-मर्षणता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन और विचारण सात सोपानों का पूर्णरूप से वर्णन किया गया है। सूरदास जी वल्लभाचार्य के शिष्य थे और इतिहास तथा अन्तःसाक्ष्यों से भी उनका शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुयायी एवम् पुष्टिमार्गीय भक्त होना ही सिद्ध होता है अतः उन्हें प्रतिबिम्बवाद और वृन्दावनी सम्प्रदायों की भक्ति-भावना से प्रभावित समझना उचित नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि वल्लभसम्प्रदाय की भाँति सूरदास के इष्टदेव श्रीकृष्णरूप परब्रह्म ही हैं तथा सूरसागर में सख्य भक्ति-भावना ही दृष्टिगोचर होती है क्योंकि वल्लभाचार्य की भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि की प्रधानता थी और सखाभाव से कृष्ण की उपासना भी की जाती थी। स्मरण रहे कि दास्यभाव की ओर सूर ने उत्साह नहीं प्रकट किया है और सख्य भक्ति का ही दो रूपों में वर्णन किया है जिनमें से प्रथम में तो सूरसागर ही सखाभाव से गाया गया है और भक्त भगवान की प्रत्येक लीला में भाग लेता सा दृष्टिगोचर होता है तथा दूसरे गोप-वालाओं और कृष्ण-प्रसंग में सख्य भक्ति-भावना ही झलकती है। इतना ही नहीं सूरकाव्य में नवधा भक्ति के सम्पूर्ण अंग भी दृष्टिगोचर होते हैं और डा० रामकुमार वर्मा ने तो सूरसागर की कृष्णलीला को आसक्ति के प्रकार भेदों की दृष्टि से विभाजित भी किया है।[1] स्मरण रहे श्रीमद्भागवत और वल्लभ सम्प्रदाय का आधार लेने पर भी सूर की भक्तिभावना में मौलिकता भी दृष्टिगोचर होती है तथा वात्सल्यभाव की भक्ति, माधुर्यभाव की भक्ति और सगुण रहस्यात्मक भक्ति सर्वप्रथम सूरसागर में ही दीख पड़ती है।

कवियों के लिए बाललीला निश्चय ही वर्णनीय विषय है और स्वयं महात्मा ईसा का भी कथन है—Suffer little children to come unto me for such is the kingdom of Haven." अर्थात् छोटे-छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो क्योंकि स्वर्ग का राज्य ही ऐसा है। वास्तव में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में ही है

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० ६०१)

तथा विश्व के सभी प्रसिद्ध कवियों और चित्रकारों ने शैशवलीला का सुन्दर चित्रण किया है और महाकवि होमर के महाकाव्य 'आडेसी' का शिशु यूलियस का वर्णन समीक्षकों द्वारा विशेष रूप से सुन्दर कहा जाता है परन्तु सूर का बालवर्णन विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। स्मरण रहे कि सूरसागर में श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक के असंख्य रूप चित्र हैं जिनमें सूर की काव्यानुभूति, कल्पना, कला-कुशलता और शैली की चमत्कारिता एक साथ इस प्रकार व्यक्त हुई है कि पाठक मंत्र-मुग्ध से हो उठते हैं। श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन करते समय सूर ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावलि, केशविन्यास और आभूषण का भी मनोहर वर्णन किया है। यों तो वात्सल्यभावना को उद्दीप्त करने के लिए शिशु का सीधा-सादा चित्र भी कुछ कम प्रभावोत्पादक नहीं होता लेकिन महाकवि सूर की सौन्दर्यानुभूति ने प्रकृति के सौन्दर्य-भण्डार से भी अनेक उपकरणों को एकत्र कर अपनी उक्ति को इतना अधिक प्रभावशाली बना दिया है कि यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनके मानस का आनन्द ही उन्हें इस प्रकार के चित्र प्रस्तुत करने की प्रेरणा देता है तथा उनकी आनन्दानुभूति पर ही उनकी सौन्दर्यानुभूति आधारित है।[१] आचार्य शुक्ल के शब्दों में "जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं? उनमें केवल बाहरी

---

१. कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि पाई॥
कुलही लसति सिर स्याम सुँदर कैं बहु बिधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई॥
नील, स्वेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि गुरु असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई॥
दूधदन्तदुति कहि न जाति कछु, अद्भुत उपमा पाई।
किलकत हँसत दुरति, प्रगटति मनु, घन में बिज्जु छटाई॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जल पाई।
घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाई॥

तथा शिव और राम में उन्होंने कुछ भी विशेष अन्तर नहीं माना है लेकिन कृष्ण की ही ओर उनका अधिक अनुराग था और उन्हीं का गुणगान भी उन्होंने विस्तार के साथ किया है तथा कृष्ण-भक्ति-शाखा के ने सर्वप्रधान कवि भी कहे जाते हैं। विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय की दीनता, मान-मर्षणता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन और विचारण सात सोपानों का पूर्णरूप से वर्णन किया गया है। सूरदास जी वल्लभाचार्य के शिष्य थे और इतिहास तथा अन्तःसाक्ष्यों से भी उनका शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुयायी एवम् पुष्टिमार्गीय भक्त होना ही सिद्ध होता है अतः उन्हें प्रतिबिम्बवाद और वृन्दावनी सम्प्रदायों की भक्ति-भावना से प्रभावित समझना उचित नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि वल्लभसम्प्रदाय की भाँति सूरदास के इष्टदेव श्रीकृष्णरूप परब्रह्म ही हैं तथा सूरसागर में सख्य भक्ति-भावना ही दृष्टिगोचर होती है क्योंकि वल्लभाचार्य की भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि की प्रधानता थी और सखाभाव से कृष्ण की उपासना भी की जाती थी। स्मरण रहे कि दास्यभाव की ओर सूर ने उत्साह नहीं प्रकट किया है और सख्य भक्ति का ही दो रूपों में वर्णन किया है जिनमें से प्रथम में तो सूरसागर ही सखाभाव से गाया गया है और भक्त भगवान की प्रत्येक लीला में भाग लेता सा दृष्टिगोचर होता है तथा दूसरे गोप-बालाओं और कृष्ण-प्रसंग में सख्य भक्ति-भावना ही झलकती है। इतना ही नहीं सूरकाव्य में नवधा भक्ति के सम्पूर्ण अंग भी दृष्टिगोचर होते हैं और डा० रामकुमार वर्मा ने तो सूरसागर की कृष्णलीला को आसक्ति के प्रकार भेदों की दृष्टि से विभाजित भी किया है।[1] स्मरण रहे श्रीमद्भागवत और वल्लभ सम्प्रदाय का आधार लेने पर भी सूर की भक्तिभावना में मौलिकता भी दृष्टिगोचर होती है तथा वात्सल्यभाव की भक्ति, माधुर्यभाव की भक्ति और सगुण रहस्यात्मक भक्ति सर्वप्रथम सूरसागर में ही दीख पड़ती है।

कवियों के लिए बाललीला निश्चय ही वर्णनीय विषय है और स्वयं महात्मा ईसा का भी कथन है—Suffer little children to come unto me for such is the kingdom of Haven." अर्थात् छोटे-छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो क्योंकि स्वर्ग का राज्य ही ऐसा है। वास्तव में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में ही है

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा (पृ० ६०१)

तथा विश्व के सभी प्रसिद्ध कवियों और चित्रकारों ने शैशवलीला का सुन्दर चित्रण किया है और महाकवि होमर के महाकाव्य 'आडेसी' का शिशु यूलियस का वर्णन समीक्षकों द्वारा विशेष रूप से सुन्दर कहा जाता है परन्तु सूर का बालवर्णन विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। स्मरण रहे कि सूरसागर में श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक के असंख्य रूप चित्र हैं जिनमें सूर की काव्यानुभूति, कल्पना, कला-कुशलता और शैली की चमत्कारिता एक साथ इस प्रकार व्यक्त हुई है कि पाठक मंत्र-मुग्ध से हो उठते हैं। श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन करते समय सूर ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावलि, केशविन्यास और आभूषण का भी मनोहर वर्णन किया है। यों तो वात्सल्यभावना को उद्दीप्त करने के लिए शिशु का सीधा-सादा चित्र भी कुछ कम प्रभावोत्पादक नहीं होता लेकिन महाकवि सूर की सौन्दर्यानुभूति ने प्रकृति के सौन्दर्य-भण्डार से भी अनेक उपकरणों को एकत्र कर अपनी उक्ति को इतना अधिक प्रभावशाली बना दिया है कि यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनके मानस का आनन्द ही उन्हें इस प्रकार के चित्र प्रस्तुत करने की प्रेरणा देता है तथा उनकी आनन्दानुभूति पर ही उनकी सौन्दर्यानुभूति आधारित है।[1] आचार्य शुक्ल के शब्दों में "जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं? उनमें केवल बाहरी

---

१. कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।

खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छवि पाई॥
कुलही लसति सिर स्याम सुँदर कैं बहु बिधि सुरँग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई॥
नील, स्वेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि गुरु असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई॥
दूधदन्तदुति कहि न जानि कछु, अद्भुत उपमा पाई।
किलकत हँसत दुरति, प्रगटति मनु, घन में बिज्जु छटाई॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जल पाई।
घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाई॥

रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है; कवि ने बालकों की अन्तःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है।"[1] डा० इन्द्रनाथ मदान का भी यही विचार है कि "सूर ने बालजीवन के जो चित्र लिए हैं, उनमें केवल बाह्यरूप रेखाओं की ही झलक नहीं है वरन् उनमें बालकों की अन्तःप्रकृति का भी सजीव अंकन हुआ है। इसी अन्तर्दर्शन ने ही उनके चित्रों को इतना आकर्षक बना दिया है।"[2] यह तो स्पष्ट ही है कि माता अपने पुत्र को अत्यन्त प्यार करती है और पुत्र के सुख की चिन्ता तथा शङ्का ही जननी के मानस की वात्सल्यभावना है। शेक्सपियर ने कहा भी है—

Where love is great, the littest doubts are fears;
Where little fears grow great, great love is there.

सूर ने जननी की मानसिक भावनाओं का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है और हृदय की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में उन्हें अद्वितीय सफलता भी मिली है। डा० मुन्शाराम शर्मा ने उचित ही लिखा है "बाल-छवि और मातृ-हृदय की अनुभूति जितने व्यापक रूप में सूरसागर में अङ्कित हुई है उतनी और किसी कवि के काव्य में नहीं।"[3] माता के हृदय की कोमल कामनाओं का कितना सुन्दर और स्वाभाविक स्फुरण निम्नांकित पद में हुआ है—

> जसुमति मन अभिलाष करै।
> कब मेरौ लाल घुटरुनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै॥
> कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख बचन भरै।
> कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै॥
> कब मेरो अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
> कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने करसौं मुखहि भरै॥
> कब हँसि बात कहैगो मोसौं, जा छवि तै दुख दूरि हरै॥

वात्सल्य के समान ही शृङ्गार वर्णन में भी सूर को अद्वितीय सफलता मिली है और स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है

१. सूरदास— पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १७७)
२. हिन्दी कलाकार—डा० इन्द्रनाथ मदान (पृ० ८८)
३. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा (पृ० ४०५)

"वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृङ्गार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।"[१] स्मरण रहे कि वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति और दाम्पत्यासक्ति को अत्यन्त महत्व दिया गया है अतः सूर ने भी स्वाभाविक ही वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों ही आसक्तियों की अत्यन्त मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की है जिनमें कि संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों के अनेक हृदयग्राही चित्र हैं। जिस प्रकार कवि ने कृष्ण के कपोल, मुख, नेत्र, पुतली, अधर, वक्षस्थल पर शोभायमान कमल माला, चंचल दृष्टि, लोल कुण्डल आदि का कलापूर्ण वर्णन किया है उसी प्रकार राधा के रूप वर्णन में भी उसे अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है और रूपकातिशयोक्ति वाले पद तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। सूरसागर में संयोग शृङ्गार का व्यापक वर्णन दृष्टिगोचर होता है और कवि ने शृङ्गार सम्बन्धी अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है तथा कुंजविहार, यमुना स्नान, जलक्रीड़ा, हिंडोला-विहार और रासलीला आदि जितने भी संयोग शृंगार सम्बन्धी क्रीड़ा विधान हो सकते थे उन सभी का मनोहर वर्णन किया गया है। स्मरण रहे कि जहाँ कि एक विचारक की दृष्टि में "सूर का शृंगार लौकिकता का आधार ग्रहण करके भी सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक प्रेम के स्वरूप की, उसके विकास और अंतिम परिणति की व्याख्या करने वाला है"[२] वहाँ दूसरे समीक्षक का मत है कि "सूर के शृंगार की पृष्ठभूमि यद्यपि आध्यात्मिक है, वे राधा कृष्ण को प्राकृतिक पुरुष नहीं मानते वरन् वे उनको प्रकृति और पुरुष का रूप मानते हैं, तथापि उनके वर्णन लौकिक हैं।"[३] हमारी दृष्टि में तो सूर के शृंगार वर्णन में लौकिकता ही अधिक है और इसीलिए उसमें स्वाभाविकता ही दृष्टिगोचर होती है। सूर का संयोग शृंगार वर्णन विद्यापति की भाँति भौतिक नहीं है अपितु उसमें मानसिक तन्मयता और शृंगा-

१. भ्रमरगीतसार—पं० रामचन्द्र शुक्ल (भूमिका, पृ० २-३)
२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा (पृ० १६५)
३. हिन्दी काव्य विमर्श—श्री गुलाबराय (पृ० ९९)

रिक भावनाओं की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति भी है तथा शुक्ल जी के शब्दों में "सूर का संयोग शृंगार वर्णन एक आंशिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्यमाधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।"[१] साथ ही सूर ने अंतःजगत और बाह्यजगत दोनों का सौंदर्य वर्णन भी कुशलता के साथ किया है तथा बाह्यजगत का चित्रण करते समय उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का भी मनोमुग्धकारी वर्णन किया है और जैसा कि डा. मुंशीराम शर्मा ने लिखा है; "सूर ने प्रकृति का वर्णन निम्नांकित रूपों में किया है—

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण।
(२) प्रकृति का अलंकृत चित्रण।
(३) कोमल और भयंकर रूप।
(४) प्रकृति मानव क्रियाकलाप की पृष्ठभूमि।
(५) अलंकारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग।"[२]

संयोग शृंगार की भाँति सूर के विप्रलंभ शृंगार में भी व्यापकता एवम् गंभीरता दृष्टिगोचर होती है तथा उनकी प्रेमानुभूति निस्संदेह प्रशंसनीय है और जैसा कि डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "सूरदास के प्रेम में उस प्रकार के प्रेम की गंध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरह शंका से उत्कंठित और वियोगावस्था में मिलन लालसा में भरा रहता है।"[३] सूर का वियोग शृंगार वर्णन अत्यंत हृदयग्राही है और रासलीला के समय कृष्ण के अंतर्ध्यान होने पर या मान के अवसर पर ही केवल क्षणिक वियोग के कुछ चित्र मिलते हैं अन्यथा श्री कृष्ण जी जब अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं और काफी अरसे के पश्चात कृष्ण के दूत रूप में उद्धव आकर गोपियों को योग और निर्गुण ब्रह्म-उपासना का उपदेश देने लगते हैं तब इस प्रसंग में गोपियों की उक्तियों में विरह सागर सा उमड़ उठा है। सूरसागर में यह प्रसंग भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध है और आचार्य शुक्ल के शब्दों में "सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत

---

१. सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ. १८२)
२. सूरसौरभ—डा. मुंशीराम शर्मा (पृ. ४४८)
३. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ. ९९-१००)

है जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है।"[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि कल्पना और भावुकता का मणिकांचनमय योग सूर के इन पदों में पाया जाता है तथा डा. रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है "सूरदास ने मानव-हृदय के भीतर जाकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते हैं उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिए हैं कि वे अमर हो गए हैं। प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है, मानों हम उन्हें अनुभव कर रहे हैं। किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी में विदग्धता का कम्पन। हृदय की भावना अनेक रूप से व्यक्त होती है। एक ही भावना का अनेकों बार चित्रण होता है—नये नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही हो।"[2]

यद्यपि भ्रमरगीत का मूल आधार श्रीमद्भागवत ही है और उसमें उक्त कथानक 'अध्याय है' के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु सूर के भ्रमरगीत में निजी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं तथा कई नवीन प्रसंगों की भी उद्भावना की गई है। भागवत में तो उद्धव केवल कृष्ण का कुशल समाचार लेकर नंद यशोदा एवम् गोपगोपियों के विरह शोक-निवृत्ति हेतु तथा उनका कुशल-क्षेम लेने के लिए गोकुल गए थे परन्तु सूर के भ्रमरगीत में शुष्क ज्ञानमार्गी उद्धव को कृष्ण ने विशुद्ध प्रेमी और भक्त बनाने के हेतु गोपियों के पास भेजा था। स्मरण रहे परवर्ती कवियों ने भी अपने-अपने भ्रमरगीत काव्य में इसी परम्परा का निर्वाह किया है तथा नंददास के भँवरगीत में तो कृष्ण और गोपियों के कुशल समाचार के परस्पर आदान-प्रदान का का भाव गौण ही रह गया है तथा ज्ञान और योग मार्ग के ऊपर भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता दिखलाना ही उनका उद्देश्य रहा है। सूर का भ्रमरगीत भागवत और नंददास के भँवरगीत दोनों से ही उत्कृष्ट है और उसमें न केवल वियोग शृंगार की प्रधानता है अपितु निर्गुण ब्रह्म एवम् ज्ञान मार्ग का काव्यमय खंडन भी है तथा सूर की गोपियाँ नंददास की गोपिकाओं की भाँति केवल बुद्धिवादिनी ही नहीं हैं और न दार्शनिक तर्कों का उत्तर तर्कों से ही देती हैं बल्कि जैसा कि डा० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है "सूर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ. १७२)
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा. रामकुमार वर्मा (पृ. ७६६-७६७)

की गोपियाँ अपनी विरह दशा तथा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रकट करके ज्ञान और योग मार्गों के पक्षपाती उद्धव को प्रेम भक्ति की ओर खींचती हैं।"[1] वस्तुतः सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग भी सूर काव्य की मौलिकता का द्योतक है तथा निर्गुण पंथियों के बढ़ते हुए प्रवाह को अवरुद्ध करने के लिए भ्रमरगीत के अंतर्गत इस प्रसंग का समावेश कर उन्होंने उचित ही किया है। उद्धव निर्गुण की उपासना पर जोर देते हैं[2] परन्तु गोपियों के हृदय में नंदनंदन के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न था और इसीलिए पहले तो वे 'मन नाहीं दस बीस' कहकर ही ऊधौ की उक्तियों का तर्कयुक्त खंडन करती हैं परन्तु जब ऊधौ डटे ही रहे और उन्होंने पुनः निर्गुणोपासना तथा योग साधना का समर्थन किया तब गोपियों ने भी अपनी तर्कशक्ति से उनकी सभी उक्तियों का खंडन करते हुए कहा कि वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे अन्य सभी प्रमाणों को निम्न कोटि का समझती हैं और उद्धव से भी यही पूँछती हैं कि क्या उन्होंने स्वयं भी उस ब्रह्म को देखा है।[3] स्मरण रहे कि गोपियों ने स्वयं ही अपने नेत्रों से कृष्ण की छवि निहारी थी और उनका सान्निध्य-सुख भी प्राप्त किया था तथा उनके मानस से कभी भी उनकी स्मृति दूर नहीं हो सकती थी[4] अतः जब सुमेरु परोक्ष ही दृष्टिगोचर होता हो तब उसे तिनके की ओट में छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ ही है[5] और इस प्रकार निराकार की नीरसता तथा साकारोपासना की सरसता को गोपियों ने अपने मानसिक अनुभव के रूप में ही उद्धव के सामने प्रस्तुत किया है।[6] उद्धव अपना उपदेश देते ही जा रहे हैं कि बीच ही में कोयल बोल उठती है और गोपियाँ तुरन्त ही उद्धव

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त (पृ० ८५९)

२. नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनासी विनसै नाहीं, हो सहज ज्योति प्रकास॥

३. रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत॥

४. यहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवतें।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते।

५. सुनिहै कथा कौन निर्गुन की रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

६. कह्यौ कर्न दियौ मातुल बधि मदिरा मद प्रमाद।
सावधान एवै अवगुन के निर्गुन तें अति स्वाद॥

से कहती हैं कि तुम तो हमें भस्म रमाने को कह रहे हो उधर प्रकृति की दशा क्या है यह भी तो देखो।[1] इस प्रकार सूर ने विरह वर्णन की परम्परा के अनुकूल प्रकृति सौन्दर्य और ऋतुओं का उद्दीपन रूप में भी वर्णन किया है परन्तु उन्होंने प्रत्येक चित्र में नवीनता सी उत्पन्न कर दी है। वस्तुत संयोगावस्था में जो वस्तुएँ सुखदायिनी प्रतीत होती हैं स्वाभाविक ही वियोग में वे ही दुःखदायिनी भी बन जाती हैं[2] और इस प्रकार जो पावस ऋतु किसी समय उन्हें सुख प्रदान करती थी अब विरहोन्माद में वारिद खंड ही उन्हें आक्रांता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं[3] और कभी-कभी वे ही मेघ लोक सुखदायक रूप में भी देख पड़ते हैं तथा कृष्ण की अपेक्षा वे उन्हें अधिक दयालु एवम् परोपकारी समझती हैं।[4] साथ ही प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य होने के कारण वे ही जलद उन्हें प्रिय लगते हैं[5] और कभी-कभी उनका विरही शरीर ही वर्षा के सदृश प्रतीत होता है।[6] इस प्रकार काव्य-कला-कुशलता

१. कधौ कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेश करत हौ भस्म रमावन कानन॥
२. बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं॥
३. देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥
४. बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए॥
कहियत है सुरलोक बसत, सखि सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानिकै, तेउ तहाँ तैं धाए॥
तृन किए हरित हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए॥
५. आजु घनस्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे से सजनी, देखि रूप की आरि॥
इंद्र धनुष मनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन विचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिंद की सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भई ब्रज नारि॥
६. देखो माई नयनन्ह सों घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे॥

की दृष्टि से सूर का भ्रमरगीत निस्संदेह उत्कृष्टतम कृति है और जैसा कि श्री नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है "सूर व्यापक भावना के वाग्मिक भक्त थे; उन्होंने कृष्ण की संयोग लीलाओं में रस लिया था तो वियोग वार्ता में उससे भी अधिक रमणीय किया है।"[1] सूर की रस-व्यंजना भी अनुपम थी और जहाँ कि शृंगार, करुण, हास्य तथा वात्सल्य की उन्होंने सफलतापूर्वक अभिव्यंजना की है वहाँ भयानक, वीर और अद्भुत का भी वास्तविकता पूर्ण वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने इन तीन रसों की व्यंजना थोड़े से ही स्थलों पर की है परन्तु ये प्रसंग भी उनकी कुशल अभिव्यक्ति के परिचायक हैं। यद्यपि कुछ विचारकों ने सूर-काव्य पर अश्लीलता का भी दोषारोपण किया है क्योंकि संयोग शृंगार का वर्णन करते समय सूर ने कहीं-कहीं रतिवर्णन भी किया है परन्तु विद्यापति पदावली की भाँति सूर साहित्य में अश्लीलता पूर्ण कुरुचिउत्पादक पदों की अधिकता नहीं है और जैसा कि डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है—"उसमें विश्वविमोहन अनन्त सौन्दर्य तथा मधुर मर्मस्पर्शी प्रेम की व्यापक व्यंजना लोकपक्ष की प्रधानता के साथ भरी हुई है। उसमें सरस शृंगारमयी मनता की छटा लोकोत्तर आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना के साथ छहरी हुई है।"[2]

यह तो निर्विवाद ही है कि सूर ने जो कुछ लिखा है राग में लिखा है और श्री शिखरचंद्र जैन के शब्दों में "संगीत विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही है।"[3] सूर काव्य का अनुशीलन करते पर यही प्रतीत होता है कि सूर

ऊरध स्वास समीर तेज अति दुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन खग ऋतु पावस के मारे॥
दरि दरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सो कारे।
मानहुँ सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम निनारे॥
सुमिरि सुमिरि गरजत निसि बासर अस्रु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे॥

१. महाकवि सूरदास—श्री नंददुलारे वाजपेयी (पृ० १३९)
२. हिंदी साहित्य का इतिहास—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (पृ० २९१-२९२)
३. सूर: एक अध्ययन—श्री शिखरचन्द्र जैन (पृ० ९०)

संगीतशास्त्र के महान पंडित थे और विभिन्न राग-रागनियों में अपनी पद रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने सूरसारावली में कई राग-रागनियों का भी उल्लेख किया है[1] तथा इतना ही नहीं विभिन्न रसों के अनुरूप भी उनका प्रयोग किया गया है और इसीलिए शृंगार में ललित, गौरी, बिलास, सूहो और बसंत; करुण में जैतश्री, केदारा, धनाश्री और आसावरी; हास्य में टोड़ी, सोरठ और सारंग तथा शान्त में रामकली को प्रयुक्त किया गया है। आचार्य शुक्ल ने उचित ही लिखा है "सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे यह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[2] साथ ही सूर-सागर में छन्दों की विविधता भी दृष्टिगोचर होती है और राग के ही अन्तर्गत कवित्त, छप्पय, रोला और चौपाई आदि छन्द भी उन्होंने अपनाएँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के गीतिकाव्य का कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही निखरे हुए हैं तथा न केवल उनका भारतीय गीतिकाव्यकारों में ही अद्वितीय स्थान है बल्कि साथ ही उनके द्वारा रचित जितने गीत अभी तक उपलब्ध होते हैं उतने कदाचित ही विश्व की किसी भाषा में शायद ही किसी व्यक्ति ने लिखे हों और वस्तुतः डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन ने उचित ही लिखा है "Regarding Surdas's place in literature, I commonly add that he justly holds a high one. He excelled in all styles. He could, if occasion required, be more

---

१. ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
जान प्रभात राग पंचम षट मालकोस रस भीने॥
सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान।
सुर सावंत भूपाली ईमन करत कान्हरो गान॥
ऊंच अड़ाने के सुर सुनियत निपट नायकी लीन।
करत बिहार मधुर केदारो सकल सुरन सुख दीन॥
सोरठ गौड़ मलार सोहावन भैरव ललित बजायो।
मधुर बिभास सुनत बेलावल दंपति अति सुख पायो॥
देवगिरि देसाक देव पुनि गौरी श्री सुखधाम।
जैतश्री अरु पूर्वी टोड़ी आसावरि सुखराम॥
रामकली गुनकली केदारो सुर सुघराई गावे।
जै जै वंती जगतमोहनी सुर सौं बीन बजावे॥

२. सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० २००)

obscure than the sphyna and in the next verse he as clear as a ray of light. Other poets may have equalled him in some particular quality, but he combined the best qualities of all." अर्थात् मेरी दृष्टि में साहित्य में सूरदास का स्थान बहुत ऊँचा है। वे सब प्रकार की प्रणालियों में अद्वितीय हैं। आवश्यकता प्रतीत होने पर जहाँ कि वे जटिल से जटिल शैली में लिख सकते थे वहाँ साथ ही दूसरे पद में इस प्रकार की प्रणाली ग्रहण करते थे जिसमें कि प्रकाश रश्मियों की सी सुस्पष्टता हो। चाहे किसी एकमात्र विशिष्ट गुण में अन्य कवि उनकी समकक्षता कर भी लें लेकिन सूरदास में तो अन्य समस्त कवियों के सर्वोत्कृष्ट गुण एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार "सूरदास वास्तव में हिन्दी साहित्य गगन के सूर्य हैं जो पाठकों और श्रोताओं के मन-मन्दिरों को चिरकाल तक प्रकाशित करते रहेंगे।"[१]

---

१. सूर निर्णय—श्री० द्वारकादास परीख और श्री० प्रभुदयाल मीतल (पृ० ३३८)

तुलसी की काव्य-सुषमा

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय विचारक तथा साहित्यकार एवम् भक्तगण गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की प्रशंसात्मक धारणाएँ रखते हैं और उन्होंने उनका महत्व सिद्ध करने के लिए कई प्रकार की तुलनात्मक उक्तियों का सहारा भी लिया है[1] परन्तु उनके साथ-साथ विदेशी इतिहासज्ञों एवम् साहित्यकारों ने

---

१. देखिए—

(क) आनन्द कानने कश्चित् तुलसी जंगमस्तकः ।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषिता ॥

—मधुसूदन सरस्वती

(ख) रामचरितमानस विमल संतन जीवन प्रान ।
हिन्दुवान को वेद सम जमनहिं प्रगट पुरान ॥

(ग) "भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने अधिक भाग लिया है···।"

—महात्मा गाँधी

(घ) भारतीय साहित्य के इतिहास में तुलसीदास जी के रामायण का एक स्वतंत्र स्थान है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है और उस भाषा का यह सर्वोत्तम ग्रंथ है, अतः राष्ट्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का स्थान अद्वितीय है ही पर भारत के सात-आठ करोड़ लोग इसे वेदतुल्य मानते हैं। यह नित्य परिचित तथा धर्मजागृति का एकमात्र आधार है, अतः धर्मदृष्टि से भी इसे अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है।

—श्री विनोबा भावे

(च) गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(च) मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का लक्ष्योज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्यस्मृति चिरंतन सुप्ति में जाग्रत है।

—श्री सुमित्रानन्दन पंत

(छ) वे आदर्शवादी ही नहीं, आदर्श स्रष्टा थे, और अपने काव्य से भावी समाज की नींव डाल रहे थे। वे उस देश में पैदा हुए थे जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के जन्म होने के हजारों वर्ष पहले रामायण लिखी गई थी, अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्य

भी तुलसीदास को असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा कहा है। स्मरण रहे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विन्सेंट ए० स्मिथ (Vincent A. Smith) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Akbar, the great Moghul में लिखा है कि तुलसीदास अपने युग में भारत के सर्वाधिक महान् व्यक्ति थे। वे इस दृष्टि से अकबर से भी अधिक बढ़कर थे कि उन्होंने सम्राट् की एक या समस्त विजयों की अपेक्षा असंख्यगुनी अधिक चिरस्थायी और महत्त्वपूर्ण विजय कोटि-कोटि नर-नारियों के हृदय एवम् मन पर प्राप्त की थी।[1] इसी प्रकार सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी तुलसी को गौतम बुद्ध के बाद सबसे बड़ा लोकनायक माना है तथा उनका विचार है कि आधुनिक काल में तुलसीदास के समान अन्य दूसरा ग्रन्थकार नहीं हुआ।[2] इतना ही नहीं अन्य

द्रष्टा थे। आज तीन साढ़े तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई संदेह नहीं रह गया कि उन्होंने सचमुच ही भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास के आदर्शों पर गठित हुआ। वही उसके मेरुदंड है।

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

(ब) रामचरित मानस मानव जीवन का महाकाव्य है। इसके द्वारा गोस्वामी जी ने हमारी आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

—डा० भगीरथ मिश्र

1. It is a relief to turn from the triviality and impurity of most of the versifiers in Perian to the virrle, pure work of a great Hindu—the tallest tree in the magic garden of mediaeval Hindu Poesy. His name will not be found in the Ain a-Akbari, or in pages of any muslim annalist, or in the books by European authors based on the narrotives of the Persian historians. Yet that Hindu was the greatest man of his age in India—greater even than Akbar himself, in as much as the conquest of the hearts and minds of millions of men and women affected by the poet was an ahievement infinitely more lasting and important than any or all of the victories gained in war by the monarch.

—Akbar, the Great moghul—V. A. Smith (P. 417)

2. Indian Antiquary; 1893; p 85.

और भी—

I give much less than the usual estimate when I say that fully ninety millions of people base their theories of moral

पाश्चात्य विचारकों ने भी तुलसीदास की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है तथा डा० के ने अपनी कृति 'हिन्दी लिटरेचर' में लिखा है "हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान निस्सन्देह सर्वोच्च है और उनकी रामायण न केवल भारत में ही वरन् समस्त संसार में सुविख्यात है।" डा० जे. एम. मैक्फी ने भी अपनी पुस्तक 'दि रामायण ऑफ तुलसीदास' और दि 'बाइबिल आफ नार्दर्न इंडिया' की भूमिका में लिखा है "गोस्वामी तुलसीदास जी के ग्रन्थों में भक्ति का जो उग्र और विशुद्ध भाव आता है उससे बढ़कर उग्रभाव और कहीं नहीं दिखलाई देता।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल भारतीय साहित्य में अपितु विश्व साहित्य में तुलसी का उल्लेखनीय स्थान है।

स्मरण रहे तुलसी के कवि रूप का मूल्यांकन करते समय सर्व-प्रथम समस्या हमारे सामने यह आ उपस्थित होती है कि उन्होंने कौन-कौन सी कृतियों का प्रणयन किया है। यो तो तुलसीदास के नाम पर अभी तक लगभग अढ़ाई दर्जन पुस्तकें प्राप्त हो चुकी हैं लेकिन चूँकि तुलसी ने अपनी किसी भी रचना में अपनी अन्य कृतियों के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया है अतएव रचना सम्बन्धी अन्तस्साक्ष्य की अलभ्यता के अभाव में वाह्य साक्ष्यों का ही सहारा लेना पड़ता है। बाबा वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईं चरित' में तुलसी की निम्नाङ्कित कृतियों का कालक्रमानुसार उल्लेख किया गया है—रामगीतावली तथा कवितावली के कुछ छन्द (सं० १६२८ से ३१ तक); कृष्णगीतावली (सं० १६२८), रामचरितमानस (सं० १६३१), दोहावली (सं० १६४०), सतसई और रामविनयावली-विनयपत्रिका (सं० १६४२); रामलला नहछू, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल (सं०१६४३), वाहुक (सं० १६६९), वैराग्यसंदीपिनी, रामाज्ञाप्रश्न और बरवै रामायण (सं० १६६९)।

---

and religious conduct upon his (Tulsidas') writings. If we take the influence exercised by him at the present time as cur test, he is one of the three or four great writers of Asia...over the whole Gangetic Valley his great work (The Ramayana) is better known than the Bible is in England.

—Encyclopaedia of Religion and Ethics, 1921, Edition; P. 471.

इसी प्रकार शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है "इनके बनाये ग्रन्थों की ठीक-ठीक संख्या हमको मालूम नहीं हुई। केवल जो ग्रन्थ हमने देखे हैं अथवा हमारे पुस्तकालय में हैं, उनका जिक्र किया जाता है। प्रथम ४९ काण्ड रामायण बनाया है, इस तफसील से १ चौपाई रामायण ७ काण्ड, २ कवितावली ७ काण्ड, ३ गीतावली ७ काण्ड, ४ छन्दावली ७ काण्ड, ५ बरवै ७ काण्ड, ६ दोहावली ७ काण्ड, ७ कुण्डलिया ७ काण्ड, औ सेवाय इन ४९ काण्ड के १ सतसई २ राममलाका ३ संकटमोचन ४ हनुमन्बाहुक ५ कृष्णगीतावली ६ जानकीमंगल ७ पारवर्तमंगल ८ करखाछन्द ९ रोलाछन्द १० झूलना छन्द इत्यादि और भी ग्रंथ बनाये हैं अन्त में विनय पत्रिका महाविचित्र मुक्तिरूप ब्रह्मानन्दसागर ग्रन्थ बनाया है।" सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'इण्डियन एंटिकरी' में प्रकाशित अपने निबन्ध 'नोट्स आन तुलसीदास' में उनके केवल २१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है—रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, दोहावली, छप्पय रामायण, रामसतसई, जानकीमंगल, पारवर्तीमंगल, वैराग्य संदीपिनी, रामललानहछू, बरवैरामायण, रामाज्ञाप्रश्न या रामसगुनावली, संकटमोचन, विनयपत्रिका, बाहुक, रामशलाका, कुंडलिया रामायण, करखारामायण, रोला रामायण, झूलना, श्रीकृष्ण गीतावली लेकिन 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' में उन्होंने अधिक मान्य बारह ग्रन्थों की ही सूची दी है तथा इन ग्रन्थों को भी दो भागों में—बड़े और छोटे ग्रंथ—विभाजित किया है; देखिए—

बड़े ग्रंथ—कवितावली, दोहावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली, विनय पत्रिका और रामचरित मानस।

छोटे ग्रंथ—रामललानहछू, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामाज्ञा।

'बंगवासी' के मैनेजर की ओर से उपहारस्वरूप तुलसी के ये सत्रह ग्रंथ भेंट किए गए थे—मानस रामायण, श्री रामललानहछू, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, श्रीराम गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली, दोहावली, श्री रामाज्ञा प्रश्न, कवित्त रामायण, कलिधर्माधर्मनिरुपण, विनय पत्रिका, छप्पय रामायण, हनुमान बाहुक, हनुमान चालीसा, संकट मोचन। कालान्तर में इस सूची में कुंडलिया रामायण, छंदावली, तुलसी सतसई नामक तीन

ग्रन्थ और जोड़ कर कुल बीस ग्रन्थ तुलसी के माने गए। डा० ग्रियर्सन की सूची से इस तालिका का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसमें तीन नई पुस्तकों का उल्लेख हुआ था तथा चार नाम कम गिनाए गए हैं अतः इन सभी नये ग्रंथों मिला कर जोड़ने पर तुलसी के कुल २४ ग्रंथ माने जा सकते हैं। मिश्रबन्धुओं ने तो इस तालिका में 'पदावली रामायण' नामक एक ग्रंथ और जोड़कर कुल संख्या पचीस तक पहुँचा दी है परन्तु वे स्वयं अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दी नवरत्न' में राम चरित मानस, कवितावली, गीतावली, जानकी मंगल, कृष्णगीतावली, हनुमान बाहुक, हनुमान चालीसा, रामशलाका, राम सतसई, विनय पत्रिका, कलिधर्माधर्मनिरूपण और दोहावली नामक बारह ग्रंथों को प्रामाणिक तथा कड़खा रामायण, कुण्डलिया रामायण, छप्पय रामायण, पदावली रामायण, रामाज्ञा, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, संकट मोचन, छंदावली रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण इत्यादि तेरह ग्रन्थों को अप्रमाणिक मानते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों के अनुसार तुलसी के नाम से प्रचलित लगभग पैंतीस ग्रन्थ मिलते हैं जो कि एक ही तुलसी के नहीं अपितु तुलसी नामधारी कई व्यक्तियों द्वारा रचे गए हैं। इस प्रकार तुलसी के निम्नांकित बारह ग्रन्थों को ही उनकी प्रामाणिक रचनाएँ मानकर 'तुलसी ग्रंथावली' के रूप में उन्हें प्रकाशित किया गया है। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. राम चरित मानस, २. रामलला नहछू ३. वैराग्य संदीपिनी ४. बरवै रामायण ५. पार्वती मंगल ६. जानकी मंगल ७. रामाज्ञा प्रश्न ८. दोहावली ९. कवितावली १०. गीतावली ११. श्रीकृष्ण गीतावली १२. विनय पत्रिका।

स्मरण रहे इन्हीं ग्रन्थों को आज तक विद्वानों और हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों द्वारा मान्यता दी जाती है।

जैसा कि डा. भगीरथ मिश्र का विचार है कि "तुलसी की जागरूक चेतना ने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान रखकर विविध ग्रन्थों की रचना की थी" हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि तुलसी का प्रादुर्भाव जिस समय हिन्दी साहित्य में हुआ उस समय काव्य-क्षेत्र में कई शैलियाँ प्रचलित थीं। वीरगाथाकालीन कवियों ने छप्पयों की प्रणाली चलाई और वीर काव्य की रचना की। मैथिल

कोकिल विद्यापति ने सुमधुर गीतों की रचना की तथा एक सर्वथा नूतन शैली को पल्लवित किया जिसके फलस्वरूप उन्हें हिन्दी गीति काव्य एवं हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य का जन्मदाता माना जाता है। यों तो संतों ने भी पदों की रचना की थी पर उपदेश के लिए दोहा छंद ही उन्होंने अपनाया तथा कबीर ने अपने नीतिपरक दोहों से काव्याकाश की शोभा वृद्धि की। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपभ्रंश-कालीन कवियों ने भी इसी दोहा-पद्धति को अपनाया था। प्रेममार्गी शाखा के कवि जायसी ने दोहों और चौपाइयों में 'पद्मावत' की रचना कर अवधी का मधुर स्रोत प्रवाहित किया यद्यपि दोहे चौपाइयों में प्रबंध-काव्य लिखने वाले प्रथम कवि ईश्वरदास थे जिन्होंने कि 'सत्यवती कथा' नामक काव्य की रचना दोहे चौपाइयों में की। इन चार शैलियों के अतिरिक्त भाटों की कवित्त सवैया पद्धति भी उस समय प्रचलित थी और अपने आश्रयदाताओं के गुणगान हेतु भाटों ने इसी पद्धति को अपनाया था। इस प्रकार तुलसी के समय ये पाँच प्रकार की अभिव्यंजन शैलियाँ हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रचलित थीं और तुलसी ने इन पाँचों प्रकार की शैलियों को अपनाया है। यद्यपि वीरगाथाकालीन कवियों की छप्पय पद्धति पर तुलसी की रचनाएँ बहुत कम हैं लेकिन इतनी थोड़ी सी रचनाएँ ही यह सिद्ध करने में सक्षम हैं कि तुलसी को इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। तुलसी का यह निम्नांकित छप्पय देखिए जिससे पता चलता है कि वीरगाथाकालीन कवियों के सदृश छप्पय लिखने में वे पूर्ण निपुण थे—

> डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
> ब्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
> दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
> सुरबिमान, हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
> चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
> ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

गोस्वामी जी ने हिन्दी गीतिकाव्य को भी अलंकृत किया है तथा विनय पत्रिका, गीतावली और कृष्ण गीतावली में गीत पद्धति को ही अपनाया है। इन गीति काव्यों की रचना रागरागनियों के आधार पर पद शैली में हुई है। विनयपत्रिका तुलसी का प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें

विनय और आत्म-निवेदन के साथ-साथ समस्त देवी-देवताओं की स्तुति भी की गई है। मानस की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में भी वे पूर्ण सफल रहे हैं तथा विश्व के माया जाल से ऊब कर इस प्रकार कहते हैं—

केसव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे ॥
रविकर-निकर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥

गीतावली के सृजन में तुलसी ने सूर का अनुसरण सा किया है तथा बाललीला का वर्णन तो सूर के पदों से मिलता-जुलता सा है और कई पद तो ज्यों के त्यों 'सागर' में मिलते हैं केवल राम और श्याम का अंतर है। उत्तरकांड में तुलसी के राम भी सूर के कृष्ण की भाँति हिंडोला झूलते और होली खेलते दिखाए गए हैं। राम और सीता का नख-शिख सौंदर्य वर्णन भी उन्होंने किया है।[1] यद्यपि गीतावली में मानस के सदृश्य कथा का पूर्ण निर्वाह नहीं है तदपि कहीं-कहीं सुंदर-सुंदर गीत अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। राम के विरह मे व्यथित सीता अशोकवाटिका में त्रिजटा से इस प्रकार कहती हैं—

अबलौं मैं तोसों न कहे री।
सुन त्रिजटा ! प्रिय प्राननाथ बिनु बासर निसि दुख दुसह सहे री ॥

---

१. देखिए—

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि बर बरन, हरन-मन, सुन्दरता नख सिख निबही री ॥
ब्याह बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही री।
जीवन जनम लाहु लोचन फल है इतनोइ लह्यो आजु सही, री ॥
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहुँ मही, री ॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनों, सिला लवनि रति काम लही री ॥

> बिरह बिषम बिष बेलि बढ़ी उर, सुख सकल सुभाय दहे री।
> सोइ सींचिबे लागि मनसिज के रहँट नयन नित रहत नहे री॥
> सर सरीर सूखे प्रान-बारिचर जीवन आस तजि चलनु चहे री।
> तै प्रभु-सुजस सुधा सीतल करि राखे तदपि न तृप्ति लहे री॥
> रिपु रिस घोर नदी बिबेक-बल-धीर सहित हुते जात बहे री।

'कृष्ण गीतावली' पर भी सूरदास के सूरसागर का प्रभाव पड़ा है परन्तु यह गीतावली से अधिक स्वाभाविक, सुमधुर और सरस है। स्मरण रहे सूरदास के सदृश्य तुलसी ने भी कृष्ण-गीतावली में बाल-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन, रास-लीला और भ्रमर-गीत आदि का मनोहर वर्णन किया है। विरह व्यथित गोपियाँ कृष्ण के वियोग में कहती हैं—

> जब तें ब्रज तजि गए कन्हाई।
> तब तें बिरह-रवि उदित एक रसि सखि बिछुरनि-वृष पाई।

इस प्रकार तुलसी गीति-काव्य के सृजन में भी पूर्ण सफल रहे हैं तथा कबीर आदि संतों के सदृश्य तुलसी ने दोहा पद्धति को भी अपनाया है। यों तो रामचरित मानस में भी दोहे हैं परन्तु दोहावली नामक इनकी एक कृति और है जिसके दोहों में रामभक्ति का उपदेश है। स्मरण रहे तुलसी की दोहावली में भावुकता और कल्पना का सुन्दर योग है तथा मार्मिकता भी दर्शनीय है। कुछ उदाहरण देखिए—

> हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥
> राम नाम अवलम्ब बिनु परमारथ की आस।
> बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
> भुज-तरु-कोटर-रोग-अहि बरबस कियो प्रवेस।
> बिहँगराज-बाहन तुरत काढ़िय, मिटइ कलेस॥
> मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
> सुजस धवल, चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर॥
> रीझि आपनी बूझ पर खीझि विचार विहीन।
> ते उपदेश न मानहीं, मोह-महोदधि मीन॥

जिस प्रकार जायसी ने दोहे चौपाई के क्रम से पद्मावत नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना की उसी प्रकार तुलसी ने भी दोहे चौपाई के क्रम से 'रामचरित मानस' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना की है जो कि

आज भी भारत के ही नहीं विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में गिना जाता है। तुलसी ने भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति को भी अपनाया है और कवितावली जैसे सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन छन्दों के प्रयोग में उन्हें अप्रतिम सफलता मिली है। साथ ही रहीम की बरवै वाली शैली भी उन्होंने अपनाई है और अपनी बरवै रामायण की रचना बरवै छन्दों में की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने हिन्दी काव्यक्षेत्र में प्रचलित तत्कालीन सभी प्रकार की काव्य प्रणालियों को अपनाया है और वास्तव में हरिऔध जी ने उचित ही लिखा है—

कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।

वस्तुतः किसी भी कवि की काव्य कला की समीक्षा करते समय यह अवश्य देखना चाहिए कि वह बहिर्जगत और अन्तर्जगत के चित्रण में कितना अधिक सफल रहा है अर्थात् बाह्यजगत और आभ्यन्तरिक जगत में बैठकर उत्तम-उत्तम भावों का संचय कर उन्हें वह कुशलता से अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त कर सका है या नहीं। कवि को बाह्यजगत के चित्रण में यदि सफलता मिल गई तो वह अन्तर्जगत का भी चित्रण कुशलता से कर सकेगा। वास्तव में कवि के बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञान ही उसके अन्तर्गत का मूल आधार है। कालिदास और शेक्सपियर दोनों विश्व कवियों की रचनाओं का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि जहाँ कालिदास बाह्यजगत के चित्रण में अत्यधिक सफल रहे हैं वहाँ शेक्सपियर एकमात्र अन्तर्जगत का ही चित्रण कर सका है। इस प्रकार दोनों का क्षेत्र एकांगी ही रहा परन्तु तुलसी को दोनों क्षेत्रों में सामान्य रूप से सफलता मिली है और बाह्यजगत के साथ-साथ आभ्यन्तरिक जगत का चित्रण भी वे कुशलता से कर सके हैं तथा ऐसा कोई भी विषय अवशेष नहीं रहा जिसका कि वर्णन उन्होंने न किया हो। तुलसी की इस वर्णन शैली की प्रशंसा करते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा भी है—"तुलसीदास में वर्णन शक्ति अद्भुत थी। बाह्यजगत का सूक्ष्म निरीक्षण किये बिना कवि में ऐसी वणन शक्ति का विकास नहीं हो सकता। तुलसीदास ने जिस विषय को हाथ में लिया उसका उन्होंने एक जीता-जागता चित्र सा खींचकर खड़ा कर दिया है। इससे उनकी सुरुचि और प्रत्येक विषय को सांगोपांग देखने और उसमें निहित सौन्दर्य को हृदयंगम करने की अद्भुत पिपासा का

प्रमाण मिलता है।" स्मरण रहे कि साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण करते समय जो उसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, दिन, अन्धकार, प्रातःकाल, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, मात्रा, विवाह आदि का यथानुसार सांगोपांग वर्णन होना आवश्यक माना है; हम देखते हैं कि 'रामचरित मानस' में इन समस्त विषयों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है तथा प्रसंगानुसार कवि ने इन सभी का वर्णन किया है।

यद्यपि तुलसीदास एक भक्त अवश्य थे लेकिन साथ ही कवि-महाकवि—भी थे। यों तो जहाँ तक कलात्मक दक्षता का प्रश्न है उसके प्रदर्शन से उन्होंने अपने को बिलकुल ही अलग रखना पसंद किया है और कवि-कर्म की महिमा तथा उसकी दुरूहता के व्यंजनार्थ अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए कहा है—

कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
... ...
कवि न होउँ नहिं चतुर कहाउँ। मति अनुरूप रामगुन गावउँ॥
... ...
कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
संकर चरित सुर सरित मनहिं अन्वावुँ॥

इस कथन को देखकर यह अनुमान करना कि तुलसी को कला-संबंधी या काव्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान नहीं था अज्ञानता ही समझा जाएगा क्योंकि इन पंक्तियों में उन्होंने अपनी दीनता ही प्रदर्शित की है और प्रत्येक सत्कवि इसी प्रकार की विनम्रता व्यक्त करता है।[1] वस्तुतः इन पंक्तियों द्वारा यही भास होता है कि तुलसी का लक्ष्य कविता करना न था और न उनमें यशोलिप्सा ही थी। अतएव उनकी

---

१. इसी प्रकार कालिदास ने भी अपनी निरभिमानता इन शब्दों में व्यक्त की है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
(रघुवंश)

प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर ने भी अपनी नम्रता प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

Thus far with rough and all unable pen,
our bending author hath Pursued the Story
(King Henvy V.)

भक्ति-भावना ही उनकी काव्य-कृतियों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है और जिस प्रकार वे भक्ति क्षेत्र में महान थे उसी प्रकार कविता जगत में भी उनका अद्वितीय स्थान था। वस्तुतः कवि वही है जिसकी भावनाएँ आप ही आप जाग्रत होकर उद्‌गारों के रूप में प्रकट हो उठें और उनकी अभिव्यक्ति के हेतु कवि को विशेष परिश्रम न करना पड़े। तुलसी की 'स्वतः सुखाय' कृतियाँ इसीलिए आज तक आदर की दृष्टि से देखी जाती रही हैं और बाल-वृद्ध सभी को आनन्द प्रदान कराती रही हैं क्योंकि स्वयं तुलसी ने ऐसे उक्ति-वैचित्र्य को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया जिसके भीतर सत्य का समावेश न हो अथवा जिसके भीतर जीवन का मार्ग प्रदर्शन करनेवाले उदात्त चरित्र का चित्रण न हो। वे कोरे कागज में सत्य का लिखना ही अपना उद्देश्य मानते हैं और उनकी दृष्टि में काव्य-कला का यही व्यापक एवं उदात्त आदर्श हो सकता है कि जो समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति का कल्याण कर सके वही कला है।[1] तुलसी का यह भी विचार है कि नर काव्य सज्जनों के लिए अग्राह्य होता है अतएव सुकवि उसके फेर में न पड़ कर शारदा के अनुग्रह से हृदय में उत्पन्न सविचारजन्य कविता में रामचरित पिरो कर उनका कण्ठहार प्रस्तुत करता है—

> हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
> जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥
> जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग।
> पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥

यद्यपि बहिर्जगत का चित्रण करते समय तुलसी ने प्राकृतिक दृश्यों की सुषमा भी अंकित की है किन्तु उनके चित्रण में कलात्मकता की अपेक्षा गूढ़ उपदेश ही दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः इन्होंने प्रकृति को उपदेश और नीति का माध्यम माना है तथा प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में उन्हें उपदेश ही उपदेश दृष्टिगोचर होते हैं। पावसवर्णन में गिरि-उपत्यकाओं, नीलवारिदों और विद्युच्छटा की रमणीयता का चित्रण

---

१. देखिए—

> कीरति भनिति भूति भलि सोई।
> सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

करने की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया बल्कि विद्युत की चंचलता देखकर उन्हें दुर्जनों की प्रीति का स्मरण होता है, पावस पयोदों को देख उन्हें विद्वानों की नम्रता की स्मृति होती है, पर्वतों की सहिष्णुता से उन्हें संतों की सहिष्णुता का ध्यान होता है, थोड़ी सी ही वृष्टि से सरिताओं में आनेवाली बाढ़ से उन्हें थोड़ा सा ही धन पा जाने पर इतरानेवाले दुष्टजनों की याद आती है और सरोवरों के जल ग्रहण करने से उन्हें उन सज्जनों का स्मरण होता है जो कि सुन्दर-सुन्दर विचारों को ग्रहण करते हैं। यद्यपि प्रकृति को उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत में ही विस्तार सहित अंकित किया गया है तथा तुलसी का वर्षा वर्णन और शरद वर्णन दोनों ही श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय के वर्षा और शरद वर्णन से प्रभावित से हैं[1] किन्तु तुलसी के ऋतुवर्णन में विशदता

---

१. महर्षि व्यास का वर्षावर्णन देखिए—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद् ब्राह्मण नियमात्यये॥
आसन्नुत्पथ वाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देह द्रविण सम्पदः॥
गिरयो वर्षं धाराभिर्न्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यं यथाधोक्षजचेतसः॥
मेघ गमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दाञ्छिखरवारीटनाः।
गृहेषु तप्ता निर्विराणा यथाऽच्युत जनागमे॥

—श्रीमद्भागवत-स्कंध १० पूर्वार्द्ध, अध्याय २०

अब तुलसी के वर्षा वर्णन की ये पंक्तियाँ देखिए—

दामिनी दमक रही घन माहीं। खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि निअराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए॥
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरेहुँ धन खल बौराई॥
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सद्‌गुन सज्जन पहिं आवा॥
दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
लछिमन देखहुँ मोरगन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरत रत हरष जस, विष्णु भगत कहुँ पेखि॥

इसी प्रकार महर्षि व्यास का यह शरद् वर्णन देखिए—

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरद कर्दम।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥

है तथा कहीं-कहीं नूतन मौलिक विचारों का भी संगुफन किया गया है। चूँकि उनकी दृष्टि में समस्त प्रकृति उपदेशिका है अतः पम्पा सरोवर में अपनी प्यास शान्त करने के लिए आए हुए मृगों के झुंड को देखकर उन्हें उदार गृहस्थ के द्वार पर एकत्रित याचकों का ध्यान आता है—

जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृगनीरा।
जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

परन्तु इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन में प्रकृति का स्थान गौण ही रहता है और उपदेशात्मक तथा नीतिपरक भावना को ही प्रधानता मिलती है। यद्यपि तुलसी का प्रकृति-वर्णन विशेष रूप से इसी शैली का है किन्तु उन्होंने एक-दो स्थलों पर आलम्बन रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया और उसका सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी प्रत्येक वस्तु का परिगणन न कराकर सबको एकत्रित कर संश्लिष्ट योजना द्वारा एक मनोरम दृश्य उपस्थित कर दिया है; देखिए—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु, प्रवेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत॥

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथात्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषः॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥
वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थेन प्रपेदिरे।
वर्षे रुद्धो यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते॥

—श्रीमद्भागवत स्कंध १०, पू०, अ० २०

अब तुलसी के शरद् वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

उदित अगस्त पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥
जानि सरद ऋतु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए॥
पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी॥
जल संकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥
चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

चहुँ दिसि बन संपन्न, विहँग-मृग बोलत सोभा पावत ।
मनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे संगनि ।
मनहु आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि ॥
सिखर परस घन घटहिं, मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी ।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥
जल जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग ।
मानहु जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अंग-अंग ॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे ।
तुलसी सकल सुकृत-सुख लगि मानौं राम-भगति के पाछे ॥

इसी प्रकार तुलसी के रूपवर्णन में भी कल्पना और भावुकता का सुन्दर संयोग देख पड़ता है तथा अप्रस्तुत विधान की सहायता से यद्यपि उन्होंने सीता का रूपवर्णन अलंकार पूर्ण ही किया है किन्तु वे सर्वथा संयत रहे हैं और उन्होंने मर्यादा का अतिक्रमण कहीं भी नहीं किया ।

किसी भी कवि की भावुकता का परिचय इसी बात से लग सकता है कि वह अपने काव्य में अधिक से अधिक कितने मर्मस्पर्शी प्रसंगों को अंकित कर सका है तथा प्रबंध-काव्य वही सफल हो सकता है जिसमें कि मर्मस्पर्शी स्थलों की बहुलता हो। तुलसी को इस दिशा में भी अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और 'मानस' में राम वनगमन, राम-भरत भेंट, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम विलाप आदि कई हृदयस्पर्शी वर्णन हैं। तुलसी वस्तुतः पूर्ण रूप से भावुक थे और इसीलिए उनकी भावुकता उनकी कृतियों में सर्वत्र ही झलक उठती है। एक चित्र देखिए—

राम-बास थल बिटप बिलोकें ।
उर अनुराग रहत नहिं रोकें ॥

राम से भेंट करने के लिए भरत नंगे पैरों दौड़े चले आ रहे हैं। मार्ग में जहाँ कहीं उन्हें यह विदित होता है कि इस स्थल पर ठहरकर राम ने विश्राम किया था; उस स्थल को देखते ही प्रेम से गद्गद हो वे नैनों से नीर प्रवाहित करने लगते हैं। दाम्पत्य प्रेम के पुनीत चित्र भी तुलसी की लेखनी ने प्रस्तुत किए हैं लेकिन इनमें शृंगार रस

की अभिव्यंजना होते हुए भी रीतिकालीन कवियों की सी उच्छृंखलता नहीं है। शृंगार रस का एक उदाहरण देखिए—

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावहिं गीत सबै मिलि सुन्दरि, बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकि, कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

संयोग शृंगार की ही भाँति विप्रलंभ शृंगार की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना भी तुलसी की कृतियों में हुई है लेकिन उनके विरहवर्णन में जायसी के विरहवर्णन की भाँति न तो वीभत्सता ही है और न विहारी आदि कवियों की भाँति ऊहात्मकता ही है। विप्रलम्भ शृंगार रस युक्त इन पंक्तियों को देखिए—

लछिमनु देखु बिपिन कइ सोभा।
देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥
नारि सहित सब खग-मृग-बृन्दा।
मानहु मोरि करत हहिं निन्दा॥
हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं।
मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनन्द करहु मृग जाये। कंचन मृग खोजन ये आये।
संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहुँ मोहिं सिखावन देहीं॥
देखहु तात बसंत सुहावा। प्रिया हीन मोहि भय उपजावा॥

हास्य रस का सुन्दर स्रोत नारदमोह के प्रसंग में प्रवाहित होता है। नारद राज-कन्या को मोहित करने के लिए विष्णु से सुन्दर रूप माँगने गये थे पर उन्हें मिला बन्दर का रूप। वे उसी प्रकार का रूप लिए स्वयम्बर की सभा में पहुँचे। कवि ने इस प्रसंग में बड़ी ही कुशलता के साथ हास्य रस की व्यंजना की है; देखिए—

काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृप कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हर गन मुसुकाहीं॥

यह एक शिष्ट-हास्य स्मित हास्य का उदाहरण है; अब हास्य का यह दूसरा मनोरंजक उदाहरण देखिए—

> बिंध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी
> महा, बिनु नारि दुखारे।
> गौतम तीय तरी, तुलसी सो
> कथा सुनि भे मुनि बृंद सुखारे॥
> ह्वै हैं सिला सब चंदमुखी
> परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
> कीन्हीं भली रघुनायक जू,
> करुना करि कानन को पगु धारे॥

जनक के 'वीर विहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति में जो रौद्रता आई वह तुलसी के शब्दों में देखिए—

> माखे लखन कुटिल भईं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें।
> रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥

इन पंक्तियों में देखिए कि शोक स्थायी भाव आलम्बन और उद्दीपन विभाव तथा संचारियों से पोषित होकर अपनी पूर्णावस्था की प्राप्ति से करुण रस की निष्पत्ति किस प्रकार कर रहा है—

> पति सिर देखत मंदोदरी। मुरछित बिकल धरनि खसि परी॥
> जुवति बृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥
> पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥
> उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥

यद्यपि वीररस के चार भेदों में से युद्ध वीर के वर्णन गोस्वामीजी ने अनेक प्रसंगों में किए हैं लेकिन उन्होंने राम में वीररस के चारों भेदों के लक्षण भी घटित किए हैं। इतना ही नहीं अन्य रसों के भी उदाहरण तुलसी की कृतियों में सरलता के साथ उपलब्ध हो सकते हैं।

तुलसी चरित्र-चित्रण में भी पूर्ण सफल रहे हैं तथा मानव जीवन की समस्त परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण ही उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि डा. श्याम सुन्दरदास ने लिखा है "बाह्य प्रकृति से भी अधिक गोसाईं जी की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि अन्तः प्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पड़ कर मन की क्या दशा होती है इसको वे भली-भाँति जानते थे। इसी से उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दोषरहित हुआ है।" तुलसी के चरित्र-चित्रण की महत्त्वपूर्ण विशेषता तो यह है

कि उन्होंने प्रत्येक पात्र का भिन्न-भिन्न परिस्थियों में नैसर्गिक विकास दिखाया है जिससे कि उसमें स्वाभाविकता आ सके। इसी प्रकार मानस के सभी पात्रों में रामभक्ति की व्यापकता भी दीख पड़ती है। श्रीरामचन्द्र के पारिवारिक व्यक्तियों, आत्मीय जनों और भक्त अनुयायियों के हृदय में तो रामभक्ति विद्यमान थी ही किन्तु साथ ही उनके (राम के) विरोधियों और विपक्षियों में भी रामभक्ति की भावना देख पड़ती है। विभीषण, माल्यवान् और शुक तो राम को अखिल लोक का नायक समझते ही थे, स्वयं रावण की पत्नी मंदोदरी ने भी सीताहरण कर्म की निन्दा की थी और रावण को राम का विरोध न करने की राय दी थी। मंदोदरी ने रावण के सामने विस्तार के साथ राम के विराट् रूप का वर्णन किया था। मारीच और कालनेमि ने भी राम की ईश्वरता स्वीकार की थी तथा कुम्भकर्ण, मेघनाद और स्वयं रावण भी राम के महत्त्व को मानते थे। रावण ने राम से बदला लेने का निश्चय अवश्य कर लिया था परन्तु वह यह भी सोचता है कि—

> खर दूषन मो सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता।

अतएव—

> सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
> तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥

क्योंकि—

> होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

भाव पक्ष के साथ-साथ तुलसी की कविता का कलापक्ष भी प्रौढ़ था और इसीलिए तत्कालीन काव्य क्षेत्र में प्रचलित प्रत्येक प्रकार की अभिव्यंजन शैलियों को अपनाने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। मानस जहाँ कि महाकाव्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की गौरवान्वित कृति है और उसे हिन्दी की अक्षय निधि माना जाता है वहाँ गीति काव्य की दृष्टि से श्रीकृष्ण गीतावली, राम गीतावली और विनय-पत्रिका भी उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। श्रीकृष्ण गीतावली इकसठ पदों की एक छोटी सी पुस्तक है जिसके स्फुट पदों में कृष्ण कथा के हृदयस्पर्शी प्रसंगों का चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण गीतावली के पद बाल लीला, भ्रमर गीत, नेत्र वर्णन और द्रौपदी चीर हरण नामक चार भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। इसी प्रकार राम गीतावली में तुलसी ने रामकथा का वर्णन किया है और उसमें प्रबन्धात्मकता की

ओर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। विनय-पत्रिका तो निस्संदेह उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति ही है जिसमें कि उनके धार्मिक सिद्धान्तों और भक्तिभावना के साथ-साथ शुद्ध कवित्व की भी झलक देख पड़ती है। डा. रामरतन भटनागर के शब्दों में—"विनय-पत्रिका में तुलसी के उन विचारों को ही स्तोत्रात्मक और गीतात्मक रूप मिला है जो उनके मानस की आधार-भूमि है। परन्तु जहाँ मानस में उनका रूप वर्णनात्मक है याने तर्क-समन्वित है, वहाँ विनय-पत्रिका में उनका रूप भावात्मक है और ये सिद्धान्त तुलसी के प्रेम विश्वास को पाकर जगमगा उठे हैं।"

जिस प्रकार तुलसी ने तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य-शैलियों को अपनाया है उसी प्रकार ये अवधी और ब्रजभाषा दोनों में ही सफलता पूर्वक काव्य-सृजन कर सके हैं। तुलसी के समय में काव्य भाषा के ये दोनों रूप प्रचलित थे। वीरगाथाकाल के कवियों की कृतियों में भी ब्रजभाषा की झलक दीख पड़ती है और पृथ्वीराज रासो की भाषा पर तो उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है यद्यपि ब्रजभाषा उस समय उतनी परिपक्व न हो सकी थी। नाथपंथियों ने जिस सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है उसमें भी राजस्थानी और पंजाबी के साथ-साथ ब्रजभाषा भी झलक उठती है। कबीर के पदों की भाषा भी ब्रजभाषा ही है तथा सूर ने भी इसी ब्रज की चलती बोली को साहित्यिक बना पहना कर काव्य भाषा के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। यद्यपि सूर की ब्रजभाषा में क्रियाओं के कतिपय प्राचीन रूप और प्राकृत के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं पर सूर ब्रजभाषा को सार्वदेशिक भाषा बनाने में सफल अवश्य रहे हैं। इधर ब्रजभाषा के इस मधुर स्रोत के साथ-साथ अवधी का स्रोत भी प्रवाहित हो रहा था तथा प्रेम मार्गीशाखा के कवियों ने अपनी प्रेमगाथाएँ अवधी में ही लिखी हैं। जायसी के पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी ही है। स्मरण रहे संस्कृत का अत्यधिक ज्ञान होते हुए भी तुलसी का देश भाषा को अपनाना सराहनीय कार्य ही माना जाएगा। उस समय सभी प्रसिद्ध विद्वान देश भाषा में रचे हुए काव्य को हीन दृष्टि से देखते थे परन्तु तुलसी ने देश भाषा में ही काव्य रचना कर दूसरों के उपहास की तनिक भी चिन्ता न की—

भाषा भनिति मोर मति थोरी।
हँसिबे-जोग हँसे नहिं खोरी॥

तुलसी ने कवितावली, रामगीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय-पत्रिका की रचना ब्रजभाषा में की तथा रामचरित मानस, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल और रामलला नहछू की रचना अवधी में। ठेठ अवधी का जो माधुर्य जायसी की 'पद्मावत' में है वही रामलला नहछू, बरवै रामायण, जानकी मंगल और पार्वती मंगल में भी है। यद्यपि पद्मावत और रामचरित मानस दोनों ही अवधी में लिखे गए हैं परन्तु दोनों की भाषा में कुछ अन्तर भी है। जायसी की अवधी ठेठ अवधी है जब कि तुलसी की अवधी संस्कृतमिश्रित साहित्यिक अवधी है और उन्होंने जगह-जगह पर संस्कृत की कोमल-कांत पदावली का अनुसरण किया है। यद्यपि तुलसी के पूर्व ही अवधी में प्रेमगाथायें लिखी जा चुकी थीं परन्तु इसका श्रेय तुलसी को ही है जो कि उन्होंने इसे साहित्यिक साँचे में ढाल काव्य-भाषा के उपयुक्त बना दिया और इस प्रकार अवधी में 'मानस' की रचना कर अवधी को सदा के लिये अमर कर दिया।

तुलसी ने ब्रज-भाषा को भी साहित्यिक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा का केवल ढाँचा मात्र ग्रहण कर मुहावरों और अन्यदेशीय शब्दों के योग से उसे सामान्य काव्य-भाषा बनाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में स्वाभाविकता इतनी अधिक है कि यह प्रतीत ही नहीं होता कि उसमें अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के भी शब्द हैं। तुलसी ने प्रचलित और अप्रचलित कई शब्दों को ब्रजभाषा का बाना पहिना दिया है। संस्कृत तथा प्राकृत के भी कुछ अप्रचलित शब्द तुलसी की कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इतने पर भी दुरूहता कहीं नहीं आ सकी है।

तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषता तो यह है कि उन्होंने सर्वथा भावानुकूल भाषा ही लिखी है। जो तुलसीदास इस प्रकार की कोमल-कांत पदावली का व्यवहार करते हैं—

> वर दंत की पंगति कुंदकली,
>   अधराधर पल्लव खोलन की।
> चपला चमकै घन बीच जगै,
>   छवि मोतिन माल अमोलन की॥
> घुँघरारि लटैं लटकै मुख ऊपर,
>   कुंडल लोल कपोलन की।

निवछावरि प्रान करैं तुलसी,
बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥

वे ही वीर या भयानक रस की अभिव्यंजना करते समय इस प्रकार की शब्द-योजना करते हैं—

मत्त भट-मुकुट दसकंध-साहस-सइल,
संग-बिरहनि जनु बज्र-टाँकी ।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ,
सेष संकुचित, संकित पिनाकी ॥
चलित मेहि मेरु, उच्छलित सायर सकल,
बिकल बिधि बधिर दिसि बिदिसि झाँकी ।
रजनिचर-घरनि-घर गर्भ-अर्भक स्रवत,
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी ॥

तुलसी की रचनाओं में आवश्यकतानुसार उत्तम भाषा के तीनों प्रधान गुणों की अधिकता है। वीर, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रस की अभिव्यक्ति में ओज गुण और शृंगार, करुण, शांत तथा हास्यरस की व्यंजना में माधुर्य गुण आवश्यकीय हैं। उनकी भाषा में ये दोनों गुण तो दृष्टिगोचर होते ही हैं; साथ ही प्रसाद गुण की भी बहुलता सी है।

तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों की भी प्रचुरता है। कहीं-कहीं प्रांतीय मुहावरे भी हैं अन्यथा सर्वत्र सार्वदेशिक मुहावरों का ही प्रयोग हुआ है। मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों के प्रयोग में वस्तुतः उनको अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है, तुलसी शब्द-योजना के सहारे कहीं-कहीं बड़ा सुन्दर चित्र-सा खींच देते थे। चित्रकूट में राम के सामने जाते समय भरत की दशा का कितना सुन्दर चित्र तुलसी ने यहाँ प्रस्तुत किया है—

बिलोके दूर तें दोउ बीर ।
मन अगह हूँ, तन पुलक सिथिल भयो, नयन नलिन भरे नीर ।
गहत गोड़ मनो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम बल धीर ॥

संस्कृत की कोमलकांत पदावली का प्रयोग करने से भाषा में साहित्यिकता, सुन्दरता और सुमधुरता का समावेश हुआ है। विनय-पत्रिका की भाषा संस्कृत गर्भित अवश्य है परन्तु केशव की भाँति तुलसी

ने अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों को ठूँसने का प्रयास नहीं किया। तुलसी अलंकार-व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे हैं और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

यह तो हम प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं कि तुलसी की भाषा में अन्य दूसरी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। अरबी के गरीब, गनी, साहिब, हलक, कहरी, गुलाम, हराम, किसब, हबूथ, नफीरि और फारसी के कागर, दगाबाज, दराज, नेवाज, सालिभ, कागद, जहाना, असवार, बकसीस, साहिदानी, कोतल, सहम जैसे बहुत से शब्द तुलसी की कृतियों में देख पड़ते हैं। इनके साथ-साथ बँगला के खटना, वैसा, गुजराती के माँगी, लाधे तथा भोजपुरी के दिहल, रौरे और राउर शब्द भी उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। बुन्देलखंडी शब्द और मुहावरे दोनों ही प्रचुर संख्या में तुलसी की कृतियों में देख पड़ते हैं। तुलसी आवश्यकतानुसार नई क्रियाएँ बनाने में भी निपुण थे। श्री रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में—"भाषा की दृष्टि से तुलसीदास परम स्वतंत्र कवि थे। जहाँ उन्होंने जैसी आवश्यकता देखी, वहाँ वैसी क्रिया ढाल दी।" तुलसी ने तुकांत के लिये शब्दों को बहुत कम विकृत किया है और यदि कहीं शब्द तोड़े मरोड़े भी गये हैं तो भी उनका स्वरूप विकृत न हो सका। तुलसी ने नये शब्द भी गढ़े हैं पर उनसे दुरूहता कहीं नहीं आई। इस प्रकार तुलसी की भाषा में गुणों की बहुलता सी है। सर्वत्र ही सुमधुर, सरस, संगीतमय, सुकोमल, सजीव और सशक्त शब्दावली ही तुलसी की कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। भाषा की दृष्टि से तुलसी की यह महान विशेषता है कि वे अवधी और ब्रज दोनों में समान निपुणता से रचना कर सके हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि न तो सूरदास का ही अवधी पर कुछ अधिकार था और न तो जायसी का ब्रजभाषा पर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी प्रबंध-पटुता, रस-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना, तल्लीनता, भाषाभिव्यक्ति, वर्णन शैली और मनोहर भावव्यंजना आदि सभी काव्यगत विशेषताओं की सराहना करनी ही पड़ती है। रस-व्यंजना के हेतु वे विभाव, अनुभाव आलंबन, उद्दीपन आदि जुटाने नहीं बैठे थे वरन् स्वाभाविक ही उनकी रचनाओं में रस पयोधि उमड़ उठा है। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी तथा साधारण से साधारण भावों को भी उन्होंने जगमगा दिया है। उनकी

काव्यकला की प्रशंसा तो पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त कंठ से की है तथा हिन्दी काव्य साहित्य में ही नहीं वरन् विश्वसाहित्य में उनका आदरणीय स्थान है। वस्तुतः डा० राजपति दीक्षित ने उचित ही लिखा है—"तुलसी ने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुता के संयोग का अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिन्दी साहित्य को देकर उसे युग युगान्तर के लिये अमर कर दिया है।"

मीरा की काव्य-भावना

यद्यपि एक विचारक ने हाल ही में मीरा के साहित्यिक कृतित्व पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है "This remarkable woman is the only female that figures in our history of literature till we come to the present day and find Mahadevi Verma striking her note of disillusionment or Subhadra Chauhan holding out a spark of hope for her sisters."[1] लेकिन ऐसे विचारकों का भी सर्वदा अभाव नहीं है जो कि मीरा को कवि नहीं मानते और उसे केवल एक भक्त रूप में ही देखते हुए यहाँ तक कह देते हैं कि "मीरा न कबीर की भाँति ज्ञानी ही थी, न जायसी की तरह कवि ही। वह एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी।"[2] परन्तु क्या वास्तव में मीरा केवल एक भक्त मात्र ही कही जा सकती हैं और क्या उन्हें कवि नहीं माना जा सकता? स्मरण रहे कि वाग्वैदग्धता और उक्तिवैचित्र्य को ही केवल काव्य का मापदंड नहीं माना जा सकता और न कविता में कलापक्ष की प्रधानता देख कर—अलंकारों और वक्रोक्तियों को ही कविता समझ कर—किसी भी कवि विशेष को श्रेष्ठतम् कवि समझना ही उचित है क्योंकि हृदय की स्वाभाविक और सरस अनुभूतियों की सरलता और स्पष्टतम अभिव्यंजना में भी उच्चकोटि की कविता के दर्शन अवश्य होते हैं। हमारी काव्यकला की परम्परा के कुछ सहृदय पंडितों ने जितना अधिक ध्यान मीरा की कविता को कलाविहीन सिद्ध करने और उसमें शब्दों वाक्यों, पदों आदि का कौशल देखने या पदों की संख्या आदि पर विचार करने में दिया है उतना उनकी भावुकता, तल्लीनता एवम् स्वाभाविकता पर प्रकाश डालने में नहीं दिया अन्यथा वे गेयता, गंभीरता, सरलता और स्पष्टता की दृष्टि से हिन्दी गीति-काव्य में मीरा का उच्चतम स्थान निश्चित ही स्वीकार करते। वस्तुतः अधिकांश कृष्णभक्त कवियों की भाँति "मीरा ने भी कविता व्यवसाय के लिए नहीं की थी।

---

१. A History of Hindi Literature—K. B. Jindal (P. 153)

२. मीरा की प्रेम साधना—श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' (पृ० ८१)

यह तो उसके हृदय में स्थित निश्छल प्रेम का स्वाभाविक परिणा
था।"[1] अतएव हमें मीरा की कविता पर केवल भाषा अथवा काव्
चातुर्य की दृष्टि से ही विचार न करना चाहिए क्योंकि अंतरंग दृष्टि
से उनके पदों पर प्रकाश डालते समय स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमाभिव्यक्ति
हृदयानुराग, विरहानुभूति, भक्ति-भावना और रागात्मकता की दृष्टि
हिन्दी साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है तथा जैसा कि डा० रामरमा
त्रिपाठी ने लिखा है "यदि भावावेश, हृदयावेग, तीव्र भावुकता तथ
तन्मयता से विगलित शब्द विन्यास को कविता का विशेष लक्षण मान
जाए तो मीरा के कवयित्री होने में कोई शंका नहीं। यही नहीं, उनकी
पदावली में भावोन्मेषकता एवं संगीत के विशेष गुण हैं जिनसे उनके
काव्य का उत्कर्ष बहुत बढ़ जाता है। रस उत्पन्न करने की उसमें शक्ति
है। वह आज भी वैसी ही सरस और मधुर है जैसे कि पहले थी।
संभवतः ये गुण भविष्य में भी रहेंगे क्योंकि इनमें स्थायित्व के लक्षण
हैं।"[2] स्मरण रहे कि फ्रेंच भाषा में लिखित गार्सां द तासी के 'इस्तवार
द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदूस्तानी' नामक हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम
इतिहास ग्रन्थ में भी मीरा को कवयित्री माना गया है[3] और साथ ही
डा० श्रीकृष्णलाल ने भी मीरा की काव्यकला पर विचार करते हुए
लिखा है "मीरा के स्फटिक तुल्य स्वच्छ हृदय पर भक्तियुग की सभी
विशुद्ध भावनाओं का प्रतिबिम्ब पड़ा था। कबीर और रैदास की निर्गुण
ज्ञान भक्ति से लेकर चैतन्य और चंडीदास के राधा भाव तक की सभी
विशुद्ध भावनाएँ मीरा की कविता में एक साथ ही मिल जाती हैं; साथ
ही कबीर का अटपटापन, तुलसीदास की साम्प्रदायिक संकीर्णता और
जयदेव तथा विद्यापति की परम्परागत अश्लील व्यंजनाओं का उसमें
लेश भी नहीं है। यह सत्य है कि मीरा में वह पांडित्य नहीं वह विद्या-
बुद्धि नहीं, वह साहित्यिक शैली नहीं, परम्परा से प्राप्त वह कला की
भावना नहीं जो सूरदास, तुलसीदास और विद्यापति की कविताओं में
मिलती है परन्तु जहाँ तक विशुद्ध कवि हृदय और नैसर्गिक प्रतिभा

१. मीराँबाई: जीवनी और कविता—श्री कुँवर कृष्ण बी० ए० (परिषद् निबंधावली, द्वितीय भाग पृ० २४)
२. बंगीय हिन्दी परिषद् से प्रकाशित 'मीरा स्मृति ग्रंथ' की भूमिका से उद्धृत
३. हिन्दुई साहित्य का इतिहास—गार्सां द तासी—अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (पृ० २१२-२१३)

का प्रश्न है वहाँ मीरा इन कवियों से किसी प्रकार हलकी नहीं ठहरतीं।"[1] इस प्रकार हमारी दृष्टि में तो हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में मीरा का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

स्मरण रहे कि मीराबाई के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध ही है क्योंकि उनके समकालीन और परवर्ती संतों ने भी मीरा के नाम से पद रचना की है जिससे कि भाषा आदि में विभिन्नता देख पड़ने से यह कहना सहज नहीं रहा कि वस्तुतः मीरा द्वारा रचित कृतियाँ कौन-कौन सी हैं परन्तु प्रायः सभी अधिकांश विचारकों ने उनकी नरसी जी रो मोहेरो अथवा नरसी जी का माहरा या मायरा, गीतगोविन्द की टीका राग गोविन्द और राग सोरठ नामक रचनाओं का नामोल्लेख अवश्य किया है। कहा जाता है कि नरसी जी रो मोहेरो की हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में है लेकिन कुछ विचारकों ने उसे मीरा द्वारा रचित स्वीकार करने में संदेह प्रकट किया है परन्तु डा० सावित्री सिनहा ने अपनी थीसिस 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' में उसे मीरा की ही कृति माना है। वस्तुतः माहेरो राजस्थान और गुजरात का एक प्रथा है जिसमें कि लड़की या बहन के घर उसकी संतान आदि का विवाह होने पर पिता या भाई द्वारा पहरावनी आदि ले जाई जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में नरसी भगत द्वारा अपनी पुत्री नानी बाई के यहाँ भात भरने की इसी प्रथा की कथा को पदों में अंकित किया गया है और सम्पूर्ण विषय का वर्णन मीरा की मिथुला नामक किसी सखी को सम्बोधित करके किया गया है। गीतगोविन्द की टीका नामक कृति का अभी तक कहीं भी पता नहीं चला है अतएव अब अधिकांश विचारकों का यही मत है कि मीरा द्वारा इस प्रकार की कोई रचना निर्मित ही नहीं हुई और महाराणा कुम्भ द्वारा रचित 'रसिक प्रिया टीका' को ही भ्रमवश मीरा द्वारा रचित समझ लिया गया है क्योंकि भ्रमवश काफी समय तक कुम्भ का मन्दिर भी मीराबाई का मन्दिर कहला चुका है अतः कुम्भ द्वारा रचित गीतगोविन्द की टीका को मीरा द्वारा रचित समझ लेना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मीरा की उपलब्ध कृतियों पर गीतगोविन्द का प्रभाव इतना कम है कि इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि मीरा ने कभी गीतगोविन्द

१. मीराँबाई—डा० श्रीकृष्णलाल (पृ० १७९)

की टीका लिखी भी होगी और फिर उनके पदों से यह भी नहीं झलकता कि उन्होंने गीतगोविन्द का अनुशीलन भी किया था या नहीं। यद्यपि महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार मीरा ने राग-गोविन्द नाम से एक कविता ग्रन्थ रचा था और आचार्य शुक्ल जी जैसे विचारकों ने भी इस कृति का उल्लेख किया है परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसके अस्तित्व के विषय में संदेह ही व्यक्त किया है।[1] राग सोरठ को मिश्रबंधुओं ने एक स्वतंत्र ग्रन्थ माना है और उसकी दो प्रतियों के प्राप्त होने का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०२ की खोज रिपोर्ट में भी किया गया है तथा उसमें इस ग्रन्थ का नाम राग सोरठ का पद है लेकिन उसमें मीरा के अतिरिक्त नामदेव और कबीर के पद भी संगृहीत हैं। मीरा के नाम पर मीराबाई का मलार नामक एक ग्रन्थ और भी कहा जाता है तथा उसके विषय में ओझा जी का मत है कि यह "राग अब तक प्रचलित है और बहुत प्रसिद्ध है" परन्तु कुछ विचारक इसे स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मानते। इसी प्रकार श्री के० एम० झावेरी ने भी गुजरात में प्रचलित बहुत से गर्बा गीतों को जो कि रास क्रीड़ा के गीतों की भाँति गाए जाते हैं मीरा रचित माना है। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से तो मीरा द्वारा रचित फुटकर पदों का ही विशेष महत्त्व है तथा मीरा की कृतियों के रूप में सर्वाधिक निश्चित जानकारी भी इन्हीं पदों के विषय में प्राप्त होती है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि केवल एन० बी० दिवेटिया की Gujarati Language and Literature नामक कृति के अतिरिक्त प्रायः जितने भी गुजराती साहित्य के इतिहास दृष्टिगोचर होते हैं उनमें मीरा को गुजराती भाषा की कवयित्री ही माना जाता है चाहे उनके पदों की लिपिमात्र ही गुजराती की हो और उनकी भाषा मिश्रित राजस्थानी या ब्रज ही क्यों न हो[2] लेकिन डा० जगदीश गुप्त ने तो तर्कों सहित सिद्ध कर

---

१. मीराँबाई की पदावली—श्री परशुराम चतुर्वेदी (भू. पृ. १४)

२. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

१. Gujarat and Its Literature—श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (पृ. १२५-१९१)

२. Classical Poets of Gujarat—श्री गोवर्द्धनराम त्रिपाठी (पृ. १९-२१)

३. Milestones in Gujarati Literature—श्री के. एम. झावेरी (अ. १, पृ. २५-५१)

दिया है कि मीरा ने व्रजभाषा में ही रचना की है और गुजराती लिपि में प्राप्त उनके पदों में व्रजभाषा का ही प्राधान्य है[५] अतः मीरा को गुजराती साहित्य की कवयित्री मानना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। चूँकि मीरा द्वारा पदों की रचना भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई होगी अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वे सभी स्वयं मीरा द्वारा ही रचित हैं या अन्य किसी तत्कालीन संत महात्मा या परवर्ती भक्त द्वारा क्योंकि उनमें भाषा और विचारों की सामंजस्यता का अभाव-सा है। हिन्दी में अब तक लगभग तीस-बत्तीस छोटे-बड़े संग्रह मीरा के पदों के प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से श्री नरोत्तमदास स्वामी की मीरा मन्दाकिनी; श्री वियोगी हरि की मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई; श्री परशुराम चतुर्वेदी की मीराबाई की पदावली और सुश्री पद्मावती 'शबनम' का मीरा-बृहत्-पद-संग्रह नामक संग्रह विशेष उल्लेखनीय कहे जाते हैं लेकिन इन सब में चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पादित मीराबाई की पदावली ही अधिक प्रामाणिक है। हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती में 'काव्यदोहन' के साथ-साथ अन्य सात आठ संग्रह भी मीरा के पदों के उपलब्ध होते हैं और बंगला में भी दो तीन संग्रह हैं अतः इन सब संकलनों को देखते हुए मीरा द्वारा रचित पदों की संख्या छब्बीस से लेकर पाँच-सौ के लगभग पहुँचती है तथा जयपुर के श्री हरिनारायण पुरोहित ने तो श्री परशुराम चतुर्वेदी को एक पत्र द्वारा सूचित भी किया था कि "मीराँ जी के पद मेरे पास ५०० के करीब इकट्ठे हो गए हैं। ये हस्तलिखित, मुद्रित और मौखिक रूपों में प्राप्त हुए हैं जिनका इतिहास बृहत् है" और साथ ही उनका यह भी कहना है कि "पद बहुत से प्रामाणिक ही प्रतीत होते हैं। शेष संदिग्ध और मिलावट के वा अशुद्ध दिखाई देते हैं।"[१] स्मरण रहे कि श्री ललिताप्रसाद सुकुल ने तो मीरा पदावली के रूप में केवल १०३ पदों को ही 'मीरा स्मृति ग्रंथ' में स्थान दिया है और उनकी दृष्टि में तो "अन्य भक्तों के प्रसिद्ध पदों को उठाकर मीरा के नाम पर मढ़ देना या उनके प्राप्त एक-एक मूल पद के बत्तीस-

---

४. Selections From Classical Gujarati Literature-Vol. I—श्री तारा पोरवाला (भू० पृ० xiii)

५. Vaishnavas of Gujarat—थूथी (पृ. २२६)

१. मीराँ के कुछ अप्रकाशित पद—डा० जगदीश गुप्त (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ. १४१-१५२)

२. मीराँबाई की पदावली—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ. १५)

बत्तीस रूप गढ़ के उनकी रचनाओं की संख्या बढ़ाकर समस्या को हल कर लेने का प्रयास उचित नहीं है।" सुकुल जी ने इस मीरा पदावली में संवत् १६४२ की एक हस्तलिखित प्रति के ६९ पद अविकल रूप में उद्धृत कर दिए हैं तथा उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में वे संशय करना उचित नहीं समझते और शेष ३४ पद उन्होंने संवत् १७२७ की एक प्रति से उद्धृत किये हैं। संवत् १६४२ वाली प्रति उन्हें डाकोर में श्री गोवर्धनदास जी भट्ट के पास प्राप्त हुई थी तथा संवत् १७२७ की प्रति काशी के सेठ लाला गोपालदास के संग्रहालय में। सुकुल जी इन १०३ पदों को तो निर्विवाद रूप से मीरा रचित स्वीकार करते हैं और शेष पदों की प्रामाणिकता के विषय में कोई किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते।[1] कहा जाता है कि जिस प्रकार 'कहे कबीर सुनो भाई साधो' लिखकर कई परिवर्ती संतों ने बहुत से पद कबीर के नाम पर प्रचलित करा दिए उसी प्रकार बहुत से ऐसे पद मीरा के नाम पर भी प्रचलित हैं जो कि उनकी विचारधारा के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः मीराबाई की पदावली का मुख्य विषय मीरा के आभ्यन्तरिक भावों का पूर्ण प्रकाशन ही जान पड़ता है तथा इस प्रकार उनके पदों में सर्वत्र ही उनके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब ही झलक उठता है और चूंकि वे बाल्यकाल से ही भक्तिभावना से परिपूर्ण थीं अतः भक्तिकालीन सभी भक्त कवियों की भाँति उनका भी एक मात्र प्रमुख काव्य विषय भक्ति ही था लेकिन एक ही विषय होते हुए भी भक्तिकालीन कवियों की काव्य-परम्परा सर्वदा सजीव और विकसित रही है क्योंकि उन्होंने अपनी रुचि-वैचित्र्य, चिन्तन और मानसिक भावनाओं के कारण एक ही विषय की विविध प्रकार से अनुभूति की है तथा उसे विभिन्न रूपों और शैलियों में व्यक्त भी किया है परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उन सभी में भक्ति भावना की ही अधिकता है। जैसा कि डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है "भक्त की स्वाभाविक रुचि के साथ-साथ प्रीति का निश्छल धारा स्रोत मीरा के पदों में बहता हुआ मिलता है"[2] अतः मीरा की काव्य-सुषमा पर विचार करते समय हमें सर्वप्रथम उनकी भक्ति भावना पर ही प्रकाश डालना होगा।

---

१ देखिए—'मीरा स्मृति ग्रंथ' में श्री ललिताप्रसाद सुकुल का लेख 'पदावली परिचय' और 'मीरा-पदावली'

२ कविता, भावना और [illegible] : भगीरथ मिश्र। पृ० ११९

भक्ति रसामृत सिंधु के अनुसार तो "हमारे इष्ट पदार्थों की ओर जो हमारा आंतरिक प्रेम रहता है, उसी उत्साहित प्रेम को भक्ति कहते हैं"[1] अतः स्वाभाविक ही भक्ति का मूल तत्त्व परमात्मा में प्रेम, तल्लीनता और आत्म समर्पण ही है तथा हम देखते हैं कि प्रायः अधिकांश भक्ति-कालीन कवियों की भावभूमि में अपने-अपने इष्टदेव के प्रति अनुराग के अंकुर विद्यमान हैं। साथ ही उन्होंने अपनी भक्तिभावना को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ अपने-अपने इष्टदेव के स्वरूप और उनके विशिष्ट गुणों का निरूपण करते हुए उनकी दयालुता और भक्तवत्सलता का भी चित्रण किया है तथा भवसागर की अपनी कुछ अनुभूतियों को अभि-व्यक्त करते हुए लौकिक जीवों को कल्याण-कामना के हेतु विश्व की अनित्यता और उससे पार पाने के उपाय भी अंकित किए हैं। इसी प्रकार मीरा ने भी अपनी रुचि और भावना के अनुरूप ही अपने इष्टदेव का चित्रण किया है तथा अपनी भक्ति भावना अभिव्यक्त की है।

जैसा कि डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी का मत है "मीराँ प्रधानतः साकारोपासक थीं, न तो वे योगसाधिका थीं और न थीं निराकार उपासिका"[2] परन्तु कुछ ऐसे विचारक भी हैं जिन्होंने कि मीरा पर निर्गुण काव्य धारा का प्रभाव भी देखा है और वे उनकी कविता में दोनों प्रकार की भावनाएँ देखते हैं तथा उन्हें संतमत से भी प्रभावित पाते हैं।[3] स्मरण रहे कि सर्वप्रथम डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ही मीरा को निर्गुण सम्प्रदाय की साधिका माना है और

---

१. भक्तियोग—लेखक—श्री अश्वनीकुमार दत्त (हि० अनु० पृ० १)

२. मीरा की रसानुभूति—डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी (मीरा स्मृति ग्रंथ पृ० २३८)

३. "परन्तु मीराबाई की उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत हमें कुछ ऐसे भी पद मिले हैं जिनसे ज्ञात पड़ता है कि इन्हें कोरा सगुण भक्त अथवा श्रीकृष्णावतार की निरी प्रेमिका मात्र ही ठहराना पूर्ण सत्य नहीं है। इन रचनाओं द्वारा ये अपने इष्टदेव को पूर्ण ब्रह्म परमात्मा समझती हुई दीख पड़ती हैं और इनकी साधना का स्वरूप भी इनमें बहुत कुछ भिन्न लक्षित होता है। इन पदों में उसे ये न केवल निर्गुण, निरंजन अवि-नाशी आदि कहकर ही व्यक्त करती हैं, किन्तु उनके मिलने के लिए एक नितांत भिन्न साधना की ओर भी संकेत करती हैं जिससे प्रकट होता है कि इन पर संतमत वा निर्गुण पंथ का भी प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ चुका था।...मीरा बाई ने इसी प्रकार अपने कुछ पदों द्वारा ऐसे भाव भी प्रकट किए हैं जिनसे ज्ञात पड़ता है कि इन्हें संतों की सुरत 'शब्द योग' नामक साधना का भी पूर्ण परिचय था तथा वे सम्भवतः उसका कुछ न कुछ अभ्यास भी कर चुकी थीं। उन्होंने संतों द्वारा प्रयुक्त 'सुरत' 'निरत'

उनकी दृष्टि में चूँकि मीरा के पदों में हठयोग के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख तथा रहस्यानुभूति की भावना पाई जाती है और वल्लभ-सम्प्रदाय में न तो कभी मीरा ने दीक्षा ही ली थी तथा न तो कभी उनकी स्मृति में रचित पदों को गोविन्द गुणगान ही समझा था अतः मीरा निर्गुण साधिका ही हैं। साथ ही चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में भी मीरा के प्रति वैष्णवों ने बड़े कटु वचन कहे हैं अतः बड़थ्वाल जी इस दृष्टि से भी उन्हें निर्गुणोपासिका ही मानते हैं परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि मीरा के इष्टदेव गिरिधर नागर भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं तथा मीरा ने उन्हीं की उपासना भी अपने पदों में की है। वस्तुतः उनकी भक्ति का आलम्बन गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण ही थे जिन्होंने कि अपनी विविध लीलाओं को दिखाने के लिए अवतार लिया था और जिनकी मधुर मूर्ति पर मीरा ने अपना तन, मन, धन, न्योछावर कर दिया था। जहाँ कि आचार्य शुक्ल ने मीरा की भक्ति-भावना पर विचार करते हुए बहुत पहले यह विचार व्यक्त किया था कि "मीराबाई की उपासना 'माधुर्य भाव' की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति रूप में करती थीं"[1] वहाँ डॉ० भगीरथ मिश्र का भी यही मत है कि "मीरा की भक्ति स्त्री होने के कारण,

'शब्द' 'निज नाम' 'सुमिरत' तथा 'अमर रूप' जैसे प्रसिद्ध शब्दों के भी प्रयोग किए हैं तथा उन्हीं की भाँति उक्त साधना के महत्त्व को भी यत्र-तत्र दर्शाया है।"

—संत मत और मीरा : श्री श्री परशुराम चतुर्वेदी (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० ६३-६७)

और भी—

"निश्चय ही मीरा का यह रंग सगुण भक्तों का रंग नहीं, कबीर आदि निर्गुण संतों का प्रसाद है। मीराँ के एक दो नहीं अनेक पद देते हैं जिनमें इसी सेज की चर्चा है।... तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि मीरा साधना के क्षेत्र में निर्गुणी भले ही हों किन्तु भावना के क्षेत्र में तो सर्वथा गोपी ही है।...मीराँ की भक्ति-भावना पर विचार करते समय यदि हम इस बात को दृष्टि में रखकर उनके पदों की छानबीन करें कि मीराँ जब कभी संत मंडली में होती हैं तब संतों के रूप में अपनी भावना व्यक्त करती है। अन्यथा एकान्त में उनकी भावना भक्तों की ही रहती है।...मीराँ के हृदय में जिस गिरधर गोपाल के प्रति बचपन में अनुराग उत्पन्न हुआ था उसके प्रति सदा बना रहा। मीरा ने कभी उसको 'शून्य महल' में देखा तो कभी ब्रज के कणकण में।"

—हिंदी कविचर्चा—पं० चन्द्रबली पांडे (पृ० १६५-१६९)

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १८५)

स्वभावतः माधुर्य भाव की ओर झुकी हुई है उनके कृष्ण से वियो दशा के उद्गार बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। वे कृष्ण की उपासिका थीं औ उनका मधुर भाव निर्गुण सम्मत न होकर सगुण भक्ति मुख्य है।"[1] यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि मीराबाई को राधाजी क अवतार भी माना गया है[2] तथा स्वयं मीरा के पदों में कुछ ऐसे प्रसं आते हैं जिनमें कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि वे भगवान श्रीकृष्ण के समय में एक गोपिका थीं और एक दिन कलिन्दजा कूल पर रास क्रीड़ा करते समय भगवान् ने उनके पति होने की प्रतिज्ञा की थी अतः इतना तो स्पष्ट है कि मीरा के पदों में उनके इष्टदेव का सगुण स्वरूप ही अंकित हुआ है और उन्होंने न केवल अपने आराध्यदेव क विशेषताओं तथा उनकी लीलाप्रियता का विस्तार के साथ चित्रण किया है अपितु वे 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई' जैस उद्गारों द्वारा अनन्यभाव से उन्हीं की उपासना भी करती हैं। सा ही यह भी कहा जाता है कि मीरा की भक्ति-साधना का तो कभी भ राज परिवार की ओर से विरोध नहीं हुआ अपितु राजकुल को संत मत और नाथपंथियों की प्रवृत्तियाँ अवश्य पसन्द नहीं थीं। अतः मीर को संतमत से प्रभावित समझना उचित नहीं है और जैसा कि डॉ सावित्री सिनहा ने लिखा है "युग की अनेकमुखी विचार-धाराओं प्रभाव से सर्वथा वंचित रहना किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है मीरा के काव्य पर भी अपने युग की छाप पड़नी आवश्यक थी

१. साहित्य साधना और समाज—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० ७१)

२. "गोपिकाओं के प्रेम को मीराबाई ने स्पष्ट कर दिखाया है। जब-जब धर्म पर से लो की श्रद्धा हट जाती है, तब-तब उसको फिर से स्थिर कर देने के लिए मुक्त पुरुष विश्व में अवतार धारण करते हैं और अपने प्रत्यक्ष अनुभव और जीवन के द्वारा लो में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जब लोगों को गोपियों की शुद्ध भ के विषय में अश्रद्धा उत्पन्न हुई तब गोपियों में से एक ने—शायद राधाजी ने—मीर बाई का अवतार लेकर प्रेम धर्म की स्थापना की।"

—जन्माष्टमी का उत्सव : आचार्य काका कालेलकर (जीवन साहित्य प्रथम भाग पृ० १८

३. राम रच्यो बंसीबट जमुना तट दिन कीनो कौल रे।
पूरब जनम की मैं हूँ गोपिका अध बिच पड़ गयो झोल रे॥
और भी—
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर पूरब जनम को कौल।

अनेक संतों के सम्पर्क में आकर उन्होंने जो कुछ भी उनसे ग्रहण किया, उसकी अभिव्यक्ति कृष्ण प्रेम के उद्गारों में उन्हें मिलाकर उन्होंने कर दी, पर इन उल्लेखों के आधार पर उन्हें संत सम्प्रदाय की साधिका नहीं ठहराया जा सकता है।"[1] स्मरण रहे स्वयं श्री परशुराम चतुर्वेदी का भी यही विचार है कि "मीराबाई द्वारा प्रयुक्त संतमत की शब्दावली मात्र से केवल इतना ही पता चलता है कि उन्हें इसका भी कुछ परिचय अवश्य रहा होगा, उस प्रकार की सामग्री उन्हें सुरति, शब्दयोग की साधना में पूर्णतः दक्ष सिद्ध करने के लिए अभी यथेष्ट नहीं कही जा सकती, उसके सिवाय सारी उपलब्ध रचनाओं पर विचार करने पर उन्हें एक सगुणोपासिका कहने की ही प्रवृत्ति होती है।"[2] साथ ही श्री तारकनाथ अग्रवाल के शब्दों में "मीरा का प्रेम संतों का नहीं तथा सूफियों का भी नहीं, मीरा के गुरु संत नहीं और रमैया सम्बन्धी पद भी मीरा के नहीं, फिर भी मीरा को संत कोटि में मानना अपनी अल्पज्ञता का परिचय ही तो देना है।"[3] इस प्रकार हमारी दृष्टि में मीरा को सगुणोपासिका ही मानना चाहिए तथा उनकी भक्ति को कांताभाव की होने के कारण माधुर्य भाव की ही समझना चाहिए। हम तो किसी भी भाँति मीरा को न तो रैदास की शिष्या ही मानते हैं और न उन्हें संतमत से प्रभावित ही समझते हैं तथा उनकी भक्ति-साधना को नाथ-परम्परा के सन्निकट देखना भी उपयुक्त नहीं है।

विचारकों ने तो माधुर्य भाव को मधुर रस भी कहा है तथा वे उसकी अनुभूति शृंगार रस के सदृश्य होने पर भी उसे इंद्रियातीत ही मानते हैं और उनकी दृष्टि में चूँकि मधुर रस का विषय अलौकिक एवम् स्वयं ईश्वर स्वरूप है अतः वह आत्मा का ही धर्म है जब कि शृंगार रस का विषय सांसारिक होने से जड़ और मूर्त्त रूप ही है[4] अतः मीरा की माधुर्योपासना काम वासना से रहित ही है और

---

१. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डॉ० सावित्री सिनहा (पृ० ११६-११७)
२. मीराबाई की भक्ति का स्वरूप—श्री० परशुराम चतुर्वेदी (लोकवाणी, जयपुर, दीपावली विशेषांक, सन् १९४९, पृ०२७)
३. संतमत और मीरा की भक्ति—प्रो० तारकनाथ अग्रवाल (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० २५६)
४. मध्यकालीन धर्म साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० २११-२१७)

चाहे यत्किंचित कृष्ण विषयक उनके कुछ उद्गार परकीया रूप में व्यक्त हुए हों नहीं तो प्रायः सर्वत्र ही उन्होंने स्वकीया की भाँति अपने आपको कृष्ण की पत्नी माना है।[1] स्मरण रहे कि अन्य कई पुरुष भक्त कवियों की भाँति उनकी कविता में न तो कृष्ण के प्रति गोपियों द्वारा प्रदर्शित विविध भावों की अभिव्यक्ति ही की गई है और न स्वयं अपने आप पर स्त्री भाव का काल्पनिक आरोप कर हृदयोद्गार ही व्यक्त किए गए हैं। चूँकि मीरा स्वयं नारी हैं और वे अपने आराध्य-देव को पति रूप में बाल्यकाल से ही वरण कर चुकी हैं अतः उन्होंने अपने को किसी विशिष्ट दशा में न अंकित कर स्वाभाविक ही माधुर्य भाव की सभी स्त्री सुलभ बातों को तदनुकूल शब्दावली में अभिव्यंजना की है जिससे कि उनकी उपासना और भक्ति भावना में वास्तविकता ही प्रकट होती है। जैसा कि श्री शिवाधार पांडेय ने लिखा है—"भक्ति की पराकाष्ठा स्त्री ही के हृदय में मिलेगी पुरुष के नहीं। उतना समर्पण वही कर सकती है। इसी से मीरा के पद सूर के पदों से भी अधिक दिव्य और अंतर्यामी हैं। भारत के उन पुण्य प्रदेशों में जहाँ कृष्ण भगवान् स्वयं विखरे पड़े थे ब्रज, द्वारका, राजस्थान आदि में मीरा का कितना प्रभाव पड़ा, प्रत्यक्ष है।"[2] स्मरण रहे मीरा ने कृष्ण के विविध रूपों का भी चित्रण किया है और इस प्रकार कभी तो वे उनके बाल-स्वरूप को देखती हैं, कभी उनके

---

१. "कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम स्वकीया का प्रेम है।...उनके नारी हृदय ने कृष्ण का वरण पति रूप में किया। मीरा के प्रेम में विशुद्ध पत्नी रूप का आभास मिलता है। उनकी भावनाओं में परकीया की-सी तीव्रता तथा उत्कटता अवश्य है; पर उसमें मद नहीं, स्निग्धता है। कविवर देव के शब्दों में परकीया उपपति के प्रेम में अपने व्यक्तित्व को औटाकर-खोये के समान कर देती है। इस प्रकार उसके प्रेम में रस तो अवश्य अधिक हो जाता है परन्तु वह अवगुण करता है। इसके विपरीत स्वकीया का प्रेम दूध की तरह सात्विक तथा लाभप्रद होता है।

मीरा का प्रेम भी ऐसा ही सात्विक और शोधक है। उनकी भावनाओं में जहाँ एक और उत्कट शृंगारिक अनुभूति का व्यक्तीकरण है वहाँ दूसरी ओर पत्नी के पूर्ण समर्पण तथा विनय और संकोच भी व्यक्त हैं। वह उनके चरणों की विनम्र दासी है, उनके साथ क्रीड़ा की अभिलाषिणी मात्र, लोल और चंचल नायिका नहीं। वह उनकी बिन मोल चेरी है, उनके चरणों की दासी है।"

—मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ: डा० सावित्री सिनहा (पृ० १४३)

२. मिस्टिक, मिस्टिज्म और मीरा—प्रो० शिवाधार पांडेय (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० २१)

गोचारण की, कभी माखन चोरी की और कभी तो उन्हें उनके उपालम्भ याद आते हैं—तथा कभी उनकी मुरली सुनाई पड़ती है। इतना ही नहीं मीरा ने विनय के पद भी लिखे हैं तथा अपने इष्टदेव की सर्वशक्तिमता, असीमकरुणा और दयार्द्रता की प्रशंसा करते हुए गज, गीध, अजामिल और गणिका आदि के उद्धार की याद दिलाते हुए अपने उद्धार की भी प्रार्थना प्रभु से की है परन्तु उन्होंने कहीं भी केवल उपदेश मात्र देने का प्रयास नहीं किया और न बार-बार अपने पातकी तथा दीन होने की बात ही दुहराई है। वस्तुतः उनकी विनय में मानस की सच्ची लगन और कृष्ण के प्रति अपना अटल विश्वास विद्यमान है अतः जैसा कि डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है "मीरा कृष्ण-प्रेम की वह अलौकिक मन्दाकिनी है जिसकी प्रतिमा सामान्य मानव भावों के गंदले नालों से उमड़ायी हुई किसी भक्तिभाव भरिता कन्दलिता सरिता में पाना नितान्त असम्भव है।"[1] यद्यपि प्रो० विलसन तथा मेकनिकल प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने 'मीराबाई पंथ' का भी उल्लेख किया है और श्री आनन्दशंकर ध्रुव का भी यही विचार है कि "हम मीरा का चैतन्य सम्प्रदाय के साधुओं के साथ समागम मानते हैं। परन्तु उनकी ज्वाला प्रकट करनेवाली मुख्य शक्तियाँ हम जयदेव और रामानन्द की मानते हैं।" लेकिन मीरा को किसी सम्प्रदाय विशेष की समझना उचित नहीं है क्योंकि उन्होंने कभी भी कोई सम्प्रदाय या पंथ नहीं चलाया और वस्तुतः वे कृष्ण की अनन्य उपासिका ही थीं तथा "वास्तव में उनके पद इतने ललित और भक्तिरस पूर्ण हैं कि गुजरात और राजपूताने में साधु-सन्त उन्हें कण्ठस्थ कर गाते रहते हैं।"[2]

मीरा की पदावली में उनका केवल भक्तरूप ही दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु वे एक सफल कवयित्री के रूप में भी देख पड़ती हैं और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव विह्वलता और आत्म-समर्पण का भाव है।"[3] स्मरण रहे कि मीरा के काव्य में सर्वत्र ही भावपक्ष की प्रधानता सी दृष्टिगोचर होती है और उनकी काव्य-भावना मानसप्रसूत ही जान पड़ती है तथा कविता

---

१. मीरा की भक्ति साधना—डॉ० उदयनारायण तिवारी (मीरा स्मृति ग्रंथ पृ० १४०)
२. मीराबाई जीवनी और कविता—श्री कुँवर कृष्ण बी० ए० (परिषद् निबंधावली, भाग २, पृ० १९)
३. हिंदी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १९५)

के बहिरंग की अपेक्षा उन्होंने अंतरंग पर ही विशेष ध्यान दिया है। माधुर्य भाव की उपासना करने के फलस्वरूप उन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति पूर्वानुराग की भावना भी व्यक्त की है और इस प्रकार सौन्दर्य तथा प्रेम दोनों का ही सफल चित्रण उनकी कविता में हुआ है। अपने प्रिय के रूप सौन्दर्य का चित्रण उन्होंने अत्यन्त कुशलता के साथ किया है और वे 'साँवरे की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है' नामक उक्ति द्वारा कहीं तो कृष्ण की दृष्टि को प्रेम की कटारी मानती हैं और कहीं उनके रूप पर आकृष्ट होकर 'दरसण कारण भई बावरी' कह कर अपना उन्माद प्रदर्शित करती हैं. और कभी तो 'या मोहन के मैं रूप लुभानी' नामक उक्ति द्वारा स्पष्ट ही अपने आपको उस साँवरे के रूप पर लुभाई हुई मानती हैं।[१] कुछ थोड़े से पदों के अतिरिक्त जिनमें कि शान्त रस की अधिकता है शेष अधिकांश पदों में शृंगार रस की ही प्रधानता है लेकिन मीरा की शृंगार-भावना और विद्यापति की शृंगार-भावना में अत्यधिक अन्तर है क्योंकि विद्यापति ने तो शृंगार रस की ओट में अश्लीलतापूर्ण पदों का ही सृजन किया है और उनकी पदावली में निरे वासनामूलक चित्रों की ही बहुलता है जब कि मीरा के पदों में शृंगार रस होने पर भी उन्माद की अधिकता न होकर अपूर्व-शान्ति ही दृष्टिगोचर होती है और उनकी कविता अलौकिक शृंगारमूलक है।

वस्तुतः संयोग की अपेक्षा वियोग में रसानुभूति की प्रबलता रहती है और भारतीय कवियों ने तो विप्रलम्भ के प्रति कदाचित् इसीलिए अपना आग्रह भी व्यक्त किया है। स्मरण रहे कि अलकापुरी से यक्ष को निर्वासित किये बिना प्रेयसी से उसका सम्मिलन स्वाभाविक और आनन्दपूर्ण भी न माना जा सकता था इसीलिए कालिदास ने भी वियोग में रसानुभूति का महत्त्व स्वीकार किया है।[२] मीरा ने भी अपने

१. या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन
बाँकी चितवन मंद मुसकानी।
जमना के नीरे तीरे धेनु चरावै
बंसी में गावै मीठी बानी॥

२. स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।
—उत्तरमेघ, श्लो॰

पदों में विरह भावनाओं का स्वाभाविक चित्रण किया है तथा उनके विरह निवेदन में जिस पीड़ा का वर्णन किया गया है वह अत्यन्त गम्भीर और अनिर्वचनीय है। श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के शब्दों में "मीरा की वेदना में वह विलास की चाँदनी नहीं है जो नशे में इधर-उधर उड़ा करती है। उसका प्रेम दिवानी युग्म होता हुआ भी मानवी पिपासा, उत्कण्ठा और हार्दिकता से परिपूर्ण है। उसमें मिलन की उमंग भरी प्यास है। मीरा की वेदना काँटे के समान दिल में चुभती है—जुही की सुगन्ध के समान मस्त करती है और आलिंगन के समान विस्मृतिकारी आनन्द से मन को पूर्ण कर देती है। उस वेदना में एक समूचे जीवन की ही नहीं जन्म-जन्मों की युग-युगों की अन्तः प्रेरणा और प्राण-पिपासा है।"[१] यद्यपि कतिपय समालोचकों ने जायसी के विरहवर्णन को हिन्दी में सर्वोत्कृष्ट माना है[२] लेकिन उनका यह कथन अत्युक्तिपूर्ण ही है क्योंकि जायसी के विरहवर्णन में गम्भीरता और स्वाभाविकता का अभाव है तथा वह तो केवल ऊहात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियों से अनुरंजित ही प्रतीत होता है अतः मीरा के पदों की तुलना में वह काफी हलका प्रतीत होता है। अपनी विरहावस्था का वर्णन करते समय कवयित्री ने उद्दीपन रूप में प्राकृतिक दृश्यों को भी अंकित किया है और कहीं तो वे प्रकृति का अपने प्रियतम से सम्मिलन देख जीवात्मा की परमात्मा से मिलने की उत्सुकता का चित्रण करती हैं[३] और कहीं तो सावन की श्याम घटा देखकर उन्हें अपने कृष्ण के स्वरूप का स्मरण हो आता है और वे भी 'मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेशो कछु नहीं लायो रे' नामक उक्ति द्वारा उन श्याम घटाओं से ही हरि का सँदेशा पूँछने लगती हैं। कभी-कभी वर्षा की काली घटाएँ उन्हें भयभीत भी कर देती हैं[४] और वसंत की मधुरता भी प्रियतम की स्मृति में उन्हें

---

१. मीरा की वेदना—श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० १३३-१३४)

२. "हिंदी साहित्य में विरह के सर्वोत्कृष्ट कवि जायसी हुए।"
—मीरा की प्रेमसाधना : श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' (पृ० ७१)

३. दादुर मोर पपीहा बोलै, कोइल मधुरै साज।
उमग्यो इन्द्र चहूँ दिसी बरसै, दामिन छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द मिलन के काज।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बेग मिलो महाराज॥

४. मतवारो बादल आयो रे।

व्यग्र ही कर देती हैं तथा उनके अंतरतम से यही ध्वनि निकलती है कि उन्हें प्रियतम के अभाव में कुछ भी नहीं सुहाता।[1] इस प्रकार व्याकुल विरहिणी मीरा ने सर्वत्र ही अपनी मानसिक भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान किया है तथा उनके विरहवर्णन में स्वाभाविकता और तन्मयता ही दृष्टिगोचर होती है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उचित ही लिखा है "उनके भजनों में इतनी प्रबलता से प्रेमधारा बहती है कि उससे आर्द्र हुए बिना कोई सहृदय नहीं रह सकता।"[2]

सौंदर्य वर्णन और प्रेम की संयोग तथा वियोग दोनों ही अवस्थाओं का वास्तविकता पूर्ण चित्रण करने के साथ-साथ मीरा को वस्तुवर्णन में भी पूर्ण सफलता मिली है और उन्होंने वृंदावन का वर्णन तो बड़े ही चित्ताकर्षक ढंग से किया है। यों तो उनका ऋतुवर्णन उद्दीपन विभाव के ही अंतर्गत आता है और प्रायः प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण उन्होंने कहीं भी नहीं किया लेकिन बारहमासे का वर्णन करते समय अंतर्जगत् की विभिन्न मनोदशाओं का स्वाभाविक चित्रण करते हुए उन्होंने ऋतुओं का भी तन्मयता के साथ वर्णन किया है। डॉ० रघुवंश के शब्दों में "प्रकृति के उद्दीपन रूप को लेकर समस्त उन्मुक्त कवियों में समान भावना है। परन्तु मीरा की पदशैली में गीति-भावना से प्रकृति से उद्दीपन की प्रेरणा स्वाभाविक ही है।"[3] मीरा की पदावली में घटना द्योतक पदों की भी बहुलता है और उन्होंने बाल लीला, मुरली लीला, नागलीला, चीरहरण लीला, पनघटलीला आदि विभिन्न लीलाओं को भी अंकित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा की कविता का भाव पक्ष विस्तृत ही है और उसमें हृदयग्राही प्रसंगों के चित्रण के साथ-साथ अपूर्व रसोद्भावना भी है तथा साथ ही यह भावमयी होने के साथ-साथ कलागत विशेषताओं से भी रहित नहीं है।

दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल शब्द सुणावो रे॥
कारी अँधियारी बिजली चमकै, बिरहिन अति डर पावो रे॥
1. होली पिया बिनु मोहि न भावै।
घर आँगन न सुहावै॥
2. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० ४२)
3. प्रकृति और हिंदी काव्य—डॉ० रघुवंश (पृ० ४५१)

कबीर के सदृश्य मीरा के पदों के विषय में भी ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि जिस रूप में वे रचे गए थे उसी रूप में आज भी प्रचलित हैं और चूँकि वे मेवाड़, वृन्दावन और द्वारिका आदि स्थानों में रह चुकी थीं अतएव उनकी भाषा में उन स्थानों के शब्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है और साथ ही समयानुसार उन पदों में परिवर्तन-परिवर्धन भी होते रहे हैं अतः कभी-कभी तो भाषा आधुनिकता के साँचे में ढली-सी प्रतीत होती है। वस्तुतः मीरा के पदों में राजस्थानी, गुजराती और व्रज आदि भाषाओं की प्रमुखता है तथा साथ ही कहीं-कहीं पंजाबी, पूरबी और खड़ी बोली का भी प्रभाव विद्यमान है। राजस्थान में निवास होने से और बाल्यकाल आदि वहीं व्यतीत होने के कारण मीरा की काव्यभाषा स्वाभाविक ही राजस्थानी से विशेष प्रभावित थी तथा राजस्थानी के उदाहरणों की अधिकता-सी है[1] और साथ ही गुजराती भाषा के उदाहरणों का भी अभाव नहीं है।[2] जहाँ कि 'दो नैनों किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ' जैसी उक्तियों में पंजाबी की झलक दृष्टिगोचर होती है वहाँ अरबी-फारसी के शब्द भी उनकी सूक्तियों में पाए जाते हैं परन्तु वास्तव में मीरा की भाषा व्रज ही है और सूर का-सा भाषा माधुर्य उनकी व्रजभाषा में भी देख पड़ता है।[3] मीरा के पदों में सरलता, सुमधुरता और सरसतापूर्ण

१. स्याम बिनु बिरही दुखारी, जैसे जल बिन बेली।
मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, जनम जनम की चेली॥
और भी—
थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ, मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।
साजनियाँ दुसमण होय बैठ्यो, सबने लगूँ कड़ी॥
और भी—
इण सरवरियाँ री पाल मीराबाई साँपड़े।
साँपड़ किया असनान, सूरज सामी जप करे॥
२. प्रेमनी प्रेमनी रे प्रेमनी मने लागी कटारी प्रेमनी।
जल जमुना माँ भरवा गयाँताँ, हती गागर माथे हेम नी रे॥
३. सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिव को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो॥
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी हो।
बिन देख्यां कल नाहिं, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग अंग व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो॥
अन्तरवेदन विरह की वह पीर न जानी हो॥

शब्दावली ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है तथा प्रसाद और माधुर्य गुणों की भी अधिकता है। साथ ही उनकी पदावली में अलंकारों की भी छबीली छटा लहरा रही है। अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग रूपक का ही किया गया है और सूर की भाँति मीरा के भी कई पद रूपक पर ही आश्रित हैं तथा 'अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई', 'ज्ञान चौसर मंडी चोहटे सुरत पासा पार' तथा 'भौ सागर अति जोर कहिये अनत ऊँची धार', 'रामनाम का बाँध बेड़ा उतर परले पार' जैसे रूपकों का स्वाभाविक प्रयोग ही किया गया है। रूपक के साथ-साथ उपमा और उत्प्रेक्षा की भी अधिकता है तथा 'जल बिन कँवल चंद बिन रजनी,' 'दसन दमक दाड़िम दुति चमकै चपला सी' सदृश उपमाएँ और 'धरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलण कै काज' तथा 'कुंडल की अलक-झलक कपोलन पर छाई, मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई' जैसी उत्प्रेक्षाएँ भी उनकी कविता में देख पड़ती हैं। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा, अर्थान्तर-न्यास आदि अलंकारों का भी प्रवेश किया गया है तथा 'हाथ को मीजना', 'हाथी से उतर कर गधे पर चढ़ना' और 'मन का काठ करना' जैसी लोकोक्तियाँ भी उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होती हैं। साथ ही मीरा के सभी पद अन्त्यानुप्रास से युक्त है। यों तो कहीं-कहीं न्यून-पदत्व, अधिकपदत्व और ग्राम्यत्व दोष भी उनकी कविता में दृष्टि-गोचर होते हैं तथा उन्होंने शब्दों को विकृत भी किया है और दास-ड़ियाँ (दासी), सासड़ियाँ (श्वास) तथा आँखड़ियाँ (आँख) जैसे विकृत शब्द भी देख पड़ते हैं परन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है। वस्तुतः उनकी भाषा प्रवाहमयी, स्पष्ट, सुमधुर और सरस ही प्रतीत होती है। साथ ही मीरा के काव्य में छंदात्मक संगीत भी दृष्टिगोचर होता है और भावनाएँ संगीतबद्ध होकर ही गेय पदों का रूप ग्रहण करती हैं। उनके प्रायः सभी पद गेय हैं और मीरा-पदावली में अनेक राग-रागनियाँ भी देख पड़ती हैं। संभवतः पीलू मीरा का सर्वाधिक प्रिय राग है[1]

ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल विरहणी, सुध बुध बिसरानी हो॥

१. "मीरा के जीवन की करुणा में अधीरता, व्याकुल, क्रन्दन और वेदना के गंभीर आँसू हैं इसलिए पीलू उनका प्रिय राग स्वतः हो जावेगा।"

—जनम जोगिण मीरा—श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा (मीरा स्मृति ग्रंथ, पृ० ३७)

परन्तु पीलू के साथ-साथ सारंग, प्रभाती, सोरठ, मलार, तिलंग, ललित, नट, कल्याण, हमीर, पहाड़ी, विहाग, धानी, परज, विलावल, दरबारी, कामोद, गजरी, कान्हड़ा, पटमंजरी, भैरवी, मांड, मालकोस, रामकली, नीलम्बरी, विहागरा, होली, सावन, कजरी, खंभाती, जैजैवन्ती, दुर्गा, बागेश्वरी, भीमपलासी, मारू, लावनी, पूर्वी, गौड़ी, आसावरी, सोहनी, धमार, कलिंगड़ा इत्यादि कई अनेक राग-रागनियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं। मीरा ने चाहे संगीत की शिक्षा ली हो या न ली हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि मीरा को संगीत का पूर्ण ज्ञान था और उनके संगीतज्ञान के साथ जब हम उनके पदों में अनेक शास्त्रगत छंदों का प्रयोग भी देखते हैं तब हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि संगीतज्ञान के साथ-साथ उन्हें काव्यज्ञान भी था और सार, सरसी, विष्णुपद, उपमान, कुंडल, चांद्रायण तथा शोभन नामक छंदों का उन्होंने सफलता के साथ प्रयोग किया है। स्मरण रहे कि मीरा के पदों में भावनाओं की सरस तथा लयपूर्ण अभिव्यक्ति के अनुरूप ही छंदों का प्रयोग हुआ है और इसीलिए उनकी कविता के कलापक्ष तथा भावपक्ष दोनों में सहज सामञ्जस्यता सी दृष्टिगोचर होती है। यों तो मीरा के कुछ ऐसे पद भी देख पड़ते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न छंद एकत्र हो गए हैं और कहीं-कहीं मात्रा दोष भी दृष्टिगोचर होता है लेकिन इस प्रकार के दोष उन्हीं स्थलों पर हैं जहाँ कि पदों को रागबद्ध करने की चेष्टा की गई है तथा संगीत की सुविधा-हेतु ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व मानना पड़ता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पिंगल की दृष्टि से मीरा की कविता सदोष है। वस्तुतः मीरा एक सफल कवयित्री थीं और उन्होंने जिस विषय को अपनाया है उसका सुंदर वर्णन किया है तथा आत्म-निवेदन, आत्म-क्रंदन, हृदय की कसक, प्रेम की पुकार, संगीत का प्रवाह, सुकुमार भावव्यञ्जना, सुमधुरता आदि गुण मीरा की पदावली में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं और भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से मीरा के पद हिंदी गीतिकाव्य की अक्षय निधि हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है "मीरा की कविता में गीतिकाव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।"[1]

---

१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृ० ८०८)

नन्ददास पर एक नवीन दृष्टि

"अष्ट छाप के कवियों में से प्रत्येक ने भक्ति भाव संयुक्त कृष्ण की उपासना की और पूरी क्षमता से प्रेम और विरह के सुन्दर गेय पद बनाए। सब की वाणी में वह तन्मयता है, जो गीति-काव्य के लिए परम उपयोगिनी है।" शुद्ध प्रेम का प्रवाह बहाकर भगवान् कृष्ण की स्तुति में आत्मविश्वास कर देने वाले भक्त कवियों का हिन्दी पर जो महान् ऋण है, उसे हम स्वीकार करेंगे।"

—डा० श्यामसुन्दरदास

ईसा की सोलहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में राम और कृष्ण को प्रतीक बनाकर सगुणवादी काव्य की जो भाव-धारा सम्पूर्ण देश में प्रवाहित होने लगी—वस्तुतः उसका मूल स्रोत ऋग्वेद ही है। चाहे कृष्ण-काव्य की निर्झरिणी का उद्गम जयदेव के 'गीतगोविन्द' को ही अवश्य समझ लिया जाय परन्तु वास्तविकता तो यह है कि राधाकृष्ण की कथा का अङ्कन तो जयदेव के भी पूर्व गाथा-सप्तशती, सरस्वती कण्ठाभरण आदि कृतियों, पाँचवीं-छठी शताब्दी की देवगिरि और पहाड़पुर की प्रतिमाओं, सन् ९७४ ई० तथा सन् ९७९ ई० के पृथ्वी-वल्लभ मुंज के ताम्र पात्रों तथा धारा के अमोघवर्ष के सन् ९८० ई० के शिलालेख तक में किसी न किसी रूप में हुआ है। यों तो पुराणों और उपनिषदों में तथा ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ८५, ८६ तथा ८७ एवम् दशम मण्डल के ४२, ४३ और ४४ वें सूक्त में भी कृष्ण का वर्णन किया गया है।[1] कृष्ण को प्रतीक बनाकर न केवल हिन्दी कवियों ने अपनी अनुभूतियों को काव्य का रूप प्रदान किया अपितु विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं को कविता का विषय बनाया गया। आसाम में शंकर नामक महाकवि द्वारा किया गया श्रीमद्भागवत का काव्यानुवाद असम भाषा और साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है तथा राम-सरस्वती नामक कवि ने तो रामायण और महाभारत दोनों का ही असम भाषा में अनुवाद किया है। बंग साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न चैतन्य महाप्रभु और

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए लेखक की 'भक्तिकाव्य के मूल स्रोत' नामक पुस्तक

चण्डीदास ने जो कृष्णभक्ति की स्रोतस्विनी प्रवाहित की है उसने न के
बंग, उत्कल और कर्नाटक को प्रभावित किया है अपितु हिन्दी सा
पर भी सम्यक् प्रकाश डाला है। उत्कल में भी सोलहवीं शताब्दी
आरम्भ में ही जगन्नाथदास ने भागवत, शारदादास ने महाभारत अ
अच्युतानन्द ने हरिवंश का काव्यानुवाद किया लेकिन उत्कल भा
में ही सोलहवीं शती में निर्मित 'रस कल्लोल' नामक ग्रन्थ जिसमें
राधाकृष्ण की प्रेमलीला का ही चित्रण है मधुरता में जयदेव के गी
गोविन्द की समता करता है। अनुमानतः उसी समय तेलगू भाषा
पोतनामात्य—जिन्हें कि पोतराजु या पोतन्ना भी कहा जाता है—
भागवत का काव्यानुवाद किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भ
शिरोमणि पोतन्ना का काव्य कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही दृष्टि
निखरा हुआ है तथा हम जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-काव्य क
धारा का प्रवर्तक बल्कि श्रेष्ठतम कवि सूरदास को मानते हैं उसी प्रका
तेलगू साहित्य में कृष्ण-काव्य के प्रारम्भकर्ता सम्भवतः पोतनामात्य
ही हैं। श्री० हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' ने उचित ही लिखा है—"महा
भागवत की रचना के द्वारा महाकवि पोतन्न ने तेलगू साहित्य में अमृत
की धारा बहाई है।" लगभग सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही
विजयनगर सम्राट् कृष्णराय के समय में धारवाड़ जिले के कुमार व्यास
कवि ने कन्नड़ महाभारत की रचना की थी तथा उसी शताब्दी
में श्रीमद्भागवत का काव्यानुवाद भी चाँटु विट्ठलनाथ ने कन्नड़
भाषा में किया। साथ ही कन्नड़ साहित्य की अक्षय निधि वैष्णव
भक्तों के वे पद हैं जिनका कि प्रचार उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर
किया। इन वैष्णव भक्तों में पण्ढरपुर निवासी पुरन्दरदास का
विशेष उल्लेखनीय स्थान है तथा उन्हीं के समकालीन कवि कनकदास
की मोहन तरंगिणी नामक कृति भी कन्नड़ साहित्य की महत्त्वपूर्ण
कृति है। वस्तुतः पुरन्दरदास और कनकदास कन्नड़ साहित्य के सूर और
तुलसी हैं। लगभग इसी शताब्दी में पाटण गुजरात के महाकवि
भालण ने श्रीमद्भागवत् के दशम स्कंध का सुललित और सुमधुर
काव्यानुवाद किया तथा उसके पूर्व संवत् १५२८ में भी केशव हृदय
राम ने उसका पद्यानुवाद किया था। संवत् १५४१ में ही सिद्धपुर
पाटण के भीम नामक कवि ने हरि लीला षोडशकला नामक कृति का
प्रणयन किया था और सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में परमानन्द ने

गुजराती साहित्य को कृष्ण-विषयक बहुत से सुमधुर सरस पद प्रदान किए। तमिल साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रबन्धम्' में भी कृष्णावतार की विविध लीलाओं का विशुद्ध वर्णन किया गया है तथा मराठी साहित्य में 'महानुभाव पंथ' के कवीश्वर भास्कर की शिशुपाल वध, एकादश स्कंध या उत्तरगीता और श्रीकृष्ण चरित्र, दामोदर पंडित का वत्स हरण तथा नरेन्द्र कवि का रुक्मिणी स्वयंवर आदि कृतियाँ भी कृष्ण भक्ति का ही प्रचार करती हैं। इस प्रकार जहाँ कि प्रत्येक प्रांतीय भाषा में कृष्ण काव्य की धारा प्रवाहित हो रही थी वहाँ हिन्दी साहित्य में वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास को लेकर अष्टछाप की स्थापना की और जैसा कि डॉ० अमरनाथ झा का मत है "इन कवियों के ग्रन्थों में केवल काव्य-सौन्दर्य ही नहीं है, संगीत का ज्ञान ही नहीं है; कृष्ण-प्रेम का विविध रूप भी इनमें मिलता है। साहित्य प्रेमी इनके काव्य का रसास्वादन करते हैं, संगीत-मर्मज्ञ इनको सुनकर प्रफुल्लित होते हैं और भक्त इनको सुनकर और पढ़कर परम आनन्द प्राप्त करते हैं।" डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी लिखा है "उत्तर भारत के लोकमानस से निर्गुण की परम्परा हटाकर उसमें सगुण भावों के प्रति आस्था भरने का बहुत अधिक श्रेय अष्टछाप के महामान्य कवियों को है।"

अष्टछाप के उपर्युक्त आठ कवियों में सूरदास, परमानन्ददास और नन्ददास को ही सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है तथा उनमें भी यदि सूरदास को सूर्य कहा जाय तो नन्ददास निश्चय ही सुधाकर हैं और अपनी बहुमुखी प्रतिभा, कोमलकान्त कमनीय शब्दयोजना और सुन्दर सरस भावनाओं द्वारा तो निश्चय ही उन्होंने ब्रजभाषा में अपना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विट्ठलनाथ ने जब संवत् १६०२ में अष्टछाप की स्थापना की थी तो नन्ददास के स्थान पर वल्लभाचार्य के अनन्य सेवक विष्णुदास छीपा को स्थान दिया था और कदाचित् इसीलिए 'श्री गोवरधनदास के प्राकट्य की वार्ता' में नन्ददास का उल्लेख अष्ट-सखाओं में नहीं किया गया। वस्तुतः सं० १६०७ में जब नन्ददास पुष्टि-सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए तभी उन्हें उनकी काव्य संगीत विषयक विशिष्ट योग्यता के कारण ही अष्टछाप में स्थान दिया

गया तथा विठ्ठलनाथ जी ने उन्हें गोसाईं जी का द्वार-रक्षक नियत कर दिया गया।

अष्टछाप के अन्य अधिकांश कवियों की भाँति नन्ददास ने भी अत्यधिक संख्या में स्फुट पदों की रचना की है लेकिन साथ ही उन्होंने कई ग्रन्थों का निर्माण भी किया। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में उनके २८ ग्रन्थों की एक तालिका प्रस्तुत की है लेकिन जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है उस तालिका में कई ऐसे ग्रन्थों के नाम हैं जो कि केवल दूसरे ग्रन्थों के परिवर्तित नाम हैं और वस्तुतः पृथक ग्रन्थ नहीं हैं। (दे० ३१४-२५) श्री प्रभुदयाल मीतल ने तो 'अष्टछाप परिचय' में अनेकार्थ मंजरी (अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थ भाषा), मानमंजरी (नाम मंजरी, नाममाला, नाम चिंतामणि माला), रसमंजरी, रूप मंजरी, प्रेमबारहखड़ी, स्याम सगाई, सुदामा चरित्र, रुक्मिणी मंगल, भँवरगीत, रासपंचाध्यायी, दशमस्कन्ध भाषा, गोवर्धन लीला, और पदावली नामक पन्द्रह ग्रन्थ नंददास के माने हैं। (पृष्ठ ३१२) डॉ० दीनदयालु गुप्त रस मंजरी को नंददास की सर्वप्रथम कृति मानते हैं और रासपंचाध्यायी, भँवरगीत एवम् सिद्धान्त पंचाध्यायी को अन्तिम रचनाएँ मानते हैं परन्तु श्री प्रभुदयाल मीतल उनके मत से असहमत हैं। चूँकि नन्ददास की कृतियों में रचनाकाल का उल्लेख ही नहीं हुआ है अतः उनका कालक्रम के अनुसार वर्गीकरण करना सहज नहीं है। साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नन्ददास को कदाचित अपने ग्रन्थों के नाम के साथ मंजरी शब्द लगाना अधिक प्रिय था अतएव इसीलिए उन्होंने अपने पूर्वरचित ग्रन्थ अनेकार्थ भाषा और 'नाममाला' के नाम 'अनेकार्थ मंजरी' तथा 'मान मंजरी' रख दिए और इसीलिए इन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी भिन्न-भिन्न नामों से उपलब्ध होती हैं।

अनेकार्थ मंजरी में कवि ने वल्लभ सम्प्रदायी शुद्धाद्वैत विचारों को व्यक्त किया है तथा कृष्ण भक्ति का उपदेश, कृष्ण नाम की महिमा, भगवत् भजन आदि के विषय में विचार अङ्कित किए हैं। 'अनेकार्थ मंजरी' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दोहाबद्ध रूप में रखे गए हैं। वस्तुतः वह केवल एक कोष-ग्रन्थ ही नहीं अपितु भक्ति-ग्रन्थ भी है। 'मान मंजरी' में यद्यपि अमर-कोश के आधार पर शब्दों के पर्याय-वाची रूप दिए गए हैं लेकिन इसमें राधा का मान वर्णन भी। प्रत्येक

छन्द की प्रथम पंक्ति में प्रत्येक शब्द के पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं और द्वितीय में नन्ददास ने इस शब्द के प्रयोग कर दूती के द्वारा राधा के मानमनावन तथा शृंगार का चित्रण किया है। कदाचित इसी-लिए इस ग्रन्थ को 'मानमंजरी नाममाला' भी कहा जाता है, स्वयं कवि के शब्दों में—

> गूँथनि नाम नाम की अमर कोश के भाय,
> मानवती के मान पर मिलें अर्थ सब आय।

'रसमंजरी', 'रूपमंजरी' और 'विरहमंजरी' में नन्ददास ने जायसी तथा तुलसीदास की भी दोहा-चौपाई वाली पद्धति का अनुसरण किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जायसी और तुलसी के पश्चात् नन्ददास को ही चौपाई छन्द में सरस काव्य-सृजन की सफलता प्राप्त हुई है। 'रसमंजरी' की रचना का आधार भानु कवि कृत संस्कृत 'रस-मंजरी' है तथा उसमें नायक-नायिका भेद का सांगोपांग वर्णन है—

> रसमंजरी अनुसार कै, नन्द सुमति अनुसार,
> बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार

'रसमंजरी' नायिका भेद की प्रारंभिक कृति होने के कारण रीति-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। 'रूपमंजरी' एक छोटा सा आख्यानक काव्य है जिसमें पुष्टि संप्रदाय की शृंगारपूर्ण धार्मिक भावनाओं के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है लेकिन उसमें लौकिक शृंगार ही विशेष रूप से अभिव्यंजित हो सका है और इस प्रकार उसमें उत्पत्ति रस की योजना ही हुई है। ग्रन्थानुशीलन से यह भी विदित होता है कि 'रूप मञ्जरी' वस्तुतः नन्ददास की मित्र रूप-मञ्जरी ही है और स्वयं अपने आपको उसकी सहचरी इन्दुमती के रूप में प्रस्तुत कर कवि ने यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। प्रभु के चरण-कमलों तक पहुँचने के लिए रूप-सौन्दर्योपासना के पथ का अनुसरण करने पर ही कवि ने जोर दिया है तथा लौकिक प्रेम का त्याग कर अलौकिक नायक कृष्ण के साथ 'जारभाव' से अनुराग करने की कथा अङ्कित की है। 'विरह मञ्जरी' एक भावात्मक काव्य है जिसमें कि एक ब्रजबाला की वियोग-दशा का चित्रण है। इसमें कथावस्तु का अभाव-सा है और विप्रलंभ की परिस्थितियों में अस्वाभाविकता भी है तथा 'पद्मावत' की नागमती की विरह-दशा का अनुसरण कर

बारहमासे की परिपाटी अपनायी गई है। 'प्रेम बारहखड़ी' में ३७ दोहों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के मथुरागमन के अनंतर गोपियों की विरह-दशा का अंकन किया गया है। 'श्याम सगाई' में पुष्टि सम्प्रदाय की भावना के अनुकूल राधा को स्वकीया मानकर श्रीकृष्ण के साथ राधा की सगाई का वर्णन किया गया है लेकिन श्रीमद्भागवत में यह कथा कहीं भी नहीं दी गई है। 'सुदामा चरित' और 'रुक्मिणी मंगल' श्रीमद्भागवत की दशम स्कंध की विविध कथाओं पर आधारित है। सुदामा चरित को कुछ विद्वानों ने नंददास की कृति नहीं माना है लेकिन डॉ० दीनदयालु गुप्त उसे नंददास की ही कृति मानते हैं। कदाचित तुलसी के 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' से प्रभावित होकर ही नन्ददास ने 'रुक्मिणी मंगल' की रचना की है लेकिन तुलसी की कृतियों की अपेक्षा उसमें भावपूर्ण स्थलों तथा दृश्यों के चित्रण की अधिकता सी है। नन्ददास की समस्त कृतियों में 'भँवर गीत' और 'रास पंचाध्यायी' ही प्रसिद्ध हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल के शब्दों में "भाषा की कोमलता, शब्दों की सजावट और भावों की सरसता के साथ साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की पुष्टि इन रचनाओं में ऐसी सफलता के साथ हुई है कि वे ब्रजभाषा-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनमें धार्मिकता और साहित्यिकता का सम्मिश्रण गंगा यमुना के मिश्रित प्रवाह की तरह सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।"

'भँवरगीत' द्वारा कवि ने न केवल गोपी-विरह-लीला का चित्रण किया है अपितु गोपी उद्धव संवाद रूप में निराकारोपासना पर साकारोपासना की विजय एवं गोरखनाथ आदि हठयोगी संतों के योग-पंथ तथा कबीर आदि ज्ञानमार्गी संत कवियों के ज्ञानमार्ग की अपेक्षा वल्लभाचार्य की प्रेम भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। 'भँवरगीत' के प्रारम्भिक अर्द्धभाग में गोपी उद्धव संवाद है तथा अवशिष्ट द्वितीय भाग में कृष्णानुरागिनी गोपियों की विरह दशा का चित्रण है और जहाँ कि प्रथम भाग विचार प्रधान है वहाँ दूसरे भाग में हृदय पक्ष की प्रबलता है। प्रसन्नता की बात है कि कवि ने गोपियों द्वारा साधारण और स्वाभाविक तर्क ही प्रस्तुत कराए हैं तथा सुमधुर, रसमयी भाषा द्वारा ही दार्शनिक सिद्धान्तों का खंडन और मंडन किया है। चूँकि गोपी उद्धव संवाद के मध्य अचानक ही एक भ्रमर उड़ता हुआ

चला आता है और गोपियाँ उसे भी उद्धव की तरह कृष्ण द्वारा भेजा हुआ दूत समझ लेती हैं अतएव उसे सम्बोधित कर उपालम्भों द्वारा अपने व्यथित मानस की भावना को अभिव्यक्त करने के फलस्वरूप प्रस्तुत प्रसंग को 'भँवरगीत' अथवा 'भ्रमरगीत' की संज्ञा दी गई। श्रीमद्भागवत में जिसका कि प्रभाव प्रायः समस्त कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों पर पड़ा है प्रस्तुत कथानक 'अध्याय है' के नाम से प्रसिद्ध है लेकिन उसमें उद्धव के ज्ञानयोग सिद्धान्त का वर्णन नहीं है और जहाँ कि उसमें गोपी उद्धव के कुशल क्षेम के पश्चात ही भ्रमर का आगमन हो जाता है और वे उपालम्भ प्रकट करने लगती हैं वहाँ नन्ददास के भँवरगीत में भ्रमर का आगमन गोपी उद्धव संवाद में गोपियों की विजय के पश्चात् होता है तथा वे भ्रमर को लक्षकर अपनी विरहदशा का चित्रण करती हैं। श्रीमद्भागवत और सूरसागर की अपेक्षा 'भँवरगीत' में कई नवीन मौलिक प्रसंगों की उद्‌भावना है तथा अन्य कृतियों से भावग्रहण करने पर भी कवि की अभिव्यञ्जन शैली में मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। सूर ने पदों के अतिरिक्त नन्ददास की सी रोला-दोहा की सम्मिश्रणवाली छन्द-पद्धति में 'भँवरगीत' की रचना की है यद्यपि पदों की भाँति उसमें सूर उतना अधिक विस्तार और माधुर्य न ला सके। और इसीलिए संक्षिप्तता के साथ साथ उसमें भावाभिव्यञ्जना की न्यूनता भी है तथा इस दृष्टि से नन्ददास का 'भँवरगीत' सूर की अपेक्षा विशेष प्रभावोत्पादक है। डॉ० दीनदयालु गुप्त का विचार है कि "सूरदास के पदवाले 'भँवरगीत' में हृदय पक्ष प्रधान है और नन्ददास के 'भँवरगीत' में बुद्धि पक्ष" परन्तु स्मरण रहे कि मुक्तक शैली में लिखे जाने के कारण सूर के भ्रमरगीत में कथा प्रसंगों की अत्यधिक पुनरुक्ति है जब कि प्रबन्ध के रूप में सृजित होने के फलस्वरूप नन्ददास के 'भँवरगीत' में पुनरुक्तियों का अभाव है अतः संगीतात्मकता, प्रवाह और चित्ताकर्षण की दृष्टि से नन्ददास का भँवरगीत विशेष महत्त्वपूर्ण है।

'रासपंचाध्यायी' में तो नन्ददास की कला का चरमोत्कर्ष रूप दृष्टिगोचर होता है और सुललित सुमधुर प्रवाह-पूर्ण भाषा शैली के फलस्वरूप उसे हिन्दी का 'गीत गोविन्द' माना जा सकता है। 'रास पंचाध्यायी' स्पष्टतः एक शृंगारिक काव्य ही प्रतीत होता है जिसमें कि लौकिक-संयोग-प्रेम का ही चित्रण है लेकिन साथ ही वल्लभाचार्य

के धार्मिक भावों तथा आदर्शों की अभिव्यक्ति भी उसमें है और इसीलिए उसमें आध्यात्मिकता भी विद्यमान है। पाँच अध्यायों की प्रस्तुत कृति में गोपीकृष्ण की रासलीला का चित्रण है तथा उसमें रस रूप परमात्मा अर्थात् परब्रह्म कृष्ण—के साथ बिछुड़ी हुई आत्मा—अर्थात् गोपियों के पुनर्मिलन की आनन्दावस्था का अंकन कर सिद्ध किया गया है कि परमात्मा के आनन्दांश से विलग होकर आत्माएँ विश्वचक्र के मध्य पुनः उसी आनन्दस्वरूप भगवान से सम्मिलन को उत्सुक रहती हैं। यों तो रास पंचाध्यायी भागवत के दशम् स्कन्ध में २६ वें अध्याय से ३३ वें अध्याय तक वर्णित रासलीला की कथावस्तु से प्रभावित अवश्य है तथा स्वयं कवि ने भी इस बात को स्वीकार किया है परन्तु शुकदेव मुनि की वन्दना, वृन्दावन का शोभा वर्णन, शारदीय सुषमा का अलंकृत चित्रण, अनङ्ग के आगमन और उस पर गोपीकृष्ण द्वारा 'विजय प्राप्ति आदि कई नवीन प्रसङ्ग भी हैं जिनका कि *भागवत में संकेत भी नहीं है और इस प्रकार रासपंचाध्यायी की* मौलिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः रासपंचाध्यायी एक भावात्मक प्रबन्ध-काव्य है जिसमें कि वस्तु-कथन की अपेक्षा मनोहारी दृश्य चित्रों तथा भावाभिव्यक्ति की ही बहुलता है और जैसा कि स्वयं कवि का मत है उसकी कृति काव्य रस की दृष्टि से 'मनहरनी' है और आध्यात्मिक सुख प्रदान करने के फलस्वरूप अघहरनी भी है—

> अघहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम वितरनी।
> नन्ददास के कण्ठ बसो नित मंगल करनी॥

'रासपंचाध्यायी' की सैद्धान्तिक व्याख्या अर्थात् रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन ही प्रस्तुत 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में किया गया है अतः हो सकता है कि उसकी मूल सामग्री किसी समय 'रास-पंचाध्यायी' में ही समाविष्ट रही हो तथा कुछ काल पश्चात स्वयं कवि ने या किसी अन्य व्यक्ति ने उसे स्वतन्त्र कृति का रूप प्रदान कर दिया हो। 'दशम स्कन्ध भाषा' में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रारम्भिक उन्तीस अध्यायों का भावानुवाद है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थ दीपिका' तथा वल्लभाचार्य कृत 'सुबोधिनी' की विशेष सहायता ली गई है परन्तु जहाँ कि श्रीधर स्वामी और वल्लभाचार्य के विचारों में मतभेद जान पड़ता है वहाँ कवि ने दोनों मतों को

अङ्कित कर दिया है। कहा तो यह भी जाता है कि नन्ददास ने समस्त 'श्रीमद्भागवत' का ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया था परन्तु कथा-वाचक ब्राह्मणों द्वारा गो०विट्ठलनाथ से शिकायत की जाने पर गोसाईंजी के आदेशानुसार दशम स्कन्ध की रासपंचाध्यायी के अंश को छोड़कर शेष पुस्तक कवि ने यमुना में प्रवाहित कर दी। 'गोवर्द्धनलीला' में तो कवि ने कृष्ण-चरित्र की लीलाओं का चित्रण तथा गुणगान किया है और इस कृति का सृजन भी उसने भागवत के दशम स्कन्ध के अध्याय २५ में वर्णित गोवर्धन लीला नामक आख्यान के आधार पर ही किया है। इन कृतियों के अतिरिक्त नन्ददास ने बहुत से पदों का सृजन भी किया है जिनमें भक्ति-भावना, राधा-कृष्ण का सौन्दर्य तथा प्रेम-वर्णन आदि प्रसङ्गों का चित्रण है। नन्ददास की इन कृतियों से इतना तो स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत से उन्होंने बहुत सी सामग्री ग्रहण की है परन्तु उसे कलात्मक ढङ्ग से सजाकर प्रस्तुत करने में भी उन्हें अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई है।

अष्टछाप के अन्य समस्त कवियों की भाँति नन्ददास की भाषा ब्रजभाषा ही है और भाषा के तीनों प्रधान गुण ओज, प्रसाद तथा माधुर्य में से माधुर्य और प्रसाद की ही उनकी कृतियों में अधिकता है। वस्तुतः कवि ने ऐसे ही प्रसंगों का चयन किया है जिनमें कि ओजगुण की आवश्यकता ही न थी लेकिन इतने पर भी 'ट' वर्ग प्रधान ओजगुण को शृंगार का सहायक बनाने में वे सफल रहे हैं—

> छवि सों निर्तनि पटकनि लटकनि मंडल डोलनि।
> कोटि अमृत सम मुसकनि मंजुलता थेई-थेई बोलनि।

भाषा की मधुरता और शब्दों की सुन्दर सजावट ही नन्ददास की काव्यकला की प्रमुख विशेषताएँ हैं। जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है "(नन्ददास में) दो गुणों की प्रधानता है। ये दोनों गुण हैं माधुर्य और प्रसाद। माधुर्य तो उच्च श्रेणी का है। प्रत्येक पद मानों एक अंगूर का गुच्छा है जिसमें मीठा रस भरा हुआ है। शब्दों में कोमलता भी बहुत है। पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लम्बे चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निदर्श करती है। जो कुछ कहा गया है, वह बहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ।" अलंकारों की अभिव्यंजना में भी कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई

है तथा भाषा पर उसका इतना अधिक आधिपत्य था कि वह 'वाग् वश्यैवानुवर्तते'—वाणी तक उसके आधीन भी हो गई थी। अतः 'जय मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजबाला' प्रेम वेली द्रुमफूली,' 'कर्म के सूप' जैसे रूपकों, 'वृन्दावन की रीझि मनो पहिनाई माला' जैसी उत्प्रेक्षाओं और 'तरंगनि वारि ज्यों' के समान उपमाओं की उनकी कृतियों में अधिकता भी है। साथ ही अनुप्रास, संदेह, वक्रोक्ति, स्तुति, निदर्शना, दृष्टान्त और अतिशयोक्ति नामक अलङ्कारों तथा भाषा की तीनों प्रधान शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में सफलता के साथ हुई है। सरस, स्पष्ट और हृदयग्राही व्यञ्जना का एक उदाहरण देखिए :—

> गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहिं मुरारि।
> मदन त्रिभंगी आपु है करी त्रिभंगी नारि॥
> रूप गुन सील की॥

साथ ही कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कर उन्होंने भाषा की अभिव्यंजक शक्ति भी बढ़ा दी है तथा 'जबहीं लौं नहि लखों तबहिं लौ बाँधी मूठी', 'घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं', 'कहा तिय लोन लगावौं और छुदित ग्रास मुख काढ़ि' आदि मुहावरों की अधिकता सी है। नन्ददास ने संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा उन्हें ब्रजभाषा के साँचे में ढालकर प्रयुक्त किया है; उदाहरणार्थ-योग के लिए 'जोग', सूक्ष्म के लिए 'सुच्छम', परिकिया के लिए 'परिकला' 'क्षुधित' के लिए 'छुदित' आदि। साथ ही गरज, लायक, अरदास जैसे अरबी फारसी के शब्द और कुछ पूर्वी हिन्दी के 'आहि' जैसे कुछ रूप भी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इन सबके फलस्वरूप भाषा सौन्दर्य के निखार में कुछ कमी न आ सकी तथा जैसा कि नन्ददास के विषय में प्रसिद्ध है 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' वह पूर्णतः उचित ही है। नन्ददास की कविता के कलापक्ष की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने पद-रचना के अतिरिक्त रोला और चौपाई जैसे छन्दों का भी सफलता के साथ प्रयोग किया है।

नन्ददास की रसव्यञ्जना भी अनुपम थी यद्यपि शृंगार-रस के

चित्रण की ओर ही कवि ने विशेष ध्यान दिया है और शृंगार की अपेक्षा शान्त, करुण तथा हास्य के प्रसंगों की गौणता ही देख पड़ती है। संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का वर्णन कवि ने सफलता के साथ किया है परन्तु वियोग दशा के चित्रण में उन्हें अधिकाधिक सफलता मिली है। मानसिक भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में तथा अन्तर्जगत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्त-वृत्तियों के निरूपण में कवि की काव्य-कला कुशलता का चरमोत्कर्ष रूप दृष्टिगोचर होता है। आशा और निराशा के हिंडोले में विहार करती हुई गोपियों का चित्त कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ प्रस्तुत किया है—

> विरहाकुल है गई सब पूँछत बेली बन।
> को जड़ को चैतन्य न कछु जानत विरहीजन॥
> हे मालति हे जाति जूथिके सुनि हित दै चित,
> मानहरन मनहरन लाल गिरिधरन लखे इत॥

'भँवर गीत' में ब्रह्म, माया और जीव की विवेचना में तथा 'रास पंचाध्यायी' में भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते समय कवि के पांडित्य की झलक भी दृष्टिगोचर होती है परन्तु केशव की भाँति उन्होंने कहीं भी अपनी प्रतिभा को पाण्डित्य के पाश में जकड़ नहीं दिया। साथ ही कवि ने प्राकृतिक दृश्यों के अंकन में भी रुचि दिखाई है और साधारणतः प्रकृति को तीन रूपों में चित्रित किया है। प्रायः उन्होने आलम्बन रूप में कहीं भी प्रकृति-चित्रण नहीं किया; हाँ आगामी घटना की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का यथातथ्य चित्रण अवश्य किया है। प्रकृति के विभिन्न रूपों का प्रयोग कहीं-कहीं अलंकारिक भी हो गया है और ऐसे स्थलों में चमत्कार प्रदर्शन तथा अलंकार प्रियता ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि डॉ० किरण-कुमारी गुप्ता का मत है "नन्ददास ने प्रकृति का सबसे अधिक प्रयोग शृंगारवर्णन में मानव भावनाओं की पूर्वपीठिका अर्थात् मानव अन्तवृत्तियों को उद्दीप्त करने के रूप में किया है" वह पूर्णतः उचित है। साथ ही कवि ने मानवीकरण की भावना भी प्रदर्शित की है और प्रकृति से तादात्मय स्थापित कर प्रकृति में संवेदना प्राप्त की है। नन्ददास ने केवल वियोगावस्था में ही प्रकृति में मानवीकरण का आरोप नहीं किया अपितु मानव के आनन्द में भी उसे पूर्ण सामंजस्य रखनी

है तथा भाषा पर उसका इतना अधिक आधिपत्य था कि वस 'वाग् यदैवानुवर्ते'—वाणी तक उसके आधीन सी हो गई थी। अतः 'अज मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजबाला' प्रेम वेली द्रुमफूली,' 'कर्म के कूप' जैसे रूपकों, 'वृन्दावन की वीथि मनो पहिनाई माला' जैसी उत्प्रेक्षाओं और 'तरंगति वारि ज्यों' के समान उपमाओं की उनकी कृतियों में अधिकता सी है। साथ ही अनुप्रास, संदेह, वक्रोक्ति, स्तुति, निदर्शना, दृष्टान्त और अतिशयोक्ति नामक अलङ्कारों तथा भाषा की तीनों प्रधान शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में सफलता के साथ हुई है। सरस, स्पष्ट और हृदयग्राही व्यञ्जना का एक उदाहरण देखिए :—

> गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहिं मुरारि।
> मदन त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि॥
> रूप गुन सील की॥

साथ ही कहावतों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कर उन्होंने भाषा की अभिव्यंजक शक्ति भी बढ़ा दी है तथा 'जबहीं लौं नहिं लखौं तबहिं लौं बाँधी मूठी', 'घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहि', 'कहा तिय लोन लगावौं और छुदित ग्रास मुख काढ़ि' आदि मुहावरों की अधिकता सी है। नन्ददास ने संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा उन्हें ब्रजभाषा के साँचे में ढालकर प्रयुक्त किया है; उदाहरणार्थ-योग के लिए 'जोग', सूक्ष्म के लिए 'सुच्छम', परिक्रिया के लिए 'परिकला' 'क्षुधित' के लिए 'छुदित' आदि। साथ ही गरज, लायक, अरदास जैसे अरबी फारसी के शब्द और कुछ पूर्वी हिन्दी के 'आहि' जैसे कुछ रूप भी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इन सबके फलस्वरूप भाषा सौन्दर्य के निखार में कुछ कमी न आ सकी तथा जैसा कि नन्ददास के विषय में प्रसिद्ध है 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' वह पूर्णतः उचित ही है। नन्ददास की कविता के कलापक्ष की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने पद-रचना के अतिरिक्त रोला और चौपाई जैसे छन्दों का भी सफलता के *साथ* प्रयोग किया है।

नन्ददास की रसव्यञ्जना भी अनुपम थी यद्यपि शृंगार-रस के

चित्रण की ओर ही कवि ने विशेष ध्यान दिया है और शृंगार की अपेक्षा शान्त, करुण तथा हास्य के प्रसंगों की गौणता ही देख पड़ती है। संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का वर्णन कवि ने सफलता के साथ किया है परन्तु वियोग दशा के चित्रण में उन्हें अधिकाधिक सफलता मिली है। मानसिक भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में तथा अन्तर्जगत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्त-वृत्तियों के निरूपण में कवि की काव्य-कला कुशलता का चरमोत्कर्ष रूप दृष्टिगोचर होता है। आशा और निराशा के हिंडोले में विहार करती हुई गोपियों का चित्त कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ प्रस्तुत किया है—

> विरहाकुल ह्वै गईं सब पूँछत बेली बन।
> को जड़ को चैतन्य न कछु जानत बिरहीजन॥
> हे मालति हे जाति जूथिके सुनि हित दै चित,
> मानहरन मनहरन लाल गिरिधरन लखे इत॥

'भँवर गीत' में ब्रह्म, माया और जीव की विवेचना में तथा 'रास पंचाध्यायी' में भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते समय कवि के पांडित्य की झलक भी दृष्टिगोचर होती है परन्तु केशव की भाँति उन्होंने कहीं भी अपनी प्रतिभा को पाण्डित्य के पाश में जकड़ नहीं दिया। साथ ही कवि ने प्राकृतिक दृश्यों के अंकन में भी रुचि दिखाई है और साधारणतः प्रकृति को तीन रूपों में चित्रित किया है। प्रायः उन्होंने आलम्बन रूप में कहीं भी प्रकृति-चित्रण नहीं किया; हाँ आगामी घटना की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का यथातथ्य चित्रण अवश्य किया है। प्रकृति के विभिन्न रूपों का प्रयोग कहीं-कहीं अलंकारिक भी हो गया है और ऐसे स्थलों में चमत्कार प्रदर्शन तथा अलंकार प्रियता ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि डॉ० किरण-कुमारी गुप्ता का मत है "नन्ददास ने प्रकृति का सबसे अधिक प्रयोग शृंगारवर्णन में मानव भावनाओं की पूर्वपीठिका अर्थात् मानव अन्त-वृत्तियों को उद्दीप्त करने के रूप में किया है" यह पूर्णतः उचित है। साथ ही कवि ने मानवीकरण की भावना भी प्रदर्शित की है और प्रकृति से तादात्मय स्थापित कर प्रकृति में संवेदना प्राप्त की है। नन्ददास ने केवल वियोगावस्था में ही प्रकृति में मानवीकरण का आरोप नहीं किया अपितु मानव के आनन्द में भी उसे पूर्ण सामंजस्य रखती

हुई व्यक्त किया है। प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ कवि को सौन्दर्य-वर्णन में भी अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और रूप-चित्रण के कई मनोहारी चित्र उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। यह अवश्य है कि रूप और यौवन के कवि नन्ददास की कृतियों में कई ऐसे स्थल भी हैं जिन्हें कि निरा वासना मूलक ही माना जाएगा और अष्टछाप के कवियों में निस्सन्देह नन्ददास ने ही प्रेम के विभिन्न स्वरूपों में स्त्री पुरुष की कामवासनामयी रति का ही विशेष चित्रण किया है जो कि उचित नहीं माना जा सकता लेकिन इससे उनकी विद्वता, बहुज्ञता तथा पाण्डित्य में कोई कमी नहीं आती। पद लालित्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि से तो वे सूर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठतम हैं तथा जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है "उनकी भाषा साफ और मार्जित, विचार पद्धति शास्त्रीय और वल्लभाचार्य के अनुकूल तथा भाव असाधारण थे।" वस्तुतः नन्ददास एक श्रेष्ठतम कवि हैं तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है "यदि तुलसी की कविता भागीरथी-सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश है, तो नन्ददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता त्रिवेणी की पूर्ति करती है।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : एक कवि के रूप में

अपनी समीक्षात्मक कृति 'व्यक्ति और वाङ्मय' में श्री प्रभाकर माचवे ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते समय उचित ही कहा है "आज हिन्दी भाषा और साहित्य प्रतिष्ठा एवं अभिवृद्धि की जिस अधित्यका पर जा पहुँचे हैं, उसकी चढ़ाई का सूत्रपात भारतेन्दु ने ही किया है। एक ओर जहाँ हिंदी भाषा को राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठापद दिलाने की नींव डालने का साहसपूर्ण कार्य उन्होंने किया, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी साहित्य को काव्य की कुंजगली से बाहर निबन्ध, नाटक, उपन्यास एवं आलोचना आदि के विभिन्न क्षेत्रों में उतारने का श्रीगणेश भी उन्हीं से हुआ है। भारतेन्दु का यह ऋण और बढ़ जाता है जब हम उनके व्यक्तिगत प्रयत्न एवं प्रोत्साहन से हिन्दी के क्षेत्र में आनेवाले उनके समकालीन साथियों का कार्य भी उनके साथ जोड़ देते हैं। भारतेन्दु ने अकेले जो कुछ अपनी ३४ वर्ष की आयु में किया, वह स्वयं ही एक विराट विस्मय है, पर जब हम उनके जीवन के विविध सामाजिक कार्यकलापों एवं समारंभों की ओर दृष्टि डालते हैं और उनके इन समारंभों का लेखा-जोखा लेने बैठते हैं, तब तो हमारे विस्मय का अंत ही नहीं रहता। हिन्दी को जीवन देने में सूर और तुलसी का, हिन्दी को सजन्वज देने में देव और बिहारी का जो स्थान है, वही स्थान हिन्दी को प्रतिष्ठा देने में भारतेन्दु का है। इसीलिए भारतेन्दु का कवित्व प्रतिष्ठा दिलाने के इस भगीरथ प्रयत्न में उनके व्यक्तित्व से प्रतिच्छादित हो गया है। 'निज भाषा उन्नति अहै' की प्रबल इच्छा ने भारतेन्दु को उनकी साहित्यिक प्रतिभा से ऊपर उठाकर एक नये सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन का युग प्रवर्तक बना दिया है। बंकिमचन्द्र, चिपलूणकर और नर्मद ने जो कार्य अपने प्रांतीय क्षेत्रों में किया उसके विस्तृत स्वरूप का आत्म-दर्शन किया है भारतेन्दु ने ही। भारतेन्दु से ही खड़ी बोली न केवल घुटनों के बल चलना छोड़ कर खड़ी होना सीखती है, बल्कि वह साहित्य एवं वाङ्मय के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने का पथनिर्देश भी प्राप्त करती है। तुलसी ने भाषा को संस्कृत की बराबरी में रखाने

में जिस अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है संभवतः उतनी ही क्षमता भारतेन्दु ने भी हिन्दी को तत्कालीन राज्यभाषाओं के बराबर खड़ा करने में दिखलाई है। भारतेन्दु का स्थान साहित्य में उतना बड़ा न हो पर हिन्दी भाषा के इतिहास में वे तुलसी के ही समकक्ष हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कवि के रूप में ये आत्मविस्मृत में खोये भक्त कवियों के नवीन संस्करण हैं, नाटककार के रूप में स्वदेशी और विदेशी परम्पराओं का दिग्दर्शन कराते हुए भी मौलिक नाटक साहित्य के वे आदि-संस्थापक हैं, निबंधकार के रूप में उस अनुप्राणित स्वानुभूत्यात्मक शैली के प्रवर्तक हैं जिसका दुर्भाग्यवश हिन्दी में आगे कुछ अधिक विकास न हो सका और पत्रकार के रूप में स्वतंत्र विचार-शक्ति और निष्पक्ष विवेचना के आदर्शों के जन्मदाता। इतिहास, धर्म और दर्शन आदि विषयों में भी मार्ग-निर्देश उन्होंने किया पर अपने मस्त जीवन में इनके लिए पर्याप्त अवकाश न पा सके। भाषा के प्रसाद और स्वच्छंद भाव-प्रवाह का अद्भुत तादात्म्य उनकी साहित्य-साधना का मर्म है। उनके साहित्य में तीव्रता या गहराई इतनी न हो, पर जीवित समरसता का जो एक शाश्वत सन्देश उनकी रचनाओं में सर्वत्र प्राप्त होता है; उसे अभी तक भलीभाँति आँका नहीं गया है। जीवन के प्रति जिस स्वस्थ दृष्टि को उन्होंने अनुबिंबित किया है, वह केवल दो चार इने गिने कवि हिन्दी में दे पाये हैं।" स्मरण रहे आधुनिक हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम युग भारतेन्दु युग (१८५० ई०-१९०० ई०) ही है क्योंकि हिन्दी साहित्य की प्रारंभिक विभिन्न प्रवृत्तियों को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही प्रभावित किया था और हिन्दी साहित्य में नवीनता का श्रीगणेश भी उन्होंने ही किया था तथा उसे जिस प्रकार की गति दी वह उनके निधन के उपरान्त भी उन्हीं के दिखाए हुए मार्ग का अनुसरण करती रही। अपने करीब पैंतीस वर्ष के संक्षिप्त जीवन में ही उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया और इस प्रकार उनकी अलौकिक प्रतिभा से साहित्य में नूतन प्रवृत्तियों का विकास हो सका तथा हिन्दी का क्षेत्र भी सर्वांगीण हो सका। जहाँ हिन्दी जनता को नाट्य-रचना की ओर अभिमुख करने का श्रेय उन्हें है वहाँ असंयत हिन्दी गद्य को खड़ी बोली का नियमित रूप देकर आधुनिक गद्य की परिष्कृत शैली उत्पन्न करने का—जिसकी कि परम्परा दिन प्रतिदिन आज भी विकसित हो रही है—उन्हें ही श्रेय है। हिन्दी में नवीन ढंग

की आलोचना व शैली का सूत्रपात करने वाले भी वे ही थे तथा 'नाटक' शीर्षक ६७ पृष्ठ का उनका आलोचनात्मक लेख हिन्दी का सर्वप्रथम आलोचनात्मक निबन्ध है। अपनी अल्पायु में ही १७५ ग्रन्थों का सृजन उनकी प्रखर प्रतिभा का द्योतक है। डॉ० जानसन के 'लिटरेरी सर्किल' के सदृश्य बल्कि उससे भी अधिक उनके साहित्यिक मंडल का महत्त्व है जिसने हिन्दी में अनेक प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों को उत्पन्न किया। जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास का कथन है "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का वास्तविक महत्त्व परिवर्तन उपस्थित करने में, साहित्य को शुद्ध मार्ग में ले चलने में है। शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'भूषण' समर्थ नहीं हुए थे, भारतेन्दु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे उनके उच्चपद का पता लगता है।" चूंकि भारतेन्दु का समस्त जीवन कवित्वमय ही था तथा उनकी रचनाओं में काव्य-कृतियों की ही संख्या अधिक है तथा वे एक साधारण कवि न होकर आशु कवि थे अतः उनका काव्य न केवल बहुत अधिक विशद है, अपितु उसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं।

भारतेन्दु के काव्यसाहित्य का प्रथम भाग गीतिकाव्य है। यों तो गीतिकाव्य की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है और हिन्दी गीतिकाव्य का प्रारम्भिक रूप वज्रयानी सिद्धों के पदों में दृष्टिगोचर होता है तथा भक्तिकाल में ही वह प्रौढ़ता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था परन्तु आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का सर्वप्रथम कवि होने का श्रेय भारतेन्दु को ही है। वल्लभकुल के कृष्णभक्त होने के कारण इनके पदों में मानस की सरस अभिव्यंजना है। अष्टछाप के कवियों के उपरान्त प्रथम बार लगभग डेढ़ सहस्र की संख्या में इतने सुन्दर पद एक कवि ने प्रस्तुत किए। यद्यपि पदों का विषय वही राधाकृष्ण लीला ही है तथा अष्टछाप के कवियों की भाँति उन्होंने भी बाललीला, भावर्ती लीला, मान लीला, दान लीला, रूपवर्णन, मुरलीमाधुरी, विरह, उद्धव-गोपी संवाद और नेत्रों के प्रति उपालम्भ आदि विषयों का ही वर्णन किया है परन्तु स्थल स्थल पर ऐसी-ऐसी नूतन मनोभावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि मानों किसी नूतन रूप से भावों का संगुफन कर रही हैं। रीतिकाल में राधाकृष्ण को शृंगार जगत के वासनामय नायक-नायिका के रूप में चित्रित कर जिस कलुषित शृंगार रस की उत्पत्ति

की गयी भारतेन्दु के काव्य में उसकी झलक भी नहीं मिलती। उनके पुनीत मानस में इन मनोभावनाओं के लिए स्थान कहाँ था !! अतः रीतिकालीन परम्परा की सर्वथा उपेक्षा कर राधाकृष्ण के परम दिव्य स्वरूप की आराधना ही उन्होंने अपने काव्य में की है। भारतेन्दु की यह एक महत्त्वपूर्ण काव्यगत विशेषता है कि उनके इस प्रयत्न से रीतिकालीन वासनामूलक नग्न शृंगार का अश्लील पट सर्वदा के लिए बंद हो गया। यह अवश्य है कि पदों में विशेष मौलिकता नहीं है पर आत्माभिव्यंजन की सौकुमार्यता और मनोहरता पूर्णरूप से दृष्टि-गोचर होती है। मीरा की कसक, सूर की वेदना, गोस्वामीजी की वर्णनशैली, हित हरिवंश जी की तल्लीनता एक साथ उनके पदों में झलक उठती है। उनका रूपवर्णन रूपकों के योग से उत्कृष्ट बन पड़ा है और राधा के सौन्दर्य का सरिता से तथा कृष्ण की नृत्यरूपी मनोहरता का वारिद खण्डों से साम्य आदि विभाव-चित्रण के कलापूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। भारतेन्दु सूर से विशेष रूप में प्रभावित हुए हैं और इस प्रकार उनके वस्तु-वर्णन पर सूरसागर का व्यापक प्रभाव पड़ा है। सूर के सदृश्य उपमा और रूपक की ओर भी उन्होंने रुचि प्रदर्शित की है। कृष्णकाव्य के अन्तर्गत देवी छद्मलीला, रानी छद्मलीला और तन्मयलीला नामक उनके तीन खण्ड काव्यों का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी कि कथावस्तु नितान्त मौलिक है। स्मरण रहे सूर ने राधा के जन्म आदि का वर्णन नहीं किया है परन्तु भारतेन्दु ने कृष्ण जन्मोत्सव के सदृश्य राधा का जन्मोत्सव भी वर्णन किया है। इसी प्रकार राधा की मनोभावनाओं की सौकुमार्यता और कृष्ण के प्रति प्रेमभाव में भी हमें मौलिकता ही दीख पड़ती है जो कि अष्टछाप के कवियों की कविताओं में नहीं है। जैसा कि डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक महान् साहित्यिक संगम के समान हैं जहाँ साहित्य की प्राचीन धाराएँ मिलकर एक नवीन साहित्यिक धारा को जन्म देती हैं। उनमें नागनिक, कबीर, सूर, मीरा, देव और बिहारी आदि सभी मूर्तमान दृष्टिगोचर होते हैं।"

भारतेन्दु की दृष्टि लोक-साहित्य की ओर भी गई और उन्होंने ग्राम-साहित्य के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया। सन् १८७९ ई० की 'कवि वचन सुधा' में उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर गाँवों में

ग्रामीण भाषा में लिखे गए गीतों का महत्त्व सिद्ध किया था। भारतेन्दु का उद्देश्य यह भी था कि हिंदी के सम्पर्क में आने वाले सभी प्रांत की प्रांतीय भाषाओं के लोक गीतों का भी सृजन हो। चूँकि ये भाषाएँ हिंदी की रीढ़ हैं और उनके योग से हिंदी का अधिक विकास हो सकेगा अतः वे चाहते थे कि इन भाषाओं का भी विकास हो। भारतेन्दु ने स्वयं भी बंगला, गुजराती, पंजाबी और राजस्थानी में कविताएँ लिखी हैं तथा उर्दू में भी उनकी कुछ सूक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। लोक साहित्य का अधिक से अधिक निर्माण हो यही उनकी आकांक्षा थी। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लावनी, बिरहा, गजल आदि के प्रचार और प्रसार की ओर उनकी विशेष रुचि थी और स्वयं भी उन्होंने उनका सृजन किया। भारतेन्दु ने वे विषय भी प्रस्तुत किए जिन पर कि लोक गीतों का लिखा जाना आवश्यक था। वे विषय हैं—बालविवाह से हानि, जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, भ्रूण हत्या, फूट और बैर, स्वदेश प्रेम, हिंदुस्तान की वस्तु हिंदुस्तानियों के व्यवहार में लाना, अँगरेजी फैशन की बुराइयाँ आदि। इस प्रकार भारतेन्दु की दृष्टि समाज सुधार से लेकर स्वदेशी आंदोलन की ओर तक थी और उनका उद्देश्य यही था कि सर्व साधारण में एक चेतना जाग्रत करनी चाहिए जो कि प्रत्येक प्रकार से अशिक्षितों को—ग्रामीणों को—भी इन गीतों के द्वारा जाग्रत कर सके।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्कवि अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है और साहित्य सर्वदा ही सामयिक परिस्थितियों से अनुप्राणित होता रहा है। चूँकि हिंदी साहित्य के प्राचीन कवि धर्म चेतना और निश्चित रूढ़ियों से ही प्रभावित होते रहे हैं अतः सामयिक घटनाओं और परिस्थितियों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इसी प्रकार रीतिकालीन काव्य धारा भी केवल प्रशस्तियों मात्र तक ही सीमित रही है अतः यह तो भारतेन्दु युग की ही विशेषता है जिसमें कि सामयिक तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों का चित्रण कवियों ने किया है। यों तो भारतेन्दु ने कुछ ऐसी कविताएँ भी लिखी हैं जो उन्हें राजभक्त के रूप में सिद्ध करती हैं जैसे विक्टोरिया के पति की मृत्यु पर स्वर्गवासी श्री अलबरत वर्णन, ड्यूक ऑफ एडिनबरा के १८६९ में भारतआगमन के अवसर पर श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र एवं उनके काशी

आने के अवसर पर के कवित्त, प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन पर लिखी गई 'राजकुमार शुभागमन वर्णन'। स्मरण रहे यही प्रवृत्ति राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविताओं में भी हमें देख पड़ती है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु के काव्य में उत्कृष्ट देशभक्ति और वास्तविक राष्ट्रीयता झलक उठती है। वस्तुतः समीक्षक यह भूल जाते हैं कि राष्ट्रीयता के मूल प्रवर्तकों में उनका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे प्रथम कवि हैं जिन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास को कवि के रूप में निहारा है। अतीत की गौरव-गाथाओं को उन्होंने विस्मरण नहीं किया है और पूर्वी-पश्चिमी सभ्यता के संघर्ष से भी वे भलीभाँति विज्ञ थे और 'प्रबोधिनी' में भारत-दुर्दशा का उन्होंने हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। वे कहते हैं—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

साथ ही अँग्रेजी राज्य के प्रति उनके वास्तविक विचार इस प्रकार के थे—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा ! हा ! री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

अतः हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने ही जातीय, राष्ट्रीय तथा सामयिक कविता का बीजारोपण किया जो कि उनके उपरान्त पन्द्रह वर्ष के अंदर-अंदर विकसित हो गया।

गीतिकाव्य और राष्ट्रीय कविताओं के उपरान्त भारतेन्दु की काव्यधारा में रीतिकालीन प्रवृत्तियों से प्रभावित विषय दृष्टिगोचर होते हैं। कवित्त और सवैयों में कवि ने शृंगाररस की धारा अबाध गति से प्रवाहित की है परन्तु उसने वासनामूलक चित्र प्रस्तुत न कर प्रेम का उत्कृष्ट रूप वर्णित किया है। विरह का स्वाभाविक चित्रण वे प्रस्तुत कर सके हैं और इस प्रकार मतिराम की सी मधुरता, देव की सी विरह व्यथा, घनानन्द की सी हृदय स्पर्शिता, रसखान की सी

सरलता और पद्माकर का सा प्रवाह उनके छन्दों में दृष्टिगोचर होता है। 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं' सदृश्य मर्मस्पर्शी उक्तियों की प्रधानता सी है।

भारतेन्दु के काव्य का कलापक्ष भी प्रौढ़ और परिष्कृत है। यद्यपि कवि ने खड़ी बोली में भी रचनाएँ की हैं परन्तु उनकी काव्य-भाषा विशेष रूप से ब्रजभाषा ही रही है। रत्नाकर की भाँति उन्होंने ब्रजभाषा का अध्ययन नहीं किया था बल्कि अपनी प्रतिभा के बल से ही उसका परिमार्जित और परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया। उनकी ब्रजभाषा शुद्ध ब्रजभाषा है तथा उसे साहित्यिक ब्रजभाषा नहीं कहा जा सकता है। स्मरण रहे उत्तम भाषा के समस्त गुण उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं और भावानुकूल शब्दचयन उनकी भाषा की खास विशेषता है। दुरूह शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया और सर्वत्र ही सरल, सुमधुर शब्दावली दीख पड़ती है। केशव के सदृश्य चमत्कार-प्रदर्शन के हेतु संस्कृत शब्दों का उन्होंने अधिक प्रयोग नहीं किया और न सूर की भाँति भाषा को साहित्यिक एकरूपता देने का ही प्रयत्न किया है। घनानन्द की तरह उसे परिष्कृत करने का भी प्रयत्न नहीं किया गया बल्कि दुरूह और अप्रचलित शब्दों से रहित सुललित, सरल और स्वाभाविक ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया गया है। वस्तुतः ब्रज-भाषा के पूर्व सौन्दर्य को सुरक्षित रख उसे आधुनिक जीवन का अनु-गामी बनाना उनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था तथा उन्होंने ब्रजभाषा की निजता को भी सुरक्षित रखा है। उनकी भाषा में लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों का अधिकाधिक प्रयोग है। 'हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आय कुठार मैं दीनों' और 'एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये कूप ही में यहाँ भाँग परी है' के सदृश्य मुहावरों और कहा-वतों का उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। वस्तु-वर्णन में अलंकारों की सुषमा देखने ही योग्य है तथा 'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये' जैसी अनुप्रासयुक्त पंक्तियों की अधिकता-सी है। इसी प्रकार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और यमक आदि का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन और वर्तमानकाल की युग-संधि पर खड़े हुए भारतेन्दु का काव्य अपना एक एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। युग की विभिन्न धाराओं का ऐसा समावेश बहुत ही कम

कवियों की कृतियों में देख पड़ता है तथा अनेक भाषाओं और अनेक शैलियों में अपनी अलौकिक प्रतिभा का जैसा परिचय उन्होंने दिया है वैसा शायद ही कोई कवि दे सका हो। गोस्वामी तुलसीदास के उपरान्त हिंदी साहित्य में वे ही एकमात्र कवि हैं जिन्होंने कि प्रचलित समस्त शैलियों का और विभिन्न काव्य भाषाओं का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। खड़ी बोली की कविता के तो वे प्रवर्तक ही थे। वस्तुतः हिंदी कविता के विषयों और शैलियों में उन्होंने क्रांति-सी उपस्थित की है क्योंकि प्राचीन कवि या तो रस-भाव पुष्टि को ध्यान में रखकर कविता करते थे या फिर धर्म और शृंगार को। भारतेन्दु ने नवीन प्रसंगों की उद्भावना की और समाज-सुधार, देश-प्रेम तथा स्वातंत्र्य-भावना आदि नए-नए विषयों द्वारा कविता का नवीन रूप प्रस्तुत किया। स्मरण रहे श्री जयशंकर 'प्रसाद' भारतेन्दु को ही हिंदी साहित्य का प्रथम यथार्थवादी कवि मानते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की शैली में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तिमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्रों की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये-नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन-नवीन के इस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।"

महाकाव्य की तुला पर 'प्रियप्रवास'

वस्तुतः डा. सुधीन्द्र ने उचित ही लिखा है "प्रियप्रवास हरिऔध जी का कीर्तिस्तम्भ और अतुकान्त हिंदी कविता का दीपस्तम्भ है। वर्णवृत्तों के इस महाकाव्य को हिंदी जगत ने अपनी सिर आँखों पर उठाया और कवि को महाकवि की उपाधि से विभूषित किया। प्रियप्रवास के ढंग पर और भी अतुकान्त महाकाव्य लिखने का प्रयत्न हुआ परन्तु प्रियप्रवास की सफलता कोई न पा सका।" स्मरण रहे हरिऔध जी के मन में बहुत दिनों से खड़ी बोली में एक महाकाव्य लिखने की तीव्र इच्छा विद्यमान थी और इस बात की पुष्टि 'प्रियप्रवास' की भूमिका का अनुशीलन करने पर सहज ही स्पष्ट हो जाती है क्योंकि कवि ने स्वयं ही कहा है कि "यह काव्य खड़ी बोली में लिखा गया है। खड़ी बोली में छोटे-छोटे कई काव्य-ग्रंथ अब तक लिपिबद्ध हुए हैं परन्तु उनमें से अधिकांश सौ दो सौ पद्यों में ही समाप्त हैं, जो कुछ बड़े हैं वे अनुवादित हैं, मौलिक नहीं। सहृदय कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जयद्रथवध निस्संदेह मौलिक ग्रन्थ है परन्तु वह खंडकाव्य है। इसके अतिरिक्त ये समस्त ग्रंथ अंत्यानुप्रास विभूषित हैं, इसलिए खड़ी बोलचाल में मुझको एक ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता देख पड़ी जो महाकाव्य हो और ऐसी कविता में लिखा गया हो जिसे भिन्नतुकान्त कहते हैं। अतएव मैं इस न्यूनता की पूर्ति के लिए कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और अनवरत परिश्रम करके इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रंथ की रचना की; × × × विनीत भाव से केवल इतना ही निवेदन करूँगा कि महाकाव्य का आभास स्वरूप यह ग्रंथ सत्रह सर्गों में केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देखकर हिंदी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ सुकवियों और सुलेखकों का ध्यान इस त्रुटि का निवारण करने की ओर आकर्षित हो।" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपनी कृति को महाकाव्य का स्वरूप प्रदान करने की पूर्ण चेष्टा की है तथा १५ अक्तूबर सन् १९०९ को प्रियप्रवास का लेखन कार्य प्रारम्भ कर उसे २५ फरवरी सन् १९१३ को समाप्त किया है अर्थात् इस ग्रंथ के प्रणयन में कवि को तीन वर्ष

चार महीने और नौ दिन लगे हैं परन्तु चूँकि आलोचकों में इस बा
पर मतभेद-सा पाया जाता है कि वस्तुतः प्रियप्रवास को महाका
माना जाय या नहीं अतः सर्वप्रथम हम इसी बात पर विचार करेंगे कि
उसे कहाँ तक एक सफल महाकाव्य माना जा सकता है।

स्मरण रहे महाकाव्य के क्या लक्षण होने चाहिए, यह प्रश्न हमेश
विवादास्पद ही रहा है क्योंकि इनमें समय-समय पर बहुत-सा परि
वर्तन होता रहा है तथा प्राचीन संस्कृत विद्वानों द्वारा प्रतिपादित
लक्षण आज परिवर्तित हो चुके हैं तथा नवीन विचारकों ने अपने नये
ढंग से महाकाव्यों में जीवन की व्याख्या की है; विभिन्न अवस्थाओं
और दशाओं का चित्रण किया है। भारतीय साहित्य में छठवीं शताब्दी
में सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने
महाकाव्य के लक्षणों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। दण्डी ने 'काव्या-
दर्श' में लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
मंत्रदूतप्रयाणाजि नायकाभ्युदयैरपि।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यकल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः।

अर्थात् महाकाव्य में (१) सर्गों का विभाजन होना अनिवार्य है। ये
सर्ग न बहुत ही दीर्घकाय हों, न अत्यंत संक्षिप्त हों। (२) प्रारंभ में
आशीर्वाद, देववंदना अथवा ग्रंथ के कथानक का संकेत देने वाले पद
होने चाहिए (३) महाकाव्य की कथावस्तु इतिहास, लोकप्रिय कथा
या अन्य सद्वृत्त पर आश्रित होनी चाहिए। (४) धर्म, अर्थ, काम,
मोक्ष आदि चारों मानव लक्ष्यों का उल्लेख करना चाहिए (५) महा-
काव्य का नायक चतुर और उदात्त हो। (६) महाकाव्य में नगर,
समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय तथा सूर्योदय के रूप में प्रकृति-वर्णन हो।

साथ ही उद्यान-विहार, जलक्रीड़ा, मधु-पान आदि के रूप में उत्सव-वर्णन, विप्रलम्भ, विवाह, पुत्र-जन्म के रूप में पारिवारिक जीवन का चित्रण और मंत्रणा, दूत-प्रयाण, युद्ध नायक के अभ्युदय आदि के रूप में सामाजिक एवम् राजनैतिक जीवन का चित्रण होना चाहिए (७) महाकाव्य का आकार विस्तृत हो (८) अलंकार, रस और भाव का चित्रण हो (९) लोकरंजन उसका लक्ष्य हो (१०) भिन्न-भिन्न वृत्तों का सर्गों में प्रयोग हो तथा (११) वह नाटकीय संधियों और श्रव्यत्व गुण से युक्त हो।

दण्डी की भाँति विश्वनाथ ने भी महाकाव्य के लक्षणों का सविस्तृत निरूपण किया है और 'साहित्यदर्पण' में इस विषय में उन्होंने लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक-संधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।
नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
संयोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनामतः॥

अर्थात्—

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। एक सर्ग में एक ही छन्द

रहना चाहिए—जो कि अंत में परिवर्तित हो जाना चाहिए परन्तु प्रवाह की एकता के लिए छन्द-विधान पर ध्यान रखना चाहिए।

२. महाकाव्य का नायक कोई देवता या कुलीन क्षत्रिय हो, जिसमें धीरोदात्त नायक के समस्त गुण हों (अर्थात् नायक गम्भीर, क्षमावान्, आत्मश्लाघाहीन, तथा स्थिर हो)। एक ही वंश के कई राजा भी नायक हो सकते हैं।

३. महाकाव्य में शृंगार, वीर और शांत रसों में से एक प्रधान हो तथा शेष गौण रूप से उस मुख्य रस के सहायक हों।

४. कथावस्तु के संगठन में सब संधियों का प्रयोग होना चाहिए।

५. कथानक या तो इतिहास-प्रसिद्ध हो या किसी महापुरुष या सज्जन के चरित्र से सम्बन्धित हो।

६. उसका लक्ष्य चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है।

७. महाकाव्य के प्रारंभ में मंगलाचरण, ईश वंदना, आशीर्वाद या कथावस्तु के निर्देश के पश्चात् सज्जनों की प्रशंसा तथा असज्जनों की निन्दा भी होती है।

८. महाकाव्य में प्रसंगानुसार संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, अंधकार, दिवस, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुओं, वनों, सागरों, संभोग, विप्रलम्भ, ऋषियों, स्वर्ग, नगरों, यज्ञों, युद्धों, आक्रमणों, विवाहोत्सवों, मंत्रणा, पुत्रजन्मादि विषयों का सविस्तृत वर्णन होना चाहिए।

९. महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम पर या कथानक, नायक अथवा अन्य पात्र पर होना चाहिए लेकिन प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य विषय के आधार पर होना चाहिए।

प्राचीन भारतीय आचार्यों की भाँति पाश्चात्य समीक्षकों ने भी महाकाव्य के लक्षणों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं और उनके सर्वमान्य तथ्यों के आधार पर महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण माने जा सकते हैं।

(१) महाकाव्य एक वृहदाकार प्रबन्ध काव्य (Narrative Poetry) है।

(२) इसका नायक शूरवीर होना चाहिए और सम्पूर्ण कथावस्तु नायक को लेकर ही एक सूत्र में आबद्ध की जानी चाहिए। यद्यपि कुछ पाश्चात्य समीक्षक महाकाव्य के पात्रों का देवताओं से सम्पर्क स्थापित

रहना आवश्यक समझते हैं परन्तु अर्वाचीन आलोचक उन पात्रों के कार्यकलाप में दैवी शक्ति का आक्षेप आवश्यक नहीं समझते।

(३) इसमें एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(४) इसकी शैली में एक विशेष प्रकार की शालीनता और उच्चता आवश्यक है।

(५) इसका विषय परम्परा से प्रतिष्ठित और जनप्रिय होना चाहिए।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षणों में कोई विशेष विभिन्नता नहीं दीख पड़ती। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों ही विचारकों ने नायक की शालीनता तथा महानता और कथावस्तु के संगठन पर विशेष ज़ोर दिया है। भारतीय आचार्यों ने यद्यपि धीरोदात्त नायक की उदात्त भावनाओं के चित्रण पर ही बल दिया है किन्तु पाश्चात्य समीक्षक तो नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीय भावनाओं के संवर्धन पर अधिक ज़ोर देते हैं। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में नायकों की कुलीनता पर विशेष ज़ोर नहीं दिया जाता तथा इतिहास—प्रसिद्ध और जनप्रिय नायक का ही विशेष रूप से चित्रण किया जाता है। नायक की प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि और शूरता ही महाकाव्य में जातीय जीवन की वास्तविकता ला देती है। इस प्रकार महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों में कोई मूल विभिन्नता नहीं है और दोनों ही जातीय आदर्शों के अनुकूल महाकाव्य के नायक का धीरोदात्त होना आवश्यक समझते हैं। दोनों ही महाकाव्य के आकार की दीर्घता और शैली की शालीनता के पक्ष में हैं। किन्तु इधर महाकाव्य के बहुत से प्राचीन लक्षण अब नहीं अपनाये जाते। मंगलाचरण इत्यादि की आवश्यकता तो कवियों ने समझी ही नहीं है तथा सर्गों के बीच-बीच में सरसता लाने के हेतु प्रगीतों (Lyrics) का भी उपयोग किया जाता है। वस्तुतः पुरातन आदर्शों का ही अनुसरण करना आवश्यक भी नहीं है तथा उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन कर नवीन आदर्शों की सृष्टि करना अनुचित भी नहीं है। चूँकि मानव-सभ्यता विकासशील है अतः साहित्यिक आदर्शों और उद्देश्यों का विकास भी अवरुद्ध नहीं रह सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० विनयमोहन शर्मा ने उचित ही लिखा है "महाकाव्य मानव की व्यापक अनुभूति का प्रतीक होता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं

कि वह विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' या अरस्तू के 'पोयटिक्स' की बँधी-बँधाई व्याख्या की सीमा में बँधकर अपने को प्रकाशित करे। कथा किसी भी युग की हो, यदि उसमें मानव की शाश्वत भावनाओं, उनकी उलझनों आदि का सफल उद्घाटन है तो उससे महाकाव्य की सृष्टि हो जाती है।"

स्मरण रहे कि महाकाव्य की निकष पर जब हम प्रियप्रवास को कसना चाहते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में महाकाव्य की विवेचना करते हुए उसमें जिन लक्षणों का होना आवश्यक माना है प्रायः वे सभी लक्षण प्रियप्रवास में विद्यमान हैं। यह न केवल सर्गबद्ध है अपितु उसमें आठ से अधिक सर्ग भी हैं और कवि ने अपनी कथावस्तु को कुशलता के साथ सत्रह सर्गों में अंकित किया है। प्रियप्रवास के नायक श्रीकृष्ण उच्चकुलोद्भव कुलीन क्षत्रियकुमार हैं और उनमें धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। जैसा कि महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्तरस में से किसी एक की प्रमुखता आवश्यक मानी जाती है—'प्रियप्रवास' में भी श्रीकृष्ण के संयोग की कथा का वर्णन करने के पश्चात् विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है और साथ ही वात्सल्य तथा शान्त की पुनीत झाँकी भी उसमें दीख पड़ती है। साथ ही उसमें नाटक की सभी सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति—भी विद्यमान हैं। जैसा कि प्रियप्रवास के अन्तिम पद्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का मूल उद्देश्य राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की परिणति विश्वप्रेम के रूप में दिखलाना ही है तथा चतुर्थ सर्ग में जहाँ कि कवि ने राधा और कृष्ण के प्रेम को बीज रूप में अंकुरित होता हुआ अंकित किया है तथा आगे चलकर 'रोगी वृद्ध जनोपकार निरता' आदि विशेषणों में भी उसका वही अन्तिम लक्ष्य ध्वनित होता है अतः इस स्थलपर हम मुख संधि की योजना मान सकते हैं। इसी प्रकार पंचम सर्ग में कवि ने विदाई का वर्णन करते हुए कहा है कि 'आई वेला हरिगमन की छा गई खिन्नता सी' और फिर षष्ठ सर्ग में विरह-व्यथिता राधा उत्सुक होकर जहाँ पवन की दूती रूप में कल्पना कर उसके सामने अपने हृदयोद्गार व्यक्त करती है वहाँ स्वाभाविक ही प्रतिमुख सन्धि की योजना हुई है। तत्पश्चात् आगे की कथा वस्तुतः सन्तापगाथा ही है और कवि ने न केवल नन्द, यशोदा, राधा तथा अन्य गोपगोपिकाओं

की करुणाजनक भावनाओं का अपितु प्रकृति का भी शोकपूर्ण चित्रण किया है। कालान्तर में जब श्रीकृष्ण की प्रेरणा से उद्धव ब्रजभूमि आते हैं और ब्रजवासियों का करुण-क्रन्दन सुनकर राधा को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाते हैं तथा राधा भी उसे श्रवण कर उस पर सहज भावना के साथ विचार करती है तब वहाँ जिन आन्तरिक भावनाओं का चित्रण हुआ है उनमें हमें 'गर्भसन्धि' ही देख पड़ती है क्योंकि वहाँ उद्देश्य की सिद्धि और असिद्धि दोनों ही पक्ष विद्यमान हैं। राधा इस स्थिति में विचलित नहीं होतीं और उनके मानस में विश्वप्रेम की भावनाएं जाग्रत हो उठती हैं तथा जब वे अपने भावी निश्चय की उद्घोषणा करती हैं तब उनके इस भावी निश्चय में विमर्श-सन्धि की स्वाभाविक योजना हुई है। आगे चलकर राधा ने अपना जीवन पूर्णतः लोक-सेवा में ही व्यतीत कर दिया और सप्तदश सर्ग के ४९वें छन्द में तो कवि के उद्देश्य की चरमसिद्धि ही समझी जानी चाहिए अतः इस स्थल पर उपसंहृति सन्धि जिसे कि निर्वहण सन्धि भी कहा जाता है स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में नाटकों की सभी सन्धियाँ विद्यमान हैं। साथ ही उसकी कथा प्रख्यात है, कल्पित नहीं क्योंकि राधा-कृष्ण और गोप-गोपियों का कथानक चिरन्तन काल से प्रसिद्ध है। स्मरण रहे कि साहित्यदर्पणकार ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक की सिद्धि महाकाव्य में आवश्यक मानी है अतः हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में कवि ने धर्माचरण को मोक्ष का सोपान मानते हुए धर्म को ही प्रधानता दी है और श्रीकृष्ण को ब्रजरक्षक तथा सृष्टि का संगी मानकर उनके लोक-धर्म संस्थापक रूप का चित्रण किया है। वस्तुतः कवि का इष्ट उद्देश्य विश्वप्रेम का आदर्श प्रस्तुत करना रहा है तथा उसकी यही अभिलाषा जान पड़ती है कि एक ऐसा आदर्शपूर्ण समाज हो जहाँ कि व्यक्ति द्वारा स्वार्थमय मोह का परित्याग कर निःस्वार्थ प्रणय का संश्रयण हो अतएव कवि ने अपने महाकाव्य के अन्त में ईश्वर से यही प्रार्थना की है कि कृष्ण जैसे देशप्रेमी और राधा जैसी लोक-सेविकाएँ पुनः इस भारतभूमि में अवतरित हों। यद्यपि प्रियप्रवास का आरम्भ संध्यावर्णन से हुआ है और उसमें प्रारम्भ में मंगलाचरण तथा आशीर्वचन के संकेत नहीं मिलते लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रथम सर्ग की पहली पंक्ति का पहला शब्द 'दिवस' ही मंगलवाचक है क्योंकि 'दिवस' शब्द 'दिव' धातु से बना

है और 'दिव्' धातु से द्युति अर्थ में उणादि के 'अत्यविचमितमिनमिनभिरमिलभिनमि तापिपति परि पणि महिभ्योऽसच्' नामक सूत्र से 'दिवसः-दिवसम्' रूप बनता है। वस्तुतः दिवस शब्द का अर्थ प्रकाशवान है और उसके देवता सूर्य माने जाते हैं अतः इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि ने प्रारम्भ में दिवस नामक मंगलवाची शब्द रखकर—मंगलाचरण की परम्परा ही निवाही है। इतना ही नहीं प्रियप्रवास में जो सान्ध्यवर्णन का क्रम रखा गया है उसमें भी हमें प्रतिपाद्य वस्तु का स्पष्ट संकेत मिलता है और इसी प्रसंग में कवि ने श्रीकृष्ण-चरित की उस मधुरता की ओर भी संकेत किया है जो कि समस्त कथा वस्तु की अन्तर्धारा ही है; देखिए—

ध्वनिमयी करके गिरि-कंदरा।
कलित-कानन केलि निकुंज को॥
बज उठी मुरली इस काल ही।
तरणिजा-तट-राजित-कुंज में॥

साथ ही साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य में खलजनों की निन्दा और सज्जनों की स्तुति नामक लक्षणों का भी होना भी आवश्यक माना है अतः प्रियप्रवास में भी कवि ने सज्जनों का गुण कथन[1] और खल-निन्दा[2] भी की है। स्मरण रहे कि विश्वनाथ ने महाकाव्य में छंदों की वैविध्यता आवश्यक मानते हुए प्रत्येक सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन आवश्यक माना है तथा उनके मतानुसार कभी-कभी किसी एक सर्ग में ही अनेक छंदों का समावेश हो सकता है परन्तु प्रियप्रवास का अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने जब इस महाकाव्य की रचना आरंभ की उस समय उसे विश्वनाथ का यह कथन स्मरण

१ देखिए—

रोगी दुखी विपद्-आपद में पड़ों की।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे॥
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें॥

२. देखिए—

[illegible] नहीं है खल के लिए [illegible]।
[illegible] उत्पादक [illegible] दीख्य है।
[illegible] भर का [illegible]।
[illegible] की [illegible] [illegible] है॥

नहीं रहा और इस प्रकार उसमें प्रत्येक सर्ग के अंत में छंद-परिवर्तन नहीं दृष्टिगोचर होता। प्रथम और द्वितीय सर्गों में तो केवल द्रुतविलंबित छंद ही है तथा तृतीय सर्ग में भी विशेष रूप से वही छंद व्यवहृत हुआ है और उसमें केवल मध्य में दो मालिनी छंद तथा अंत में एक शार्दूलविक्रीड़ित छंद है। हाँ, तृतीय सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक अवश्य कवि ने इस नियम का पालन किया है अतः इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साहित्यदर्पण के महाकाव्य सम्बन्धी आठवें लक्षण को कवि ने पूर्णतः नहीं अपनाया परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि अग्निपुराण, काव्यादर्श तथा प्रतापरुद्र यशोभूषण जैसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में कहीं भी छंदसम्बन्धी इस लक्षण का उल्लेख नहीं किया गया है और फिर साथ ही साहित्यदर्पणकार ने जो छंद परिवर्तन आवश्यक माना है उसके मूल में यह मनोवैज्ञानिक आधार भी विद्यमान है कि परिवर्तन प्रिय पाठक एक छंद में लिखे गये किसी सर्ग से संतुष्ट नहीं हो पायेगा और इस प्रकार जब पढ़ते समय वह अन्य छंदों को भी देखेगा तो न केवल उसके मानस की एकरसता भंग हो जायगी तथा उसमें पढ़ने की उत्सुकता भी जाग्रत होगी अपितु सर्ग की समाप्ति निकट जानकर विराम की आशा से उसके मानस में आनन्द की ऊर्मियाँ भी उठने लगेंगी। अतएव यदि किसी महाकाव्य के किसी सर्ग विशेष में छंदों की वैविध्यता के बिना ही इस प्रकार की मनोवैज्ञानिकता दृष्टिगोचर होती हो तो फिर साहित्यदर्पण के इस नियम का अक्षरशः पालन करने की आवश्यकता नहीं है और इस प्रकार प्रियप्रवास में महाकाव्य सम्बन्धी यह लक्षण विद्यमान न होने से उसके महत्व में कोई आँच नहीं आती। साथ ही प्रियप्रवासकार ने अपनी कृति के प्रत्येक सर्ग के अंत में भावी घटना का संकेत भी किया है और जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं प्रियप्रवास में कुछ सत्रह सर्ग हैं अतः इस दिशा में भी कवि ने साहित्यदर्पण का नियम अपनाया है तथा अपनी कृति में आठ से अधिक सर्ग रखे हैं। स्मरण रहे कि इस महाकाव्य के सर्ग न तो बहुत छोटे ही हैं और न बहुत बड़े तथा प्रथम सर्ग में ५१; द्वितीय में ६४, तृतीय में ८९, चतुर्थ में ५३, पंचम में ८०, षष्ठ में ८३, सप्तम में ६३, अष्टम में ७०, नवम में १३५, दशम में ९७, एकादश में ९९, द्वादश में १०१, त्रयोदश में ११९, चतुर्दश में १४७, पंचदश में १२८, षोडश में १३७ और

सत्रहवें में ५४ अर्थात् कुल १५६९ छंद हैं। एकमात्र अंतिम सर्ग अपवाद अवश्य है अन्यथा हम देखते हैं कि प्रारंभ में सर्ग कुछ छोटे हैं लेकिन बाद के सर्ग क्रमशः बड़े होते गये हैं। इतना ही नहीं महाकाव्य के लक्षण के अनुरूप प्रियप्रवास में प्राकृतिक दृश्यों एवं मानवीय हृदगत् भावनाओं का भी वास्तविकतापूर्ण चित्रण हुआ है तथा उसमें न केवल प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण करते हुए कवि ने प्रभात, मध्यान्ह, संध्या, शर्वरी, तरुनारुण, कौमुदी, विभात, सुमधुर नादी, सुदूर मेघ-माला, पुष्पित लताएँ, सुधांशु, भ्रमर-सप्त-मुकुल, उत्ताल जलनिधि, तरंगमय सरोवर, सुखमय उपवन आदि का वर्णन किया है अपितु प्रसंगानुसार मानसिक भावनाओं और उनके बहिरंग विकास का चित्रण करने की ओर भी उसने ध्यान दिया है। कवि की मनोवृत्ति संयोग, वियोग, दुःखसुख, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि का निरूपण करने में भी विशेष रूप से रमी है। स्मरण रहे कि प्रस्तुत ग्रंथ का नामकरण न तो नायक-नायिका के नाम पर हुआ है और न कवि के नाम पर, बल्कि काव्यगत कथावस्तु को लेकर ही हुआ है। इस दिशा में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कवि का विचार पहले इस ग्रंथ का नाम 'व्रजांगना विलाप' रखने का था परन्तु साहित्य-जगत में वह 'प्रियप्रवास' नाम से प्रस्तुत हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक दृष्टि से व्रजांगना विलाप की अपेक्षा प्रियप्रवास नाम ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है और जैसा कि डॉ. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने लिखा है "प्रिय से संकेत है गोप गोपियों के हृदयहारी वृंदावनविहारी पीतपट धारी बनवारी की ओर और उसी के प्रवास अर्थात् वृंदावन से मथुरागमन के परिणाम स्वरूप वृंदावन वासियों के हृदय में कारुण्य की जो अव्याहत धारा प्रवाहित हुई है उसी का विशद वर्णन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस काव्य का ध्येय है। अतः प्रियप्रवास नाम पूर्णरूप से सार्थक है और अनुप्रास विशिष्ट होने से कान्त और कलात्मक भी है।"

इस प्रकार यहाँ यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र में महाकाव्य के जो लक्षण निर्दिष्ट हैं उन सभी को कवि ने यथासम्भव अपनी इस कृति में समाविष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरिऔध जी को इस दिशा में सफलता भी प्राप्त हुई है। स्मरण रहे कि पाश्चात्य विचारकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों की तुला पर भी रखकर जब हम इस महाकाव्य को देखते हैं तब इसी

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने उन सभी को अपनाया है। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रियप्रवास एक बृहदाकार काव्य ही है तथा इसका विषय भी परम्परा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय है। साथ ही चरित्र-प्रधान काव्य होने से कवि ने चरित्र विशेष के जीवन का चित्रण करने की ओर विशेष ध्यान अवश्य दिया है लेकिन ये सभी गुण आदर्श के रूप में ही न होकर सर्वजन सुलभ भी हैं और इन गुणों को अपनाकर सर्वसाधारण भी अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं सम्मान पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। प्रियप्रवास का नायक एक महान व्यक्ति है और वह मानवीय गुणों से परिपूर्ण भी है तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य का एक आदर्श रूप होने के कारण मनमोहक, लोक-सेवक, कर्त्तव्य-परायण और परोपकारी भी है। स्मरण रहे कि इस महाकाव्य के प्रधानपात्र राधा और कृष्ण तो विशेष रूप से शौर्यगुण सम्पन्न ही हैं लेकिन नन्द एवं यशोदा में भी शौर्यगुण की प्रधानता है। यह अवश्य है कि कवि ने श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यों को लौकिक बनाने की चेष्टा की है जिसके फलस्वरूप देवता या नियति द्वारा इस महाकाव्य के पात्रों का प्रत्यक्ष रूप से संचालन नहीं हो पाता परन्तु इतना होने पर भी कवि ने कहीं-कहीं स्वयं ही नियति के प्रति आस्था प्रकट की है और देवी-देवताओं की उपासना के लिए भी संकेत किए हैं। अतः पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का यह लक्षण भी प्रियप्रवास में विद्यमान है। वस्तुतः प्रियप्रवास की सम्पूर्ण कथा उसके नायक श्रीकृष्ण के जीवन से ही सम्बद्ध है तथा उसमें उनको न केवल जन्म लेने, बड़े होने, घुटने टेकने, दौड़कर चलने, खेलने आदि शैशवावस्था की घटनाओं का अपितु कालियादमन, दावानलपान, गोवर्द्धन-धारण, अघासुर-व्योमासुरवध आदि अन्तर्कथाओं का चित्रण करते हुए कवि ने रासलीला और भ्रमरगीत सम्बन्धी प्रकरणों का भी संशोधित रूप अंकित कर कृष्ण के बचपन से लेकर युवावस्था तक की सम्बन्धित घटनाओं को इसमें समाविष्ट किया है। साथ ही यह भी निर्विवाद रूप से सत्य है कि प्रियप्रवास की शैली में शालीनता और भव्यता भी है तथा जैसा कि अधिकांश आधुनिक विचारकों का कहना है कि महाकाव्य में महानुष्ठान की योजना अत्यन्त आवश्यक है और जातीय संस्कृति के महाप्रवाह का उद्घाटन करनेवाला या महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष को अभिव्यक्त करनेवाला काव्यग्रन्थ महा-काव्य कहा जा सकता है

अतः इस कसौटी में कसने पर भी प्रियप्रवास खरा उतरता है। यह तो हम कह ही चुके हैं कि हरिऔधजी ने उसमें लोकसंग्रह की भावना का महत्त्व विशेष रूप से प्रतिपादित करते हुए विषाद और विरह की पृष्ठभूमि पर उदात्त और मंगलमयी वृत्तियों का चारुचित्र अंकित किया है। इस प्रकार पौरस्त्य और पाश्चात्य विचारकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के आधार पर जब हम प्रियप्रवास को देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह एक सफल महाकाव्य है परन्तु चूँकि कतिपय समीक्षकों ने उसके महाकाव्यत्व पर कुछ आक्षेप किए हैं अतः उन पर भी यहाँ विचार करना अत्यंत आवश्यक है। इस दिशा में हमें यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि अधिकांश विचारकों ने इस महाकाव्य की कथावस्तु को लेकर ही उसके महाकाव्य होने पर संदेह प्रकट किया है तथा आचार्य शुक्ल का तो स्पष्ट रूप से यही मत है कि "इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अतः प्रबंध-काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ से आ सकते हैं।" परन्तु शुक्ल जी के इस मत से प्रत्येक विचारक का सहमत होना कठिन ही है। हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक महाकाव्य की कथावस्तु इतनी विशद होनी चाहिए कि उसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण हो सके लेकिन प्रियप्रवास के कथानक पर विचार करते समय हम यह भूल जाते हैं कि उसका कथानक इतना संक्षिप्त नहीं है जितना कि शुक्लजी समझते हैं। वस्तुतः कृष्ण का ब्रज से मथुरा-प्रवास और उनके वियोग में गोप-गोपियों का विरह निवेदन मात्र ही केवल इस ग्रंथ में अंकित नहीं हुआ है बल्कि कवि ने इस छोटी-सी कहानी को लेकर ही कृष्ण का पूरा प्रारंभिक जीवन-वृत्तान्त अंकित किया है तथा उसके माध्यम से समाज के विविध अंगों की समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रजवासियों में कृष्ण सम्बन्धी चर्चाएँ होती हैं और उद्धव के आगमन पर उनसे भी कृष्ण की विविध लीलाएँ तथा उनके द्वारा ब्रज की जनता के निमित्त किये गये कार्यों का भी वर्णन किया गया है अतः इस प्रकार प्रियप्रवास की कथावस्तु केवल कृष्ण के प्रवास प्रसंग तक ही सीमित नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह महाकाव्य घटना-प्रधान न होकर विचार-प्रधान है अतः इस दृष्टि से भी उसकी कथावस्तु उपयुक्त और सार्थक जान पड़ती है। स्मरण रहे कि श्री विश्वम्भर 'मानव' ने भी प्रियप्रवास की

प्रबन्धात्मकता पर यह आक्षेप किया है कि उसके सातवें सर्ग से ही प्रबंध खंडित हो जाता है और यह स्वीकार कर लेने पर भी कि इस ग्रंथ में कृष्ण चरित्र सम्बन्धी अधिकांश घटनाएँ हैं मानवजी उसे महाकाव्य नहीं मानते क्योंकि उनका है कि "उपाध्यायजी का यदि यह विचार रहा हो कि जब वर्णन करना है तब आगे लिख दिया तो क्या और पीछे लिख दिया तो क्या, प्रत्येक दशा में महाकाव्य बन जाता है, सो नहीं। पिछले दस सर्गों के वर्णन जिनमें कृष्ण की युवाकाल तक की प्रमुख घटनाएँ सम्मिलित हैं 'वियोग' के अंतर्गत आती हैं और उसके अधीन होने से स्वतंत्र कथानक और प्रबंध की शक्ति उनसे छिन जाती है।" आचार्य शुक्लजी और श्री विश्वम्भर 'मानव' के विचारों का समर्थन करते हुए श्रीमती शचीरानी गुर्टू भी यही कहती हैं कि "काव्य की कथावस्तु इतनी अल्प है जो प्रबंध काव्य के उपयुक्त नहीं। सातवें सर्ग से ही कथा का सूत्र विच्छिन्न हो जाता है, यों राधा, गोप-गोपी और नंद-यशोदा का विलाप वर्णन सत्रह सर्ग तक चलता है।" परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो कथावस्तु की संक्षिप्तता पर जो आक्षेप किया जाता है उसका निराकरण तो उपरिनिर्दिष्ट विचारों द्वारा ही हो जाता है लेकिन साथ ही कथा की विच्छिन्नता सम्बन्धी आरोप भी उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि यह तो कवि विशेष की वर्णन शैली का प्रश्न है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस पद्धति को अपनाने से प्रियप्रवास में शैली की भव्यता और उसका चरमोत्कर्ष ही दीख पड़ता है तथा जैसा कि श्री शिवदानसिंह चौहान का मत है "यदि और भी सूक्ष्मता से देखा जाय तो प्रबन्ध रचना और यथार्थ चित्रण की पद्धति का मनोरम रूप प्रियप्रवास में व्यक्त हुआ है—सीधे-सीधे एक छोर से दूसरे छोर तक ब्योरेवार कहानी का वर्णन करने की अपेक्षा केन्द्रीय प्रसंग को आगे-पीछे हटाकर स्मृति और कांक्षा के योग से जो कहानी कही जाती है, वह अधिक मनोवैज्ञानिक भी होती है और जीवन के विविध अन्तर्सम्बन्धों और अंतर्सूत्रों को भी उद्‌घाटित करने में अधिक समर्थ होती है। इसलिए वस्तुयोजना का इस महाकाव्य में काफी संश्लिष्ट और विशद वर्णन मिलता है।"

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने महाकाव्य और खण्डकाव्य के साथ-साथ एकार्थ काव्य नामक एक

अन्य तीसरा भेद भी प्रबन्ध-काव्य का म
में जीवनवृत्त पूर्ण होते हुए भी जीवन का
साथ अंकित किया जाता है उन्हें वे ए
प्रकार उनका यही मत है कि चूँकि प्रियप्र
कम हैं तथा वह एकार्थ की ही अभिव्यक्ति
काव्य ही मानना चाहिए लेकिन यदि वि
प्रियप्रवास में एकार्थ की ही अभिव्यक्ति
अप्रत्याशित मोड़ों के लिए ही काल्पनिक कथ
है जब कि कृष्ण कथा तो इतनी अधिक प्रचलि
सम्भावना ही नहीं है। यहाँ यह भी स्मरण
गुलाबरायजी का यह कथन कि प्रियप्रवास में
बहुत से लक्षणों का निर्वाह हो जाता है तथापि
विरह-निवेदन होने के कारण उसे महाकाव्य की
साथ ही रक्खा जायगा" तथा डॉ० रामचरण 'महे
"प्रियप्रवास एक असफल प्रयोगवादी रूढ़िवादी महाक
है" युक्तिसंगत नहीं है। यह तो हम पहले ही कह
प्रवासकार का मूल ध्येय विरह निवेदन ही नहीं है त
का अध्ययन करने पर तो भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है
संग्रह की भावना का ही बलवती रूप है। यदि कवि क
विरह वर्णनमात्र ही रहता तो फिर वह राधा को एक
तथा लोकसेविका के रूप में न अंकित करता और साथ
जो उद्गार व्यक्त किए हैं उनमें भी केवल विरह-भावना
नहीं है अतः श्री गुलाबरायजी का कथन किसी भी भाँति
नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार महेन्द्रजी का आक्षेप
अनुपयुक्त ही जान पड़ता है क्योंकि स्वयं उन्होंने भी अपन
महाकाव्य और महाकाव्यकार' नामक पुस्तक में कहीं भी
लिखा कि आखिर हिन्दी में ऐसे कितने महाकाव्य हैं जिनमें कि
कथानक दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः स्वतन्त्र कथानक और
प्रसंगों की उद्भावना ये दोनों ही सर्वथा विभिन्न वस्तुएं हैं तथा
महाकवि से यही अपेक्षा की जाती है कि वह नए नए
करे और कथानक चाहे

की कथावस्तु का अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हरिऔध-जी ने कई नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उसमें प्रबन्धशक्ति की हीनता भी नहीं है। साथ ही 'असफल प्रयोगवादी रूढ़िवादी' विशेषण भी उसके प्रति उपयुक्त नहीं है क्योंकि अधुनातन दृष्टिकोण से विचार करने पर भी वह एक सफल महाकाव्य ही कहा जाता है।

कतिपय समीक्षकों ने तो हरिऔध जी के इस कथन का आधार लेकर कि "मुझमें महाकाव्यकार बनने की कोई योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नहीं जो महाकाव्य के लिये उपयुक्त उपस्कर संग्रह करने में कृतकार्य्य हो सके। अतएव मैं किस मुख से यह कह सकता हूँ कि प्रियप्रवास के बन जाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हो गई" यह सिद्ध करना चाहा है कि स्वयं कवि ने जब अपनी कृति को महाकाव्य नहीं माना है तब उसे महाकाव्य कहना उपयुक्त नहीं है। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस कथन से हरिऔधजी की नम्रता ही प्रकट होती है और वास्तविकता तो यह है कि इस प्रकार के विनम्र उद्गार अनेक सत्कवियों ने व्यक्त किए हैं। क्या तुलसी ने भी जो स्वयं के प्रति 'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना' कहकर अपने आप को न तो कवि ही माना है और न काव्यज्ञान में चतुर अतः उन्हें भी कवि न माना जाय ? वस्तुतः तुलसी की ही भाँति हरिऔध ने भी नम्रता प्रदर्शित की है और इस प्रकार अंततोगत्वा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रियप्रवास निर्विवाद रूप से महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान पाने का पूर्ण अधिकारी है तथा जैसा कि श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने लिखा है "खड़ी बोली की कविता को सौन्दर्य एवं माधुर्य का पुट देकर हरिऔध जी ने उसे अपने पैरों पर खड़ा होना ही नहीं सिखाया, वरंच उसे कोटि-कोटि हृदयों के सिंहासन पर आसीन कराकर श्रद्धा एवं सादर के पुष्प चढ़वाए हैं। श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध तथा सूरसागर के समस्त गीतों का एक साथ ही आनंद लेने की जिसे लालसा हो वह 'प्रियप्रवास' के परम मधुर रस में डूबे। खड़ी बोली का एक मात्र महा-काव्य 'प्रियप्रवास' जिस प्रकार अपनी सुकुमारता, कोमलता एवं माधुर्य में अनन्य है उसी प्रकार हरिऔधजी भी काव्य-साम्राज्य के एक मात्र चक्रवर्ती नरेश हैं।"

कामायनी में पात्र और

यद्यपि पाश्चात्य समीक्षकों ने चरित्र-
स्वतन्त्र तत्त्व मानते हुए उसे विशेष
लेकिन प्राचीन भारतीय आचार्यों ने रस को
और उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' मानकर स्थापित
परम लक्ष्य माना है अतः उनकी दृष्टि में रस
अन्य उपकरण जिनमें से चरित्र-चित्रण भी एक
प्राप्ति में सहायक होने के कारण साधन ही हैं।
प्रसादजी की दृष्टि में काव्य का साध्य चरित्र-चि
संसार ही है तथा उन्होंने कहा भी है "आत्मा की
और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि
तीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचि
साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले
उनको बीच का माध्यम-सा ही मानता आया।"[1] पर
र्थ नहीं है कि भारतीय साहित्य में चरित्र-चित्रण की
गई है क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो क्या
न्यास, क्या कहानी, क्या प्रबन्ध-काव्य, सभी में पात्रों
शिष्टताओं का उभर आना स्वाभाविक ही प्रतीत होता
न हो तो फिर उनमें जीवन की वह व्यापकता नहीं आ
साहित्य का एक प्रमुख अंग है। अतः रस को प्रधानता
चित्रण को एक प्रमुख अंग माना जाता है तथा डॉ०
के शब्दों में "काव्य में पात्र ही जीवन्त—प्राणवान्—
...और दृश्य वो जड़ हैं, उनके वर्णन मात्र से काव्य में प्राण
संभव नहीं।"[2] इसलिए रस को काव्य का मूल तत्त्व मानते हुए
प्रसाद ने अपनी कृतियों में चरित्र-चित्रण सम्बन्धी जिस नि
प्रतिभा का परिचय दिया है वह निस्संदेह श्लाघ्य है और

---

१. काव्य और कला तथा अन्य नि
२. साहित्य

है कि उनकी यह निपुणता उनके सुपरिचित महाकाव्य कामायनी में भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि इतिहास की पृष्ठभूमि पर आधारित इस महाकाव्य में रूपक कल्पना के योग से कवि ने अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों की स्थापना भी की है अतः इस महाकाव्य के पात्र ऐतिहासिक होते हुए भी प्रतिनिधि चरित्र के रूप में अंकित किए गये हैं तथा उन्हीं के माध्यम से मनस्तत्व का सूक्ष्म विवेचन कर वैयक्तिक चरित्र की विशिष्टताओं का उद्घाटन करते हुए वर्गगत सामान्य मानव मनोवृत्तियों को भी चित्रित किया गया है। इस प्रकार कामायनी के पात्रों से प्रतीक का भी काम लेने से वे मनोवृत्तियों के मानवीकृत रूप भी जान पड़ते हैं और दार्शनिक एवम् मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ सार्वजनिकता का आभास कराती हैं तथा कवि भी उनकी मानसिक स्थितियों के विश्लेषण द्वारा समग्र जीवन की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण सफल जान पड़ता है। न केवल मूर्त पात्रों अपितु लज्जा और काम आदि अमूर्त पात्रों का चित्रण भी उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिकता एवम् स्वाभाविकता से कर अपने पात्रों में सजीवता और प्रभावशालिता ला दी है उसे देखकर हमें कवि की अद्वितीय मनोवैज्ञानिक क्षमता की प्रशंसा करनी ही पड़ती है परन्तु इतना होते हुए भी कवि के पात्र अपने युग से पृथक् नहीं प्रतीत होते और इसीलिए कवि ने उनका चरित्र-चित्रण इस दृष्टिकोण को सामने रखकर किया है कि उनमें वर्तमान और भविष्य के लिए प्रेरणाएँ होते हुए भी वे अपने युग के प्रतिनिधि ही प्रतीत हों तथा उससे भिन्न उनका कोई अस्तित्व ही न जान पड़े। इसी प्रकार कामायनीकार ने अपनी कृति के किसी भी पौराणिक अप्रसिद्ध पात्र का इतना विशद वर्णन नहीं किया जिससे कि अन्य प्रसिद्ध पात्रों का व्यक्तित्व ढँक जाय और साथ ही उनके चरित्र-चित्रण में ऐतिहासिकता लाने के हेतु तदनुरूप वातावरण भी कुशलता के साथ अंकित किया गया है।

स्मरण रहे कि प्रसादजी की दृष्टि में कोरा आदर्शवादी धर्मशास्त्र प्रणेता है और निरा यथार्थवादी इतिहासकर्ता अतः वे न तो अपने पात्रों को पूर्ण रूप से आदर्शवादी बनाने के पक्ष में हैं और न उनको निरा यथार्थवादी बनाकर मानवता की उच्चभूमि से स्खलित कर देने के

का मेरुदण्ड या प्रधानपात्र कहें तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धा इस महाकाव्य में प्रमुख पात्र है और इस ग्रंथ की समस्त घटनाएँ एवं अन्य कार्यकलाप उसी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर परिचालित होते हैं अतएव जैसा कि डॉ० प्रतिपालसिंह का कथन है—"श्रद्धा महाकाव्य की प्राण एवं स्फूर्तिदायिनी शक्ति है जो चिन्ताग्रस्त मनु को मंगलमय एवं कल्याणकारी पथ का पथिक बनाती है।"[1] वस्तुतः प्रसाद साहित्य में सर्वत्र ही भारतीय नारी के सम्बन्ध में विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना की गई है और इसीलिए जितना अधिक सफल नारी-चित्रांकन प्रसादजी की कृतियों में देख पड़ता है उतना अन्य किसी लेखक या कवि की रचनाओं में नहीं। साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कामायनी के नारी पात्रों में प्रसाद की नारी-सृष्टि सम्पूर्णता को प्राप्त होती है और श्रद्धा तो उनकी सर्वोत्तम नारी कल्पना ही है क्योंकि उसके चित्रण में कवि ने अपने मानस के समस्त स्नेह, आर्जव, ममत्व का उपयोग किया है और श्रद्धा के ही माध्यम से अपने मन में जो नारी के प्रति सहज श्रद्धा एवं सम्मान है उसकी अभिव्यक्ति की है।[2] इस प्रकार स्वाभाविक ही उसका चरित्र-चित्रण प्रसाद की अन्य कृतियों में

---

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य—डा० प्रतिपालसिंह (पृ० १६०)

२. "कामायनी में श्रद्धा प्रमुख पात्र है। महाकाव्य की प्रमुख घटनाएँ तथा अन्य कार्य-कलाप श्रद्धा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर परिचालित होते हैं। फल-निष्पत्ति की दृष्टि से भी यदि कामायनी के उद्देश्य पर विचार किया जाय तो सामरस्य के मार्ग से शाश्वत आनन्दोपलब्धि भी श्रद्धा के पथ-निर्देश और प्रयत्न से ही साध्य है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में प्रसादजी की एक विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना थी। अपने हृदय में समस्त स्नेह, आर्जव, ममत्व, कारुण्य, विश्वास, लावण्य आदि को एकत्र करके कवि ने श्रद्धा के चित्रण में उसका प्रयोग किया है। यही कारण है कि श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ है। नारी के प्रति कवि के मन में जो सहज श्रद्धा और आदर भाव है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम इस काव्य में श्रद्धा ही है। श्रद्धा का रूप-चित्रण, स्वभाव-वर्णन, भावांकन कवि ने ऐसे उच्च धरातल पर किया है कि वह लौकिक होते हुए भी दिव्य नारी का आभास देने की पूर्ण क्षमता रखता है। श्रद्धा एक ऐसी नारी है जो बाह्य संसार के असत् और क्षणिक कार्यकलाप में लीन न होकर अन्तर्जगत् की सात्विक भावनाओं को अधिक महत्त्व देती है। छल, प्रतारणा और मिथ्याचरण से दूर रहकर विश्वास, प्रेम और सत् के प्रति वह अधिक सजग है, जीवन की अन्तःस्थिति के प्रति विशेष आस्थावान्

अंकित नारियों की अपेक्षा अधिक संभ्रान्त है और जैसा कि डॉ० प्रेमशंकर ने लिखा है "तितली का साहस, देवसेना का त्याग, अलका की शक्ति, मालविका का प्रेम, मल्लिका का सौन्दर्य एक साथ श्रद्धा में परिभूत हो उठे हैं।"[1] साथ ही श्री गंगाप्रसाद पांडेय के कथनानुसार "श्रद्धा में हम मानवीय चेतना की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति तथा हृदय का अनुराग-आकर्षण एवं वात्सल्य का व्यापक दर्शन पाते हैं। श्रद्धा का निर्माण अनन्त स्नेह, निश्छल सहृदयता और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है, ममता उसकी माया और क्षमा उसकी शक्ति है। वह विनय और कोमलता की स्मित मुस्कान है और जीवन की वह मंदाकिनी जो प्यास और मलिनता दोनों का शमन करती है। उसमें हमें दर्शन और सौन्दर्य का सरल समन्वय मिलता है। वह नारीत्व की शाश्वत प्रवृत्तियों की प्रतीक है, क्योंकि उसकी भावना पुरुष की सफलता की सहायक है।"[2]

वस्तुतः श्रद्धा नाम से यही भास होता है कि वह मानव की समस्त उदार वृत्तियों की साकार प्रतिमा और नारीत्व की शाश्वत प्रवृत्तियों की प्रतीक है तथा उसमें नारी-सुलभ सभी गुण, अनुराग, उदारता, धैर्य, क्षमा, वात्सल्य आदि विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, न केवल उसका आभ्यन्तरिक रूप ही आकर्षक है अपितु उसका बाह्य रूप भी मनमोहक है और जैसा कि श्री रामलाल सिंह ने लिखा है "सेवा उसकी साधना है; कर्म उसका साधन, त्याग उसका संकल्प है, विश्व-मंगल उसका व्रत। क्षमा उसका निलय है, सहिष्णुता उसका सम्बल। समरसता उसका सिद्धान्त है; परमार्थ उसका सन्तोष। अनुराग उसकी निधि है; करुणा उसका आभूषण। प्रकृति की गोद में उसका वास है; पर जीवन सुसंस्कृत। जीवन उसका सरल है पर सिद्धान्त बहुत ऊँचा। हृदय उसका कोमल है, पर शरीर स्फूर्ति, दीप्ति तथा भक्ति से पूर्ण।"[3] इस प्रकार मानसिक निर्मलता के साथ-साथ उसमें शारीरिक सौन्दर्य की भी कुछ कमी नहीं है; देखिए—

है। एक आदर्श नारी की जो मोहक कल्पना प्रसाद के अन्तर्मन में व्याप्त थी, मानो श्रद्धा के चित्रण में वही मूर्तिमती हुई हो।"

—समीक्षात्मक निबन्ध : डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (पृ० ८५-८६)

१. प्रसाद का काव्य—डा० प्रेमशंकर (पृ० ४०२)
२. कामायनी : एक परिचय—श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय (पृ० ८७-८८)
३. कामायनी अनुशीलन—श्री रामलाल सिंह (पृ० ७६)

और देखा वह सुन्दर दृश्य नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम-वैभव में लता समान चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।
हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लंबी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
मसृण गांधार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म;
ढँक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।
या कि, नव इंद्र नील लघु श्रृंग फोड़कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रांत।
घिर रहे थे घुंघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण-अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन छवि से हो दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहली लेखा कांत माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक-द्युति की गोद।
कुसुम कानन-अंचल में मंद पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।

वस्तुतः श्रद्धा की इस अलौकिक सुन्दरता पर तनिक भी आश्चर्य न होना चाहिए क्योंकि वह काम की पुत्री है और कामायनी नाम से अभिहित भी है। स्मरण रहे कि मनु को जो उसने प्रथम भेंट में ही अपना परिचय दिया था उसमें भी उसकी सांस्कृतिक अभिरुचि और कला-प्रियता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है[1] तथा वह नैराश्य, कुण्ठा एवं

---

१. देखिए—

भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश
पिता की हूँ प्यारी सन्तान।

चिन्ता से विजड़ित मनु की निर्भ्रान्त, निश्चेष्ट असहाय अवस्था लखकर जीवन और जगत् का रहस्य स्पष्ट करती है। देखिए—

> हृदय में क्या है नहीं अधीर, लालसा जीवन की निश्शेष !
> कर रहा वंचित कहीं न त्याग, तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश !
> दुःख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान,
> काम से झिझक रहे हो आज भविष्यत् से बन कर अनजान।
> कर रही लीलामय आनन्द महा चिति सजग हुई-सी व्यक्त,
> विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।
> काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग इच्छा का है परिणाम;
> तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।
> दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात;
> एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गात।
> जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल,
> ईश का वह रहस्य वरदान कभी मत इसको जाओ भूल।
> विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान;
> यही दुख सुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान।
> नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान;
> व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।

वस्तुतः उसमें अपूर्व साहस और शक्ति-सम्पन्नता है तथा यह मनु को असहाय देखकर द्रवित हो न केवल करुणा, समर्पण, ममता, विश्वास एवम् अनुराग आदि अपनी हृदय-निधियाँ न्योछावर कर देती है[1] बल्कि साथ ही अधीर मनु को धीरज बँधाती हुई उन्हें कर्म-पथ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी देती है; देखिए—

> कहा आगंतुक ने सस्नेह—अरे तुम इतने हुए अधीर !
> हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।

---

[1] ...ए—
...र्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार
...से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।
...माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो, अगाध विश्वास।
...हृदय रत्न निधि स्वच्छ तुम्हारे लिए खुला है पास।
...सृष्टि के मूल रहस्य तुम्ही से फैली वह बेल;
...सौरभ से भर जाय सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

तप नहीं केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आल्हाद।
प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्त्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि डाल पद-चिह्न चली गंभीर;
देव, गन्धर्व, असुर की पंक्ति अनुसरण करते उसे अधीर।

और भी—

और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान—
शक्तिशाली हो विजयी बनो विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

स्मरण रहे कि उसके इस आत्म-समर्पण में वासना की झलक नहीं है बल्कि व्यक्तिगत प्रेम के स्थान पर एक लोकमंगल, सार्वभौमिक कल्याण की भावना ही है[1] और इस प्रकार सृष्टि के विकास की भावना से प्रेरित होकर ही उसने मनु को वरण कर उसकी समस्त जड़ता एवम् निराशा को दूर कर देना चाहा था तथा यह जानते हुए भी कि नारी अपने समर्पण के पश्चात् एक ऐसे चिरबन्धन में आबद्ध हो जाती है जिससे त्राण पाना उसके लिए सहज नहीं होता, उन्मुक्त भाव से वह अपने आपको मनु के चरणों में समर्पित कर देती है।[2]

१. देखिए—

चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।
विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज और ज्वाला-मुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारियों सदृश सदर्प कुचलती रहे खड़ी सानंद
आज से मानवता की कीर्ति अनिल, भू, जल, में रहे न बंद

२. देखिए—

किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का हे देव!
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान।
वह जिसे उपभोग [illegible]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह मृदुलता की प्रतिमूर्ति है तथा
आकुलि जैसे असुर भी उसे ममतामयी ही कहते हैं और साथ ही
इस प्रेम की प्रतिमा श्रद्धा का प्रेम एकांगी नहीं है अर्थात् वह केवल
मनु से ही नहीं वरन् समस्त प्राणिमात्र से प्रेम करती है इसलिए वह
मनु की हिंसात्मक प्रवृत्तियों की निन्दा करते हुए 'दूसरों के सुख में
ही अपना सुख देखो' नामक उक्ति को व्यक्त कर उन्हें (हिंसात्मक
प्रवृत्तियों को) रोकने का प्रयत्न भी करती है। परन्तु ज्यों-ज्यों मनु के
हृदय में शनैः शनैः कामनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं त्यों-त्यों पुरुष की
स्वभावजन्य दुर्बलता वासना में परिणत होती जाती है और आसुरी
प्रवृत्तियों से प्रभावित होने के कारण वे श्रद्धा की प्रणय-भावना को
समझ ही नहीं पाते अतः उनका हृदय श्रद्धा के पशु-प्रेम तथा मातृत्व
की कामना के कारण ईर्ष्या और अहंकार से पूर्ण हो जाता है। इसमें
कोई सन्देह नहीं कि मातृत्व ही नारी का चरम विकास है लेकिन मातृ-
हृदय की इस ममता का मूल्य मनु नहीं आँक पाते अतएव वात्सल्य
की इस पुनीत सरिता में वे अपने कलुष हृदय को प्लावित नहीं कर
के। अतः उनका ईर्ष्यालु मन श्रद्धा की इस भावना तथा कामना से
ल उठता है तथा गर्भवती श्रद्धा को एकाकी तज कर वे रात्रि में

देखिए—

कल ही यदि परिवर्तन होगा तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन नूतन यज्ञ रचेगा!
और किसी की फिर बलि होगी किसी देव के नाते
कितना धोखा! उससे तो हम अपना ही सुख पाते।
ये प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या वे सब ही हैं फीके!
मनु! क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल नव मानवता!
जिसमें सब कुछ ले लेना ही हंत! बची क्या शवता!

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा!
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा!
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।
+ + +
सुख अपने सन्तोष के लिए संग्रह मूल नहीं है
उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखें अन्य, वही है॥

कहीं भाग जाते हैं परन्तु चूँकि वह एक सच्ची प्रणयिनी एवम् आदर्श पत्नी है इसलिए उसे मनु पर तनिक भी रोष नहीं होता तथा तिरस्कृत होने पर भी वह उनसे प्रेम करती है। वस्तुतः पत्नी पति की सहचरी और स्वामिनी दोनों ही है लेकिन मानव की प्रवृत्ति तो उसे केवल अनुचरी या प्रेयसी के रूप में ही देखने की रही है अतएव पुरुष के अत्याचार नारी को हमेशा ही सहन करने पड़ते हैं और इसीलिए श्रद्धा को भी प्रिय—मिलन एवम् मातृत्व के महोत्सव के पश्चात् वियोग का भार भी सहन करना पड़ा। स्मरण रहे कि श्रद्धा का विरह सात्विक एवं दार्शनिक ही है कारण कि वह विलासिनी न होकर अनुरागिनी ही है इसीलिए उसका विरह संयत और सात्विक है। वस्तुतः दाम्पत्य जीवन में नारी का पत्नीत्व या गृहिणीत्व उसके स्वभावज गुणों के विकास से परिपूर्णता को प्राप्त होता है और वह केवल प्रेमिका या पत्नी ही नहीं अपितु एक कुशल गृहलक्ष्मी भी है। श्रद्धा के चरित्र में भी हम यही विशेषता देखते हैं कि वह एक कुशल गृहिणी है तथा मिलन के क्षणों में न तो भोग-विलास की ही कामना करती है और न वियोग में रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति आठों याम आँसू ही बहाया करती है; इसीलिए उसमें विश्वकल्याण की भावना स्वाभाविक ही आ सकी है तथा मातृत्व के साथ उसमें एक ऐसी विलक्षण क्षमता आ जाती है कि वह अपने परिवार के सीमित दायरे से बाहर अखिल विश्व का कल्याण करने में प्रवृत्त होती है। जैसा कि अभी-अभी हम कह चुके हैं इस विश्व-कल्याण की कामना के फलस्वरूप ही उसने पशुबलि और मृगयापरायण मनु को भी फटकारा था। स्मरण रहे कि व्यावहारिक जगत् में तो उसका कुशलगृहिणी-रूप उसी समय से झलकने लगता है जब कि वह नवागत शिशु के लिए वेतसी लता का झूला डालकर एक सुन्दर कुटीर का निर्माण कर स्वयं तकली कातकर ऊनी पट्टियाँ बनाती हैं। इतना ही नहीं, श्रद्धा रूपी गृहलक्ष्मी के इस गृह-विधान पर तो स्वयं मनु भी आश्चर्य चकित रह जाते हैं और अब तो इस विरहावस्था में वह अपने इसी गृहलक्ष्मी-पद को पूर्णतः सार्थक सिद्ध करती है। चूँकि उसका प्रेम स्वाभाविक शुद्ध और निर्मल ही था तथा अपने जीवन-विकास के मध्य ही उसे यह प्रेम का प्रतिदान मिला था, अतः उसकी प्रेम-भावना कामुक दुर्बलता न होकर उसके जीवन की मानसिक शक्ति ही है इसीलिए वह कर्त्तव्य एवं मातृत्व से संयमित

भी है। इस प्रकार श्रद्धा अपनी विरह-विडम्बना का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अपने पुत्र के पालन-पोषण में ही रत रहती है और भावी मानवता का विकास करनेवाला मानव भी उसी की स्नेह-छाया में विकसित होता है।

वस्तुतः श्रद्धा त्याग की ही मूर्ति है। तथा उसके हृदय की विशालता एवं प्रेम की उच्चता तो 'कामायनी' में पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है और इसीलिए यद्यपि मनु उसे असहाय अवस्था में छोड़ कर सारस्वत प्रदेश पहुँच जाते हैं तथा दूसरी स्त्री को अपनाना चाहते हैं लेकिन ज्यों ही उसे अपने प्रियतम की विपत्तियों का स्वप्न में आभास होता है त्यों ही वह अपने पुत्र को लेकर उन्हें खोजती हुई उनके समीप पहुँच जाती है। इस प्रकार निश्छल प्रेम, निःस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज कारुण्य और अपरिसीम तितिक्षा की साकार प्रति श्रद्धा की अपूर्व क्षमा और सहिष्णुता का परिचय हमें यहाँ देखने पड़ता है। स्मरण रहे कि पद्मावत में नागमती पद्मावती को अपना सुहाग छीनने का कारण समझकर उससे ईर्ष्या करने लगती है लेकिन श्रद्धा ने तो इस पर तनिक भी रोष प्रकट नहीं किया और इसके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार ही कर हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को खोजनेवाली नारी समस्त क्षेत्रों और सभी रूपों में आदर्श ही बनी रही। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि संतप्त एवं घायल मनु को श्रद्धा ही अपनी स्नेहपूर्ण सेवा-शुश्रूषा से स्वस्थ करती है तथा वे भी अपने कृतघ्नतापूर्ण कार्यों को स्मरण कर मन ही मन लज्जित से हो जाते हैं और उनका मन कृतज्ञता से भर जाता है। वे यह स्वीकार करते हैं कि श्रद्धा ने ही उन्हें स्नेह करना सिखाया और अपनी मंगलमयी मधुर स्मिति से उनके जीवन में नव रस का संचार कर उस सूखे जीवन में हरियाली-सी ला दी[1] अतः शील-सौन्दर्य की इस दिव्य मूर्ति के सम्मुख मनु भी नत हो जाते हैं और श्रद्धा का आभार स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका लज्जित मन उसके सामने सिर उठाने का साहस

---

[1] हृदय बन रहा था सीपी-सा तुम स्वाती की बूँद बनी,
मानस-शतदल झूम उठा जब तुम उसमें मकरन्द बनी।
तुमने इस सूखे पतझड़ में भर दी हरियाली कितनी......
अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो तुम उसमें संतोष बनी।

उत्पन्न नहीं होने देता इसलिए वे पुनः उसे तजकर कहीं चले जाते हैं लेकिन विश्वास एवम् साहस की अनुपम प्रतिमा श्रद्धा विचलित नहीं होती और अपने पुत्र को इड़ा के हाथों सौंपकर पुनः मनु की खोज में निकल जाती है। इस प्रकार यहाँ भी हमें उसके अतुलनीय त्याग का परिचय मिलता है। चूँकि वह विश्वजननी ही है अतः अपने एक मात्र पुत्र मानव को राष्ट्र-कल्याण के लिए ही वह सारस्वत प्रदेश में छोड़ जाती है और यहाँ इड़ा के समीप मानव को रखने में भी मानवता की प्रगति का उद्देश्य ही निहित है। वस्तुतः बुद्धि और हृदय का सुन्दर समन्वय ही मनुष्य को सफलता की ओर अग्रसर करने में समर्थ हो सकता है और इसी विश्वकल्याण के हेतु अपने पुत्र को वह सारस्वत प्रदेश में छोड़ जाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाती। इधर श्रद्धा का महत्त्व अब मनु भी पूर्णतः समझ जाते हैं और इसलिए जब दूसरी बार उनकी भेंट उससे होती है तब वे स्वाभाविक ही क्षमा-याचना कर उसे निर्विकार, मातृमूर्ति और सर्वमंगले कहकर सम्बोधित करते हैं।[१] वस्तुतः उसकी महानता और व्यक्तित्व के सम्मुख वे धूमिल से पड़ जाते हैं तथा वही उन्हें अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाती है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके इस जीवन-परिचय से स्वाभाविक ही मानव-मात्र का मन उसके प्रति श्रद्धा से ओत-प्रोत हो जाता है अतएव जैसा कि श्री गंगाप्रसाद पांडेय का मत है "जीवन की कठोरता और मनु की निर्ममता के बीच में यह अपनी साधना तथा सहृदयता से जीवन की चरम सिद्धि और अलौकिक आनन्दानुभूति की ओर सतत प्रयत्नशील रहती है, यथा दो कठोर शिलामय पर्वतों के बीच में शीतल सरिता। वास्तव में श्रद्धा

कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ
कितना आभारी हूँ इतना संवेदनमय हृदय हुआ।

१. देखिए—

तुम देवि ! आह कितनी उदार
यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार;
हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में हो रहती;
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी-सा ही ! वह लघु विचार।

नारीत्व का पूर्ण विकास है, उसके जीवन में सौन्दर्य, स्नेह तथा साधना का जो समन्वय है वह स्तुत्य है क्योंकि सौन्दर्य की बोधगम्यता, स्नेह की सहजता और साधना की साहसिकता का श्रद्धा में इतना समुचित सामंजस्य है कि मंगल-कामना तथा शांति की भावना उसकी सहज सहचरी बन जाती है।"[१]

स्मरण रहे कि कतिपय समीक्षकों ने भ्रान्तिवश श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में त्रुटियाँ भी देखी हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "श्रद्धा जब कुमार को लेकर प्रजा-विद्रोह के उपरान्त सारस्वत नगर में पहुँचती है तब इड़ा से कहती है कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।' क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता था कि 'रस पगी रही पाई न बुद्धि ?' जब दोनों अलग-अलग सत्ताएँ करके रखी गई हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है। पर श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी की भावना कवि की ऐकांतिक मधुर भावना के अनुकूल न थी।"[२] परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शुक्लजी जिसे भूल कहते उसका ज्ञान प्रसादजी को भी था और यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि कामायनीकार ने बुद्धि को हीन कहा है क्योंकि यह जीवन में समरसता लाने के हेतु बुद्धि एवम् हृदय दोनों के योग पर जोर देता है। श्रद्धा ने तो इसीलिए अपने पुत्र को सारस्वत प्रदेश में इड़ा के छोड़ दिया था। इतना ही नहीं स्वयं श्रद्धा भी प्रज्ञावान ही थी डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "श्रद्धा का अर्थ है आस्तिक बुद्धि ना); आस्तिक बुद्धि इति श्रद्धा। आस्तिकता का अर्थ है व में सहज आस्था। इस प्रकार आस्तिक भावना जीवन की मूलगत भावना है; इसी के द्वारा जीवन का संचालन होता है। ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है। इसमें संदेह नहीं कि ी श्रद्धा में राग—तत्त्व की अत्यन्त प्रधानता है, परन्तु यह है। अस्तित्व में सहज आस्था स्वभावतः ही राग-प्रधान दिए, जीवन के प्रति सहज आस्था निस्सन्देह ही रागमयी ए। फिर भी तत्त्व रूप में श्रद्धा कोरी भावुकता नहीं है— बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमें अन्विति की दोनों

: एक परिचय—श्री [illegible] पाण्डेय (पृ० १०६-१०७)
का इतिहास—रा० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ६११)

अभिव्यक्तियाँ इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्थिति है। प्रसादजी ने श्रद्धा को कोरी भावुकता के प्रतीक रूप में चित्रित नहीं किया—वह वास्तव में जीवन की प्रेरणा की प्रतीक है।"[१] इस प्रकार शुक्लजी ने जो शंका की है वह उचित नहीं है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रद्धा का चरित्र अत्यन्त व्यापक है तथा उसमें नारी-जीवन की सर्वांगपूर्ण झाँकी देख पड़ती है और वह हृदय से महान होने के साथ-साथ शारीरिक सौन्दर्य में भी उतनी ही अनुपम है। समरसता और आनन्द का ही उदात्त स्वरूप होने के कारण वह जीवन में सर्वदा ही समन्वय एवं संतुलित दृष्टि को लेकर अग्रसर होती है तथा मानवता की प्रगति और लोक-कल्याण के हेतु विश्व-प्रेम को अपना लक्ष्य बनाकर हृदय की समस्त सुखद अनुभूतियाँ और जीवन के स्वर्णिम क्षणों को मानवता की वेदी पर अर्पित कर मनु को उस आनन्द-पथका पथिक बनाती है, जिसका कि अनुसरण कर मानव-जाति प्रगति कर सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका सम्पूर्ण जीवन प्रेम, त्याग एवम् कर्त्तव्य का ही अनुपम आख्यान है तथा भारतीय नारी जाति की प्रतीक श्रद्धा वास्तविक अर्थों में जीवन को सामान्य धरातल से उठाकर उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा देती है और यदि उसके आदर्शों का अनुसरण किया जाय तो आज भी मानव सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार डॉ० प्रेमशंकर ने उचित ही लिखा है कि "हिन्दी की साहित्यिक परम्परा में कामायनी का यह उदात्त महान चित्रांकन एक नवीन प्रयोग है। नायक की सहचरी बनकर आनेवाली नायिका से श्रद्धा का स्वरूप भिन्न है। वह नायक के उदात्त स्वरूप को स्वयम् पा गई है। प्रसाद ने श्रद्धा की चरित्र-सृष्टि में भारतीय मातृत्व-कल्पना तथा बौद्ध-दर्शन की करुणामयी नारी से भी प्रेरणा ग्रहण की है। उसे अत्यधिक सम्मान और आदर कवि ने दिया और काव्य का नामकरण भी उसी के नाम पर कर दिया।"[२]

मनु

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कामायनी महाकाव्य के सम्पूर्ण

१. विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र।

२. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृ० ४०८)

क का केन्द्रबिन्दु मनु ही है क्योंकि उन्हीं के माध्यम से
मानवीय प्रतिभा का विश्लेषण किया है और काव्य का आरम्भ
त भी उन्हीं के द्वारा होता है अतः श्री गंगाप्रसाद पांडेय के शब्दों
मायिनी में मनु की चरित्रकथा का पूर्ण विकास है, जो सब
उनकी मानसिक स्थितियों के विश्रामस्थल से लगते हैं।"[1]
स्वीकार करते हैं कि कामायनी का नायक मनु परम्परानुकूल
। नायक का सम्पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं करता लेकिन
दृष्टि से विचार करने पर तो वह महाकाव्य का नायक बनने
अवश्य है तथा धीरललित नायक के तो सभी गुण उनमें
हैं। इतना ही नहीं, कथावस्तु में कवि ने उनके ऐतिहासिक
णेक स्वरूप का भी ध्यान रखा है।

यह भी स्मरण रहना चाहिए कि डॉ० फतहसिंह ने तो मनु-
तीन रूप माने हैं और उनकी दृष्टि में वे सभी पौराणिक एवं
गत हैं तथा कामायनी में भी उनका यह रूप अक्षुण्ण रहा
ही श्री इलाचन्द्र जोशी का विचार है कि "कामायनी का
पे वैदिक और पौराणिक कथाओं से लिया गया है तथापि
विशिष्ट देश और काल से सम्बद्ध और सीमित नहीं है।
देवोत्तर सृष्टि के प्रथम उन्नायक मनु को विश्व महाकाव्य
रूप में सामने रखा है। मनु के भीतर हम वह विद्रोह, वह
वह ज्वाला पाते हैं जो तथाकथित भारतीय संस्कृति की
ंधी हुई रचना में नहीं पाई जाती। प्राचीन ग्रीक नाटक-
स के 'प्रामेथियस बाउण्ड,' शेली के 'प्रामेथियस अन-
न के 'पैरेडाइज लास्ट' और गेटे के 'फाउस्ट' के नायकों

---

[1] क परिचय—श्री गंगाप्रसाद पांडेय (पृ० ११९)

ति रूप है, जो कामायनी में भी 'मनु श्रद्धा कथा' में मिलता है……
र्मकांडी ऋषि रूप है जो यहाँ जल-प्लावन से 'श्रद्धा त्याग' तक माना
और जिसके भी दो पहलू हैं—पहला तपस्वी मनु का जो 'किलात-
के पूर्व मिलता है, दूसरा 'हिंसक यजमान' मनु का जो असुर पुरोहितों
प्रभाव पाया जाता है। परन्तु प्रजापति तथा ऋषि के अतिरिक्त काम-
एक तीसरा रूप और भी है, जो 'मनु श्रद्धा पुन' के अन्त होने पर
खोजते हुए मनु में देखा जा सकता है। यह प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु

—कामायनी सौन्दर्य : डॉ० फतहसिंह (पृ० १००)

के भीतर उठनेवाली तूफानी भावतरंगों की-सी हलचल किसी भी दूसरे भारतीय काव्य के नायक में देखने को नहीं मिलती। अन्तर केवल यह है कि जिन पाश्चात्य रचनाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके नायक अंत तक अपने भीतर उठनेवाले तूफानी झोंकों के बहाव में बहे चले जाते हैं, पर 'कामायनी' का मनु विद्रोहात्मक विस्फोटों और अपने अत्यधिक प्रवृद्ध अहम् की विकृतियों के प्रदर्शनों के बाद जीवन के यथार्थ पहलुओं पर भी विचार करने का अवसर पाता है और धीरे-धीरे अपने अहम् को जीवन की सम-धारा में विलीन करने की ओर उन्मुख होता है। गेटे के 'फाउस्ट' को भी हम अन्त में जीवन की इस सामंजस्यात्मक परिणति की ओर किसी हद तक अग्रसर होते पाते हैं, पर 'फाउस्ट' की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पूर्णतः विलीन नहीं हो पाती जब कि मनु अपने अहम् को सामूहिकता में विलीन करके एक ओर बुद्धि और दूसरी ओर श्रद्धा के समन्वयमूलक विकास को ही मानवीय कल्याण के एक मात्र उपयुक्त पथ के रूप में आविष्कृत कर लेते हैं।"[1] इस प्रकार हम कामायनी में अंकित मनु-चरित्र को महाकाव्य के अनुरूप चरित्र ही मानते हैं।

कामायनीकार ने मनु की शरीर-सम्पत्ति का विस्तार के साथ वर्णन किया है और इस प्रकार प्रारम्भ में ही यह विदित हो जाता है कि यह हृष्ट-पुष्ट, गठी हुई, सबल मांस पेशियोंवाला स्वस्थ पुरुष है।[2] यों तो स्वभाव से यह गम्भीर एवम् चिन्तनशील तथा विचार-प्रधान है, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह घोर व्यष्टिवादी व्यक्ति है और उसमें विलासिता, आत्ममोह, ममत्व, स्वार्थपरायणता, अहं तथा आसक्ति आदि वृत्तियाँ ही विशेष रूप से देख पड़ती हैं। यद्यपि मनु को देव-संस्कृति का प्रतिनिधि कहा गया है लेकिन असुर संस्कृति के संसर्गवश उसके जीवन में तृष्णा, अहंकार, विलास, इन्द्रियसुख, अतृप्ति आदि दुर्गुणों का भी सूत्रपात होता है और यह जीवन का चरम-लक्ष्य विलास एवं इन्द्रियसुख ही मानता है। वस्तुतः श्रद्धा ही उसकी भाग्यविधात्री थी क्योंकि उसी के सहयोग से वह एक नवीन स्फूर्ति

१. संगम (साप्ताहिक) वर्ष ५, अंक २५

२. देखिए—

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार

का अनुभव करता है और यहीं देवजाति के ध्वंस के पश्चात् उसके मन में व्याप्त निराशारूपी अन्धकार को दूर कर कनकवर्णी किरणों को आलोकित भी करती है परन्तु मनु का अस्थिर चित्त आसुरी प्रभाव में जकड़ जाता है और पशुबलि के पश्चात् तो वह पतनोन्मुखी हो भोग परक सुरापान में ही जीवन को सार्थक करना चाहता है। श्रद्धा उसे इस ओर से हटाकर दूसरी ओर उन्मुख करने का प्रयास करती है परन्तु उस पर उसके उपदेशों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मसुख को ही सब-कुछ समझने वाला मनु इन्द्रियासक्ति जीवन का परम सुख मानने लगता है तथा श्रद्धा को भी इसी संकीर्ण में बाँधना चाहता है; देखिए—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी श्रद्धे! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है।
इंद्रिय की अभिलाषा जितनी सतत सफलता पावे;
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि मधुर-मधुर कुछ गावे।
रोम हर्ष उस ज्योत्स्ना में मृदु मुस्कान खिले तो;
आशाओं पर श्वास निछावर होकर गले मिले तो।
विश्व माधुरी जिसके सम्मुख मुकुर बनी रहती हो;
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है! यह तुम क्या कहती हो?
जिसे खोजता फिरता मैं इस हिम-गिरि के अंचल में;
वही अभाव स्वर्ग बन हँसता इस जीवन चंचल में।
वर्तमान जीवन के सुख से योग जहाँ होता है;
छली अदृष्ट अभाव बना क्यों वहीं प्रकट होता है।
किन्तु सकल कृतियों की अपनी सीमा हैं हम ही तो;
पूरी हो कामना हमारी विफल प्रयास नहीं तो!

× × ×

कुचल उठा आनन्द, यही है बाधा, दूर हटाओ;
अपने ही अनुकूल सुखों को मिलने दो मिल जाओ।

चूँकि भौतिक सुख ही मनु का परम लक्ष्य रहा है अतः उसका पतन यहाँ तक हो जाता है कि वह न केवल पालित पशु के अपितु भावी सन्तान के प्रति भी श्रद्धा के प्रेम को सहन नहीं कर पाता और उसे अपने भावी पुत्र से भी ईर्ष्या होती है। वस्तुतः वह श्रद्धा के समस्त

प्यार को अपने में ही केन्द्रित रखना चाहता है और उसे यह पसन्द नहीं कि वह अपनी ममता को कहीं और वितरित करे; देखिए—

> मैं यह तो मान नहीं सकता सुख सहज-लब्ध यों छूट जायँ,
> जीवन का जो संघर्ष चले वह विफल रहे हम छले जायँ।
> काली आँखों की तारा में मैं देखूँ अपना चित्र धन्य;
> मेरा मानस का मुकुर रहे प्रतिबिम्बित तुम से ही अनन्य।
> श्रद्धे ! यह नव संकल्प नहीं—चलने का लघु जीवन अमोल;
> मैं उसको निश्चय भोग चलूँ जो सुख चलदल-सा रहा डोल !

× × ×

> यह जीवन का वरदान मुझे दे दो रानी अपना दुलार !
> केवल मेरी ही चिन्ता का तव चित्त वहन कर रहे भार !
> मेरा सुन्दर विश्राम बना सृजता हो मधुमय विश्व एक;
> जिसमें बहती हो मधुधारा लहरें उठती हों एक-एक।

× × ×

> तुम फूल उठोगी लतिका-सी कम्पित कर सुख-सौरभ-तरंग;
> मैं सुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी-कुरंग।
> यह जलन नहीं सह सकता मैं चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
> इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।
> यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो है प्रेम बाँटने का प्रकार !
> भिक्षुक मैं ? ना, यह, कभी नहीं, मैं लौटा लूँगा निज विचार।
> तुम दानशीलता से अपनी बन सजल जलद वितरो न बिंदु;
> इस सुख-नभ में मैं विचरूँगा बन सकल कलाधर-शारद-इंदु।
> भूले से कभी निहारोगी कर आकर्षणमय हास एक;
> मायाविनि ! मैं न उसे लूँगा वरदान समझ कर, जानु टेक !
> इस दीन अनुग्रह का मुझ पर तुम बोझ डालने में समर्थ;
> अपने को मत समझो श्रद्धे ! होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ;
> तुम अपने सुख से सुखी रहो मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र;
> 'मन की परवशता महा दुःख' मैं यही जपूँगा महामंत्र।
> लो चला आज मैं छोड़ यहीं संचित संवेदन-भार-पुंज;
> मुझको काँटे ही मिलें धन्य ! हो सफल तुम्हें ही कुसुम-कुंज।

परन्तु मनु के इस चरित्र में तनिक भी अस्वाभाविकत
क्योंकि उस युग के पुरुष में इतना अधिक आत्मिक एवम्
विकास सम्भव न था जिससे कि वह लोकमंगल एवम् विश
भावना का महत्त्व समझ पाता और फिर मानव-जाति का पि
के नाते मनु में इन सभी मानवोचित दुर्बलताओं का होना स्वाभा
है। इस प्रकार वासना और तृप्ति तक सीमित रहनेवाला मनु
और शान्ति की खोज में श्रद्धा को एकाकी तजकर भाग जाता है ल
वास्तविक शान्ति पलायन में नहीं, संघर्ष में है; अतः सारस्वत
पहुँचने पर भी उसे सुख और शान्ति नहीं मिल पाती। स्मरण
सारस्वत प्रदेश में हमें मनु का प्रजापति-स्वरूप देख पड़ता है क्यों
उस अस्त-व्यस्त राज्य को व्यवस्थित कर, वर्णव्यवस्था स्थापि
कर उसे समृद्धिशाली बनाने का श्रेय उन्हें ही है और वहीं हमें उनकी
कार्य-क्षमता, शासन-चातुर्य, तेजस्विता और पराक्रम का भी परिचय
मिलता है लेकिन नियम-नियामक होते हुए भी मनु अपने उत्तरदायित्व
को भूल से जाते हैं और स्वयं की उच्छृंखलता तथा भौतिक प्रवृत्ति के
ही कारण उनमें स्वेच्छाचारिता-सी आ जाती है। स्वयं नियमोपबद्ध
न रहने से वह उचित अनुचित का ध्यान नहीं रख पाते और स्वेच्छा-
चारिता एवं निरंकुशता के कारण इड़ा से बलात्कार करना चाहते
हैं[1] लेकिन उनकी यह अनधिकार चेष्टा उन्हें पथभ्रष्ट कर देती है और
वह प्रजा का कोपभाजन बनते हैं। सारस्वत प्रदेश की सम्पूर्ण विद्रोही

---

१. देखिए—

> मैं यह प्रजा बनाकर कितना तुष्ट हुआ था,
> किन्तु कौन कह सकता था इन पर रुष्ट हुआ था।
> कितने जव से भर कर इनका चक्र चलाया,
> अलग अलग ये एक हुई पर इनकी छाया।
> मैं नियमन के लिए बुद्धिबल से प्रयत्न कर
> इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर
> किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं,
> तनिक न मैं स्वच्छंद, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं।
> जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं
> क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं?

+ + +

प्रजा से उनका यह युद्ध उनकी वीरता, निर्भीकता एवं प्रतिशोध-वृत्ति का ही परिचायक है और इस प्रकार मनु में साहसिकता, वीरता, पुरुषत्व, स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता, स्वायत्तप्रियता, विजयेच्छा, प्रतिशोध-भावना, शासन-चातुर्य, तथा नियामक बनने की प्रवृत्ति आदि जातिगत विशिष्टताएँ भी हैं। परन्तु इस युद्ध में मनु स्वाभाविक ही पराजित होते हैं और यह पराजय ही उन्हें वास्तविकता का बोध कराती है तथा इसी के कारण वह श्रद्धा के अनन्य उपासक भी बन जाते हैं। स्मरण रहे कि जब मुमूर्ष मनु रणस्थल में श्रद्धा को अकस्मात् अपने सामने देखकर उसे अपनी सेवा-शुश्रूषा करती हुई पाते हैं तब उन्हें अपने उन कलुषित कृत्यों एवम् श्रद्धा के प्रति किए गये व्यवहार का आभास होने लगता है और उन्हें अपने अपराध पर इतनी अधिक आत्मग्लानि होती है कि श्रद्धा के सामने अपना मुँह दिखाना भी कठिन हो जाता है और वह उसी रात्रि को वहाँ से भाग जाते हैं। वस्तुतः उनका यह पलायन आत्मबोध और पश्चात्ताप के ही फलस्वरूप हुआ था क्योंकि अपनी दुर्बलता का ज्ञान तो उन्हें इस युद्ध में पराजित होने के पश्चात् ही हो गया था और वह श्रद्धा से भेंट होने पर उसके साथ व्यतीत की गई सुखद स्मृतियों का स्मरण कर एक अपराधी की

रहे मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।
तुम्हें देखकर सब बंधन ही टूट रहा अब,
शासन या अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब।

\+ \+ \+

मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा
छिन्न-भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल में
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल में
देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रंदन!
किन्तु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में—......... ।

परन्तु मनु के इस चरित्र में तनिक भी अस्वाभाविकता नहीं है, क्योंकि उस युग के पुरुष में इतना अधिक आत्मिक एवम् मानसिक विकास सम्भव न था जिससे कि वह लोकमंगल एवम् विवेक की भावना का महत्त्व समझ पाता और फिर मानव-जाति का पिता होने के नाते मनु में इन सभी मानवोचित दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार वासना और तृप्ति तक सीमित रहनेवाला मनु सुख और शान्ति की खोज में श्रद्धा को एकाकी तजकर भाग जाता है लेकिन वास्तविक शान्ति पलायन में नहीं, संघर्ष में है, अतः सारस्वत प्रदेश पहुँचने पर भी उसे सुख और शान्ति नहीं मिल पाती। स्वप्न एवं सारस्वत प्रदेश में हमें मनु का प्रजापति-स्वरूप देख पड़ता है क्योंकि उस अस्त-व्यस्त राज्य को व्यवस्थित कर, वर्णव्यवस्था स्थापित कर उसे समृद्धिशाली बनाने का श्रेय उन्हें ही है और यहीं हमें उनकी कार्य-क्षमता, शासन-चातुर्य, तेजस्विता और पराक्रम का भी परिचय मिलता है लेकिन नियम-नियामक होते हुए भी मनु अपने उत्तरदायित्व को भूल से जाते हैं और स्वयं की उच्छृंखलता तथा भौतिक प्रवृत्ति के ही कारण उनमें स्वेच्छाचारिता-सी आ जाती है। स्वयं नियमोंबद्ध न रहने से वह उचित अनुचित का ध्यान नहीं रख पाते और स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता के कारण इड़ा से बलात्कार करना चाहते हैं[1] लेकिन उनकी यह अनधिकार चेष्टा उन्हें पथभ्रष्ट कर देती है और वह प्रजा का कोपभाजन बनते हैं। सारस्वत प्रदेश की सम्पूर्ण विरोधी

---

१. देखिए—

मैं यह प्रजा बनाकर कितना तुष्ट हुआ था,
किन्तु कौन कह सकता था इन पर रुष्ट हुआ था।
कितने जव से भर कर इनका चक्र चलाया,
अलग अलग ये एक हुई पर इनकी छाया।
मैं नियमन के लिए बुद्धिबल से प्रयत्न कर
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बना कर
किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं,
तनिक न मैं स्वच्छंद, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं!
जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं!

\+ + +

प्रजा से उनका यह युद्ध उनकी वीरता, निर्भीकता एवं प्रतिशोध-वृत्ति का ही परिचायक है और इस प्रकार मनु में साहसिकता, वीरता, पुरुषत्व, स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता, स्वायत्तप्रियता, विजयेच्छा, प्रतिशोध-भावना, शासन-चातुर्य, तथा नियामक बनने की प्रवृत्ति आदि जातिगत विशिष्टताएँ भी हैं। परन्तु इस युद्ध में मनु स्वाभाविक ही पराजित होते हैं और यह पराजय ही उन्हें वास्तविकता का बोध कराती है तथा इसी के कारण वह श्रद्धा के अनन्य उपासक भी बन जाते हैं। स्मरण रहे कि जब मुमूर्ष मनु रणस्थल में श्रद्धा को अकस्मात् अपने सामने देखकर उसे अपनी सेवा-शुश्रूषा करती हुई पाते हैं तब उन्हें अपने उन कलुषित कृत्यों एवम् श्रद्धा के प्रति किए गये व्यवहार का आभास होने लगता है और उन्हें अपने अपराध पर इतनी अधिक आत्मग्लानि होती है कि श्रद्धा के सामने अपना मुँह दिखाना भी कठिन हो जाता है और वह उसी रात्रि को वहाँ से भाग जाते हैं। वस्तुतः उनका यह पलायन आत्मबोध और पश्चात्ताप के ही फलस्वरूप हुआ था क्योंकि अपनी दुर्बलता का ज्ञान तो उन्हें इस युद्ध में पराजित होने के पश्चात् ही हो गया था और वह श्रद्धा से भेंट होने पर उसके साथ व्यतीत की गई सुखद स्मृतियों का स्मरण कर एक अपराधी की

इसे मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।
तुम्हें देखकर सब बंधन ही टूट रहा अब,
शासन या अधिकार चाहता हूँ न तनिक अब।

\+ + +

मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा
छिन्न-भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल में
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल में
देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कंपन
और सुन रहा हूँ नभ का यह निर्मम क्रंदन!
किन्तु आज तुम बंदी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में............ ।

ाँति उससे क्षमायाचना भी कर चुके थे[1] लेकिन जब
नः खोजकर उनकी शंका और भ्रम को अपने मर्मव
र दिया तब वह नतमस्तक होकर उसकी विशिष्टता
को स्वीकार कर लेता है तथा उसे वह निर्माणमयी, स्नेह
प्रतिमा सदृश ही जान पड़ती है। स्मरण रहे, जीवन ही म
प्रमुख प्रश्न था और श्रद्धा से जीवन का सत्य जानक
प्रवृत्त होते हैं लेकिन ईर्ष्यावश उसका परित्याग कर वे
को ही जीवन का सत्य समझकर उसे प्राप्त करना चाहते
कारण उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट सहन करने पड़ते हैं।
कठिन साधना के पश्चात् वे यह समझ पाते हैं कि
जीवन का महान् सत्य है और अब मानवता का कल्याण
ध्येय हो जाता है। इस प्रकार कामायनी के नायक का
धीरोदात्त नायक की भाँति ही है और मनु की महत्ता तो इ
हो जाती है कि अंत में सम्पूर्ण सारस्वत प्रदेश कैलाश पहुँच
दर्शन करता है और उस दर्शन मात्र से ही आनंदित हो उठ

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए, डा. विजयेन्द्र स्नातक
है कि "कामायनी में चित्रित मनु-चरित्र को हम पूर्ण विक
काव्य के अनुरूप, महत् और उदात्त कोटि का चरित्र नहीं

---

१. देखिए—

> श्वास-पवन पर चढ़ कर मेरे दूरागत वंशी-रव-सी;
> गूँज उठी तुम, विश्व कुहर में दिव्य रागिनी अभिनव-सी।
> जीवन-जलनिधि के तल से जो मुक्ता थे वे निकल पड़े;
> जग मंगल संगीत तुम्हारा गाते मेरे रोम खड़े।
> \+ \+ \+
> तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो
> तुमने मिलकर मुझे बताया सबसे करते मेल चलो
> \+ \+ \+
> तुम अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु रजनी
> चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो तुम उसमें संतोष बनी
> कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ

प्रसाद ने मनु को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह समर्थ एवं सफल नायक की परिभाषा में पूरी तरह नहीं आता। चरम आनन्द की प्राप्ति ही इस काव्य का फलागम है जिसके लिए महाकाव्य के पात्रों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। किन्तु मनु इस महत्कार्य के योग्य, शक्तिशाली और क्रियाशील चित्रित नहीं हुए। जैसा बड़ा कार्य है वैसा ही बड़ा प्रयत्न, सामर्थ्य और सम्भार होना चाहिए। कामायनी का अंतिम ध्येय यही है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनु मानव-सभ्यता की स्थापना करें। देवगण का निर्बाध विलास सभ्यता का ही नहीं अपितु समस्त मानवता का संहारक सिद्ध हो चुका था। मनु ने स्वयं उस विनाश को देखा था। अतः अब स्थिति यह थी कि मनु जैसे भी हो, मानव सभ्यता की स्थापना के लिए अपनी आंतरिक उदात्त भावना का परिचय दें; अपने जीवन के बाह्य क्रिया-व्यापार की परिधि में वे इतनी विशालता रखें कि नूतन सभ्यता की स्थापना में उनका योगदान व्यक्त हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि मनु के चरित्र में अत्यधिक उदात्तता और सदाशयता (मैगनीट्यूड) तथा जीवन-व्यापी विस्तार (डाइमेंसन) की स्थापना होती। किन्तु उसका अभाव ही बना हुआ है, जो खटकता है। मनु अपने आप में भले ही शक्तिशाली, पौरुषमय और कर्मठ हों, किन्तु महाकाव्य के क्रिया-व्यापार की दृष्टि से उसका चरित्र दुर्बल है। मनु का प्रेम, त्याग (समर्पण) सभी कुछ मानवीय शक्ति का शुद्ध स्वरूप लेकर नहीं होता; कामुकता और विलासिता के आकर्षण से ही वह प्रेम और उत्सर्ग की बात करता है। स्त्री के प्रति उसका दृष्टिकोण प्रारम्भ से अनुदार है वह स्त्री को पुरुष की छाया मानकर चलता है। अपनी वासना-तृप्ति के लिए वह श्रद्धा और इड़ा दोनों के ही जीवन की क्षणिकता की बात कहकर मदिरा-सेवन की प्रेरणा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनु के चरित्र में मानव-प्रवृत्तियों का व्यापक आभास देने की ओर प्रसाद जी का ध्यान रहा है। किन्तु उसे महान् चरित्र (ग्रेट एपिक करैक्टर) बनाने की ओर उतना ध्यान वे नहीं दे पाये।"[1] परन्तु स्नातक जी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि मनु का अंतिम स्वरूप तो भारतीय ऋषि एवम् धीरोदात्त नायक की ही भाँति है तथा उनकी महानता को कामायनी के अन्य पात्र भी स्वीकार करते हैं। चूँकि कवि ने मनु का

१. समीक्षात्मक निबंध—डॉ. विजयेन्द्र स्नातक (पृ. ८४–८५)

चरित्र यथार्थवादी दृष्टिकोण से अंकित किया है अतः उसके चरित्र में उत्थान और पतन दोनों ही हैं तथा जातिगत एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार की विशिष्टताओं से युक्त मनु का न केवल यथार्थवादी रूप व्यक्त हुआ है अपितु प्रतीकवादी रूप भी व्यंजित हो सका है। यथार्थवादिता के कारण प्रारंभ में मनु पतनोन्मुखी ही जान पड़ते हैं लेकिन अंत में वे सदाचारमूलक उत्थान के उच्चतर सोपान पर भी चढ़ सके हैं और के इसीलिए हम मनु के चरित्र को महान् चरित्र ही मानते हैं। श्री राम-लालसिंह के शब्दों में "मनु मानव परम्परा के पिता हैं, अतः उनमें मानव के सभी गुण-अवगुण वर्तमान हैं। मनुष्य में सत्-असत्, भली-बुरी तथा मानव-दानव दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। परिस्थिति-विशेष के कारण कभी किसी का प्राधान्य हो जाता है, कभी किसी का। यही मनु में है। वे परिस्थितियों के अनुसार कहीं बहुत भावुक, कहीं बहुत तार्किक, कहीं बहुत विलासी—कहीं बहुत विरक्त, कहीं बहुत स्नेहशील—कहीं निर्मम, कहीं कृपण—कहीं उदार, कभी चिन्ता-शील—कभी अशान्वित दिखाई पड़ते हैं।"[1]

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कामायनी का मनु वस्तुतः आधुनिक मानव ही है और उसकी समस्याओं में आधुनिकता भी विद्यमान है तथा अनेक सामयिक प्रश्नों का समाहार भी उसी के द्वारा प्रस्तुत किया गया है अतएव जैसा कि डॉ० प्रेमशंकर ने लिखा है "मानवता का प्रतीक मनु आधुनिक संघर्षशील व्यक्ति का प्रतीक है। अपनी आन्तरिक भावनाओं से लेकर जीवन की भौतिक समस्याओं तक वह युद्ध करता है। प्रत्येक प्रश्न उसके सम्मुख आता है। एक ओर यदि मन में काम, वासना और ईर्ष्या के भाव उठते हैं तो साथ ही वह जीवन की प्रहेलिका को भी सुलझाने में प्रयत्नशील है। मानव की सम्पूर्ण जिज्ञासा से वह रहस्यमय संसार को देखता है। आंतरिक दुर्बलताओं को लेकर भी वह ऊपर उठना चाहता है। मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रित मनु का मानसिक द्वन्द्व जीवन का शाश्वत सत्य है। इस दृष्टि से मनु अपने ऐतिहासिक कलेवर में भी नितान्त आधुनिक और नवीन है।"[2]

---

१. कामायनी अनुशीलन—श्री रामलाल सिंह।
२. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृष्ठ ४०१)।

इड़ा

श्रद्धा और मनु की भाँति इड़ा का भी इस महाकाव्य में अपना निजी महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा उन दोनों की ही भाँति उसका व्यक्तित्व भी दुहरा है इसीलिए सारस्वत प्रदेश की रानी होने के साथ-साथ वह बुद्धितत्त्व की प्रतीक भी है। वस्तुतः श्रद्धा और इड़ा दोनों ही अपना-अपना विशिष्ट महत्त्व रखती हैं तथा कथानक को गतिशील करने में उन दोनों का समान योग ही है अतएव श्री गंगाप्रसाद पांडेय के शब्दों में "जिस प्रकार श्रद्धा अनन्त करुणामयी है उसी प्रकार इड़ा प्रेरणामयी है। श्रद्धा यदि कोमल है तो इड़ा परुष, श्रद्धा हृदय की रागात्मक प्रवृत्तियों की प्रतीक है तो इड़ा बुद्धि की तर्कमयी प्रवृत्तियों की पोषक। श्रद्धा भावनात्मक है, इड़ा विचारात्मक।"[1] स्मरण रहे कि रूपक-शैली को अपनाने पर भी कवि ने इड़ा के दोनों स्वरूपों का कुशलता के साथ अंकन किया है और न केवल उसके नारीरूप का वास्तविक चित्रण किया है अपितु प्रतीकात्मक अर्थाभिव्यक्ति पर भी पूर्ण ध्यान दिया है अतः जैसा कि श्री रामलालसिंह ने लिखा है "इड़ा का चरित्र जहाँ तक स्त्री-रूप में है वहाँ तक नीति, मर्यादा, उत्तरदायित्व, कर्त्तव्य-बुद्धि, रागवृत्ति, समर्पण की भावना, क्षमा, सहनशीलता, व्यवस्था-शक्ति आदि स्त्रियोचित गुणों से युक्त दिखाई पड़ता है। परन्तु जहाँ वह बुद्धि के प्रतीक रूप में आई है वहाँ चंचलता, संघर्ष, विप्लव, विद्रोह उत्पन्न करती हुई दिखाई पड़ती है। स्त्रीरूप में वह मनु से प्रेम करती है; परन्तु उनके समान मर्यादा को त्यागकर नहीं, कर्त्तव्य-बुद्धि से रहित होकर नहीं, उत्तरदायित्व की उपेक्षा करके नहीं। उसके मनु सम्बन्धी प्रेम से केवल उसकी रागवृत्ति की भावना ज्ञात होती है।"[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इड़ा एक रूपवती नारी है और बौद्धिक प्रवृत्तियों के होते हुए भी वह मानवीय गुणों से सम्पन्न है। उस अनुपम सुन्दरी एवं प्रभावशालिनी नारी को देखकर मनु भी स्तब्ध से रह जाते हैं और उसकी ओर आकृष्ट होते हैं परन्तु कवि ने उसका जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें मादकता की अपेक्षा बुद्धि का अतुलनीय गाम्भीर्य ही विशेष रूप से है। वस्तुतः तर्कजाल की भाँति बिखरी

१. कामायनी : एक परिचय—श्री गंगाप्रसाद पांडेय

२. कामायनी अनुशीलन—श्री रामलालसिंह

अलकें, शशि-खण्ड-सा स्पष्ट भाल प्रखर बुद्धि का ही परिचायक है और नेत्र अनुराग-विराग, वक्षस्थल ज्ञान-विज्ञान, हाथ कर्मकलश आदि से युक्त हैं।[१] स्मरण रहे, प्रथम भेंट में ही वह मनु से कह देती है कि मनुष्य बुद्धि की बात न मानकर भला और किसकी शरण जा सकता है अतः वह उसे भी बुद्धि के आश्रित कर्म-व्यापार में लीन करना चाहती है[२] और मनु भी उसकी बात मानकर सारस्वत प्रदेश का नियामक बनना स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु मनु के सम्पूर्ण नियमन के पीछे उसकी बुद्धि ही कार्य करती है[३] अतः सारस्वत प्रदेश की उन्नति का

१. देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड-सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल-सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन-रस सार लिए
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल

२. देखिए—

हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ा को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।

३. देखिए—

इड़ा अग्नि ज्वाला-सी आगे जलती है उल्लास भरी,
मनु का पथ आलोकित करती विपद-नदी में बनी तरी,
उन्नति का आरोहण, महिमा शैल-शृंग-सी शांति भरी,
तीव्र प्रेरणा की धारा-सी बही वहाँ उत्साह भरी
वह सुन्दर आलोक-किरन-सी हृदय-भेदिनी दृष्टि लिये
जिधर देखती, खुल जाते हैं तम ने जो पथ बंद किये !
मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी
आश्रय की भूखी जनता ने निज श्रम के उपहार दिये !

बहुत-कुछ श्रेय उसे ही है। वस्तुतः यह उसकी व्यवस्था-बुद्धि का ही परिणाम है कि उसकी प्रजा धन-धान्य से पूर्ण है तथा कला-कौशल और व्यापार आदि की दृष्टि से भी समृद्धिशाली है।

इतना ही नहीं, इड़ा में सहनशीलता तथा क्षमा आदि गुण भी हैं और वह लोकधर्म-पालन में भी पूर्ण सतर्क तथा सावधान देख पड़ती है। इसलिए मनु के जिस परिणय से लोकधर्म, लोकनीति एवं समाज-मर्यादा में विघ्न पड़ने की आशंका है उसे अस्वीकार कर वह श्रद्धा द्वारा प्रस्तावित मानव-परिणय को लोककल्याणवश स्वेच्छा से स्वीकार कर लेती है। स्मरण रहे कि जो मनु उससे सर्वदा प्रणय तथा परिणय की ही बातें करते हैं उन्हें भी वह लोकधर्म की ही शिक्षा देती है[1] और राष्ट्र कल्याण एवं लोक धर्म का पालन करने के लिए ही वह

१. देखिए—

> मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
> तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहें!
> आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा
> निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा?
> यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित
> एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित
> चिति केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है
> द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है—
>
> \+ \+ \+ \+
>
> यह जीवन उपयोग यही है बुद्धि साधना
> अपना जिसमें श्रेय यही सुख की आराधना
> लोक सुखी हों आश्रय ले यदि उस छाया में
> प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में
> देश कल्पना काल परिधि में होती लय है
> काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है।
> वह अनंत चेतन नचता है उन्मद गति से
> तुम भी नाचो अपनी द्वयता में विस्मृति में
>
> \+ \+ \+ \+
>
> आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बातें
> तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते
> प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खड़ी है
> प्रकृति सतत आतंक विकंपित घड़ी-घड़ी है

मनु से भी विद्रोह करती है लेकिन जब वही मनु रणस्थल में घायल हो जाते हैं तब वह उनके पल्लवित हृदय को क्षमाकर उनकी सेवा-सुश्रुषा भी करती और प्रेम में निर्विवाद रूप से श्रद्धा का महत्त्व स्वीकार कर लेती है[1] तथा जीवन में सुख और शान्ति पाने के हेतु वह अन्त में श्रद्धा एवं मनु के पास ही पहुँच जाती है। इस प्रकार अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इड़ा जहाँ एक ओर अपने निश्चय की दृढ़ समर्थक और सिद्धान्तों का कठोरता के साथ पालन करनेवाली है वहाँ वह दूसरी ओर प्रेम, त्याग, क्षमा तथा सहनशीलता की साकार प्रतिमा भी है अतः भौतिकता की उपासिका होते हुए भी वह अन्त में विश्वकल्याण की मूर्ति बन जाती है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों "प्रसाद ने इड़ा के चरित्र-चित्रण में आधुनिक युग की बौद्धिक क्षमता से युक्त एक ऐसी सबल नारी का व्यक्तित्व खड़ा किया है जो आज के वैज्ञानिक युग की समस्त शक्तिमत्ता और दुर्बलता का एक साथ पूरा-पूरा आभास देने में समर्थ है। अनियंत्रित बुद्धिवाद की पराजय तथा श्रद्धा-समन्वित बुद्धि की सफलता, रूपक द्वारा इड़ा के चित्रण से व्यक्त की गई है। आधुनिक युग की अन्य विभीषिकाओं को भी इड़ा के चरित्र में समाविष्ट करके कवि ने इड़ा को एक प्राणवान्, शक्तिशाली और गतिशील चरित्र बना दिया है।.....आधुनिक युग की नारी—जिसे अल्ट्रा-माडर्न कहते हैं और जो अपनी बौद्धिक पूर्णता के साथ रहकर छल करती है—इड़ा के व्यक्तित्व में कुछ-कुछ देखी जा सकती है। वस्तुतः इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का वह रूप है जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है। भौतिक शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर

---

१. देखिए—

"अति मधुर वचन विश्वास-मूल
मुझको न कभी ये जायँ भूल;
हे देवि! तुम्हारा स्नेह प्रबल
बन दिव्य श्रेय उद्गम अविरल
आकर्षण घन सा वितरे जल
निर्वासित हों संताप सकल"

कह इड़ा प्रणत हो चरण-धूल
पकड़ा कुमार-कर मृदुल फूल

को प्रेरणा देकर वह ऐसे स्थल पर ले जाती है जहाँ पहुँचकर वह बुद्धिवाद की विडम्बना को समझ जाता है। इड़ा का चित्रण काव्य-कला की दृष्टि से सफल और पूर्ण है। उसमें वैज्ञानिक युग की दर्पोन्मत्त नारी का चरित्र बहुत ही सफलता से प्रतिफलित हो उठा है।"[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कामायनी' एक सफल कृति है और जैसा कि डॉ० प्रेमशंकर ने लिखा है "कामायनी के चरित्र-चित्रण में इतिहास, दर्शन और मनोविज्ञान का अवलम्बन कवि ने ग्रहण किया तथा चरित्रों को एक व्यापक धरातल पर रखकर उसमें चिन्तन को निहित कर दिया है।"[2]

---

१. समीक्षात्मक निबन्ध—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (पृ० १२८-२९)।
२. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृ० १५५)।

प्रसाद की 'लहर'

इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ. मुंशीराम शर्मा ने उचित ही लिखा है कि "साहित्य की प्रत्येक विधा में प्रसादजी का अपना पृथक् एवं निश्चित् स्थान है और हिंदी साहित्य उनकी इस अनुपम देन का ऋणी है। इसमें भी संदेह नहीं कि प्रसाद जी प्रथम कवि हैं, बाद में कुछ और।"[1] परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रसाद की कला अन्य क्षेत्रों में किसी भी दृष्टि से हीन कोटि की है तथा वे केवल काव्य-जगत् में ही सफल हो सके हैं अपितु वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने जिस क्षेत्र को भी अपनाया है उसी को अपनी पावन प्रतिभा के बल पर भली भाँति पुष्ट किया है और निस्संदेह साहित्य के प्रत्येक अंग को चमत्कृत करने का श्रेय उनकी लेखनी को है। लेकिन इतना अवश्य है कि हमें अधिकतर उनका कवित्व ही सर्वत्र सजग और सचेष्ट ज्ञात पड़ता है। श्री रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में "वह कविता से—काव्य की सुकुमार पर वास्तविक भावनाओं से ओतप्रोत हैं। उनकी भाषा और शैली कोमल कलियों से लदी उन वल्लरियों की याद दिलाती है, जो सदा बहार की सुगंध से मातावनत हैं। यह बारहमसिया गुलाब है, जो हर ऋतु और क्षेत्र में अपने एक विशेष रंग में प्रकट है।"[2] स्मरण रहे कि 'लहर' प्रसादजी की उल्लेखनीय काव्यकृति है तथा जब हम कवि प्रसाद की काव्य-साधना का सम्यक् अध्ययन करना चाहते हैं तब हमें कवि के मनोवैज्ञानिक विकास पर प्रकाश डालते समय लहर की काव्यगत विशिष्टताओं का अनुशीलन करना भी आवश्यक हो जाता है।

यद्यपि प्रसाद की कविता सर्वप्रथम 'भारतेन्दु' में जुलाई १९०६ में प्रकाशित हुई थी, परन्तु विचारकों ने उनके कविजीवन का वास्तविक आरंभ सन् १९०९ से माना है जब कि 'इंदु' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था लेकिन प्रकाशित कृतियों की दृष्टि से तो 'कानन कुसुम' ही उनकी खड़ी बोली की स्फुट कविताओं का प्रथम संग्रह है। हम यह स्वीकार

---

१. प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व—सं० महावीर अधिकारी (पृ० ३०)

२. श्री प्रसाद की काव्य-साधना—श्री रामनाथ 'सुमन' (पृ० ५०६)

करते हैं कि 'कानन-कुसुम' के प्रकाशन के पूर्व 'चित्राधार' नामक उनका एक संग्रह और भी प्रकाशित हो चुका था तथा उसके प्रथम संस्करण (१९७१ वि०) में ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही की कवितायें थीं, लेकिन उसके द्वितीय संस्करण (संवत् १९९८) में तो केवल ब्रजभाषा की रचनाएँ ही रखी गईं अतएव काननकुसुम को ही उनके काव्यपथ का प्रथम सोपान समझना न्यायसंगत होगा। इसके पश्चात् तो शनैः-शनैः उनकी अन्य कृतियाँ भी प्रकाशित हुईं तथा उनकी काव्यकृतियों का क्रम इस प्रकार माना जाता है—(१) काननकुसुम, (२) करुणालय, (३) महाराणा का महत्त्व, (४) प्रेमपथिक, (५) झरना, (६) आँसू, (७) लहर और (८) कामायनी।

स्मरण रहे कि 'झरना' की भाँति 'लहर' में भी स्फुट पद्य रचनाएँ संगृहीत हैं और इस प्रकार लहर में कुल ३३ कविताएँ हैं जिनमें से अन्तिम चार तो मुक्तवृत्त तथा अतुकान्त हैं और शेष २९ तो गीत-मुक्तक ही हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि छायावादी कविता में प्रगीतमुक्तकों, गीतों और गीत प्रबन्धों तथा अतुकान्त मुक्तवृत्तों की प्रधानता रही है लेकिन वास्तव में ये सब गीतकाव्य के ही विविध रूप हैं। यद्यपि कतिपय समीक्षकों ने गीत और प्रगीत में विभिन्नता स्थापित करने के प्रयास भी किए हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दोनों में रूप विधान सम्बन्धी कुछ भेद भी देख पड़ते हैं, लेकिन वास्तव में इन दोनों की पृथक् संज्ञाएँ स्वीकार करना उचित नहीं है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रगीतमुक्तक गीतकाव्य का ही एक भेद जान पड़ता है। साथ ही प्रगीतमुक्तकों के अन्तर्गत मुक्त छन्दों का भी समावेश हो जाता है और चूँकि उनमें (प्रगीतमुक्तकों में) भावनाओं के अनुरूप छन्द-विधान होने से कवियों के लिए छन्दों का बन्धन नहीं रह जाता तथा छन्द-बन्धन विच्छिन्न हो जाने पर भी लय तत्त्व वर्तमान रहता है अतः मुक्त छन्द में भी प्रगीतमुक्तकों की रचना हो सकती है और इस प्रकार श्री शंभूनाथ सिंह के शब्दों में "प्रगीत काव्य चाहे संगीतमय छन्द में हो या संगीत के बन्धन से मुक्त, समतुकान्त छन्द में, चाहे अतुकान्त में, सममात्रिक छन्द में हो या विषममात्रिक छन्द में; मुक्त छन्द में हो, चाहे गद्य में, सभी रूपों में यह प्रगीत मुक्तक ही कहलाएगा।"[1] इसलिए सब प्रकार से विचार करने

१. छायावाद युग—श्री शम्भूनाथ सिंह (पृ० ११५)।

पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की 'लहर' गीत-काव्य ही है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि भारतीय गीतकाव्य की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है[1] तथा संस्कृत साहित्य में तो ईस्वी-शताब्दी के पूर्व ही गीतकाव्य का प्रचलन था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य में भी उसकी परम्परा प्रायः सभी कालों और युगों में अक्षुण्ण बनी रही लेकिन जैसा कि डॉ० एस० पी० खत्री ने लिखा है "आधुनिक काल में लिरिक अथवा गीतकाव्य से प्रयोजन उन कविताओं से है जिनमें कवि ने अपनी अन्तर्वादी शैली अपनाकर अपनी अन्तरतम भावनाओं का परिचय दिया है। महाकाव्य तथा नाट्यकाव्य के विपरीत गीत-काव्य का कवि अपने प्रेम और करुणा, दया और विनय, आशा और निराशा, भय और भीत का परिचय देता है। साधारणतः और यह सत्य भी है कि मनुष्य के तर्क का स्थान उसका मस्तिष्क तथा भावों का स्थान उसका हृदय होता है और गीत-काव्य मनुष्य के मस्तिष्क से सम्बन्धित न होकर उसके हृदय से सम्पर्क रखता है। भावों की स्वाभाविकता तथा यथार्थता और कवि की निष्कपटता के ही अनुसार गीतों की श्रेष्ठता अथवा निष्कृष्टता की आलोचना होती है।"[2]

चूँकि लहर का प्रकाशन झरना और आँसू के पश्चात् हुआ है अतः स्वाभाविक ही उसके प्रगीतों में प्रौढ़ता अधिक निखरी हुई जान पड़ती है। यों तो हिंदी गीतकाव्य के इतिहास में झरना का भी उल्लेखनीय स्थान माना जाता है तथा निस्संदेह उसमें भी कई सुन्दर-सुन्दर कलापूर्ण गीत संगृहीत हैं लेकिन जैसा कि डा० प्रेमशंकर का मत है "झरना यदि गीतसृष्टि का प्रयोग है तो लहर उसका उत्कर्ष।"[3] इतना ही नहीं उनका तो यहाँ तक कहना है कि "झरना की गीतसृष्टि का आरंभिक स्वरूप अधिक आशाप्रद नहीं प्रतीत होता। उसकी शिथिल भाषा, लय का अभाव, उदात्तीकरण की न्यूनता बाधा प्रस्तुत करती

---

१. A strong school of lyric poetry about the christian era and probably much more earlier, we cannot seriously doubt to its influence we met with reason ascribe the appearance. and bloom of the Maharasti lyric about A. D. 200.
—A History of Sanskrit Litrerure By Keith; page 48.

२. काव्य की परख—डॉ० एस० पी० खत्री (पृ० ९०-९१)

३. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृ० २१६)

है। लहर में गीतसृष्टि अत्यंत सुंदर हुई है और कवि के सुनिश्चित भविष्य की सूचना मिल जाती है।"[1] वस्तुतः चित्रात्मकता, भाव-मृदुलता, सरस कल्पना, भावना-प्रसार और व्यापक जीवन-दर्शन की दृष्टि से 'झरना' की अपेक्षा 'लहर' का महत्त्व अधिक है। साथ ही कवि की प्रसिद्ध कृति 'आँसू' में कारुण्य-भावनाओं की ही अधिकता है और मानस-चक्षुओं में किशोरावस्था से लेकर यौवन के प्रौढ़ होने तक जो वेदना प्रतिबिम्बित होती रही वही 'आँसू' में उमड़ उठी है और अपनी इस पीड़ा तथा रोदन के मध्य कवि ने अपने जीवन-रथ को भी अग्रसर किया है। 'आँसू' में अपनी इस निरंतर साधना के बल पर अंततोगत्वा कवि इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि निराशा के मध्य आशा और संघर्ष के मध्य शांति—यही जीवन का सत्य है तथा इसीलिए 'आँसू' के पश्चात् प्रकाशित होनेवाली 'लहर' में आशा का प्रबल स्वर हमें सुन पड़ता है। श्री विनोदशंकर व्यास ने तो लिखा भी है कि "लहर की इन चुनी हुई कविताओं से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अब उसकी आँसूवाली व्यथा मौन सो रही है, इस समय संयोग की स्मृति भी आशा और वासना बनकर सांत्वना दे रही है।"[2] श्री नंददुलारे वाजपेयी ने भी 'लहर' की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालते हुए यही कहा है कि "लहर में अधिक परिष्कृत सौन्दर्य-चित्रण और संयमित भावना-धारा है। दो-चार गीतों में अतीत की मनोरम स्मृतियाँ भी आई हैं, पर उनमें आँसू की सी अभाव या शून्यता की व्यंजना नहीं है। अब तो वे मनोरम क्षण जगत में नया सौन्दर्य लाने की आशा रखते हैं।"[3] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अपनी पूर्ववर्ती काव्य-कृतियों की अपेक्षा प्रसाद का कवि रूप 'लहर' में अधिक निखरा हुआ जान पड़ता है।

स्मरण रहे कि 'लहर' में प्रारंभ में एक छोटी-सी कविता 'लहर' पर ही गई है और कहा जाता है कि इसीलिए इस कविता-संग्रह का नाम लहर रखा गया है लेकिन वास्तव में स्वयं 'लहर' ही प्रतीक है। यह तो सर्वविदित ही है कि उसका रचनाकाल छायावाद-रहस्यवाद से अभिभूत रहा है अतः उसमें संगृहीत पद्य-रचनाओं में स्वाभाविक

१. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृ० २१८)
२. प्रसाद और उनका साहित्य—श्री विनो
३. आधुनिक साहित्य—श्री नंददुलारे वा

ही छायावादी और रहस्यवादी प्रवृत्तियों की प्रधानता है तथ
उनमें प्रतीकात्मकता भी है अतः आचार्य शुक्ल के शब्दों में
कवि का अभिप्राय उस आनन्द की लहर से है जो मनुष्य
में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती
यह तो हम कह ही चुके हैं कि 'आँसू' के पश्चात् प्रसाद के
आशा का प्रबल स्वर सुनाई पड़ता है और दुःख, सुख
अंधकार सभी में आनन्द-साधना को ही वह काव्य का
समझता है। इसीलिए 'लहर' की पहली कविता में ही कवि
काव्य के इस चिर संदेश को अंकित किया है, और मानव-मन
वाली मानसिक तरंगों के घात-प्रतिघात का चित्रण भी
वस्तुतः लहर में प्रेम की ही लहर है जो कि स्वयं प्यार और
परिपूर्ण है तथा उसमें स्वयं कवि को भी पुलकायमान क
क्षमता है। यद्यपि कवि की भावनाओं में आशा के स्वरों की
हो गई है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि दुःख और नि
एकदम से अंत हो गया और फिर यह संभव भी नहीं हो
इसीलिए दुःख और निराशा के होते हुए भी कवि ऐसी दशा
आप पर अधिकार रखता है तथा स्वयं को सांत्वना देते हुए
प्रकृति का प्रतिकूल धाराओं को पराजित करने का प्रयास क
मन में जीवन के सुख-दुःख को लेकर जो विराट् संघर्ष चल
उसकी प्रतिच्छाया इस गीत की प्रारंभिक पंक्तियों में ही स्पष्ट
झलक उठती है और अपनी इस मानस लहरी के कल्याण
आश्चर्यचकित हो वह कह उठता है—

> करुणा की नव अँगड़ाई-सी,
> मलयानिल की परछाईं-सी,
> इस सूखे तट पर छिटक छहर।
> शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
> दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
> तू लौट कहाँ जाती है री—
> यह खेल खेल ले ठहर-ठहर!

जब उसके स्मृतिपटल पर सुखद जीवन की प्राचीन स्मृतियाँ

साकार हो उठती हैं तथा एक बार उनसे खेलने की इच्छा उसे पुनः होने लगती है लेकिन अब वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विगत स्मृतियाँ ही सब कुछ नहीं हैं और इसीलिए वह लहर को भी यही याद दिलाता है कि पंकज वन (सुख—स्मृतियों का नन्दन) ही सब कुछ नहीं है।[1] प्रस्तुत कविता में लहर को ठहराने की पुकार केवल अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को सरस करने के लिए नहीं की गई है अपितु अखिल मानव जीवन को सरसता प्रदान करना भी उसका एकमात्र उद्देश्य है और इस प्रकार 'लहर' की आरंभिक कविता से ही हमें प्रसाद काव्य का द्विविध रूप दृष्टिगोचर होने लगता है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि चूँकि 'लहर' स्फुट पद्य रचनाओं का संग्रह है अतः उसमें एक निश्चित मर्यादा और निश्चित धारा को खोज लेना सरल नहीं है लेकिन जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं उसमें छायावादी तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों की प्रधानता अवश्य है और विचारकों ने भी 'लहर' पर उक्त दो वादों का प्रभाव निर्विवाद रूप से माना है।[2] स्मरण रहे कि आचार्य शुक्ल लहर की केवल चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की मानते हैं[3] जब कि डॉ. रामरतन भटनागर की दृष्टि में तो "लहर में हम कवि को शुद्ध रहस्यवादी भूमि पर प्रतिष्ठित पाते हैं। जीव और ब्रह्म की लुका छिपी को कवि अत्यंत स्पष्ट शब्दों में स्पष्ट करते हैं।"[4] इसमें कोई संदेह नहीं कि लहर में ऐसी कविताएँ अवश्य हैं जिनमें रहस्यवादी भावनाएँ विद्यमान हैं तथा कवि ने एक स्थल पर यही चित्र अंकित किया है कि ब्रह्म जीव के साथ आँखमिचानी खेलता है लेकिन उषा की अरुणिमा के रूप में प्रवाहित होने वाली उसके पदचाप की लालिमा से, उसकी मुसकान से और रूप-रस-गंध में हो रहे उसके खेलों से

---

१. देखिए—

> तू भूल न री, पंकज वन में,
> जीवन के इस सूनेपन में,
> ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक!
> आ चूम पुलिन के विरस अधर!

२. कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ—श्री विनयमोहन शर्मा (पृष्ठ ९७)

३. हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० ८०२)

४. कवि प्रसाद—डा. रामरतन भटनागर (पृ०

जीव उसे पहचानने में सफल हो जाता है और इसी में बिना मद्य का दर्शन किये भी वह अपने आपको मस्त समझ लेता है।[1] तथा चाहे प्रियतम उसे अपना मुख दिखलाए या न दिखलाए वह उसके शीतल स्पर्शों से ही संतोष कर लेता है और यही चाहता है कि कम से कम उसे यह शीतल स्पर्श तो सर्वदा ही मिलता रहे।[2] अतएव इस प्रकार की भावनाएँ लहर के गीतों में निस्संदेह विद्यमान हैं परन्तु उचित तो यह होगा कि हम पहले छायावाद तथा रहस्यवाद संबंधी कवि के दृष्टिकोण से परिचित हो लें और फिर कवि की विचारधारा के आधार पर 'लहर' का मूल्यांकन करें।

वस्तुतः प्रसादजी ने छायावाद को वेदनामयी अनुभूति की लाक्षणिक अभिव्यक्ति ही माना है और उनका कहना है कि "रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नए ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे।"[3] समकालीन कतिपय समीक्षकों ने छायावादी कृतियों की विवेचना करते हुए उन रचनाओं को रहस्यवादी माना है जिनमें कवि प्रकृति के रूप तक ही

---

१. देखिए—

देख न लूँ इतनी ही तो है इच्छा ! लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ॥
फिर कह दोगे; पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो !
किन्तु उन्हीं अधरों से, पहले उनकी हँसी दबाओ तो !
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो॥

* * * *

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ !
इस में क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।

२. देखिए—

शशि सी वह सुन्दर रूप-विभा
चाहे न मुझे दिखलाना।
उसकी निर्मल शीतल छाया
हिमकन को बिखरा जाना॥

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—श्री जयशंकर प्रसाद (पृ० १२१)

अपना आंतरिक स्पर्श सीमित मानता है और प्रकृति के साथ उसकी रागात्मिकता वृत्ति भी व्यक्त हो उठती है लेकिन प्रसादजी इससे सहमत नहीं हैं तथा उनकी दृष्टि में "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भावसमर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमयी होती है।"[1] प्रसादजी रहस्यवाद को अहं का हृदय से सम्बन्ध करने का सुन्दर प्रयत्न मानते हैं तथा उनके मतानुसार समरसता एवं प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा ही यह अपरोक्ष अनुभूति संभव है। साथ ही जैसा कि श्री शंभूनाथ सिंह ने लिखा है "छायावादी कवियों की उन्मुक्त भाव-लहरी और रमणीय कल्पना के लिए विस्तृत क्षेत्र विरहदशा के वर्णन में मिला है।"[2] अतः हम देखते हैं कि न केवल छायावादी कविताओं में अपितु सूफी काव्य की भाँति दुःख एवं निराशा के कारण रहस्यवादी रचनाओं में भी विरह भावनाओं की प्रधानता रही है। प्रसादजी ने तो रहस्यवाद को पारिभाषित करते हुए कहा है कि "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है"[3] और उन्होंने रहस्यवादी कविताओं में "प्रकृति का आत्मा में पर्यवसान" माना है तथा उनकी दृष्टि में रहस्यवादी कवि का लक्ष्य आत्मा में उल्लास सहित अद्वैत भावना की प्रतिष्ठा ही है। वस्तुतः प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं अपितु उसमें पर्यवसान अद्वैत है तथा आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकास द्वैत है। इस प्रकार प्रसादजी ने छायावादी और रहस्यवादी कृतियों में केवल यही भिन्नता मानी है कि छायावाद में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति विशिष्ट शैली में होती है तथा रहस्यवाद में अहं का इदम् से समन्वय रहता है। कवि के इस दृष्टिकोण से परिचित हो जाने पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए की कतिपय विचारकों के छायावाद-रहस्यवाद के कोमल स्निग्ध वातावरण में जिन अनेक गीतों की सृष्टि हुई उनकी मूल विषयगत प्रवृत्तियों के आधार पर उनका

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—श्री जयशंकर प्रसाद (पृ० ११८)
२. छायावाद युग—श्री शंभूनाथ सिंह (पृ० ११४)
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—श्री जयशंकर प्रसाद (पृ० ४६)

वर्गीकरण भी किया है तथा श्री गुलाबराय ने तो उनके मूलतः प्रकृति-संबंधी, जीवन-मीमांसा सम्बन्धी, आध्यात्मिक विरह-मिलन सम्बन्धी, गांधीवाद से प्रभावित राष्ट्रीयताविषयक और लौकिक प्रेम संबंधी नामक पाँच भेद माने हैं।[1] स्मरण रहे कि यद्यपि छायावाद-युग की काव्यधारा में प्रेमभावना, सौन्दर्यचित्रण, तत्त्वचिंतन एवम् यथार्थता नामक चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ ही विद्यमान हैं, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अधिकतर छायावादी कवियों ने अपनी लेखनी को सौन्दर्यचित्रण तक ही सीमित रखा है और इस प्रकार जहाँ कि बाह्य सौन्दर्य का चित्रण करते समय उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य या नारी-रूप-चित्रण को कल्पना की बारीक तूलिका एवम् मर्मस्पर्शी भावनाओं का आधार लेकर अंकित किया है वहाँ ऐन्द्रिय प्रेम, वासना के अतिरिक्त, विरह-मिलन के दुःख सुख और कसक-तड़पन की भावनाएँ भी उनकी कृतियों में विद्यमान हैं। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से और व्यक्तिगत कुंठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छंद विचारों के आदान से स्वतंत्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था। परन्तु सुधारयुग की कठोर नैतिकता से सहम कर वह अपने में ही कुंठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतंक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार स्वच्छंद भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान ये अचेतन में उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं, और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृंगार दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा; प्रकृति पर नारी भाव के आरोप द्वारा। दूसरे, नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।[2] अतएव यदि शृंगारिकता को ही छायावादी कविता की प्रमुख प्रवृत्ति मान लिया जाय तो भी शांतिप्रिय द्विवेदी का यह विचार कि "प्रसार

१. काव्य के रूप—श्री गुलाबराय (पृ० १४१-१४२)

२. आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डॉ. नगेन्द्र (पृ. १०)

मुख्यतः मानुषी सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं।"[1] तथा डॉ. रामरतन भटनागर का यह कथन कि "प्रसाद विलास, ऐश्वर्य और मादकता के कवि हैं"[2] उचित ही जान पड़ता है।

जैसा कि शिवदानसिंह चौहान का कथन है "लहर में प्रसादजी ने विविध अर्थ-भूमियों पर अपनी कल्पना को दौड़ाया। इसकी कविताओं में कहीं आनन्दवाद की झलक मिलती है, तो कहीं अज्ञात प्रियतम से रहस्यमय अभिसार के चित्र हैं, कहीं सजीले स्वप्नों से अतृप्ति को मिटाने का प्रयास है, तो कहीं माझवेला का "बीती विभावरी जाग री" का आह्वान है और कहीं "अब जागो जीवन के प्रभात" की कामना है। किन्तु समग्र रूप से अधीरता, वेदना और निराशा का स्वर इन कविताओं में भी प्रधान है।"[3] इसमें कोई संदेह नहीं कि 'लहर' प्रसाद की आंतरिक भावनाओं की प्रतीक है और कवि ने उसमें अपने अंतस्तल की अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण किया है। वस्तुतः प्रसाद-काव्य पर विहंगम दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि रूप और यौवन के कवि प्रसाद की कविता में रह-रहकर यौवन की मादकता का ही स्वर गूँज रहा है तथा चूँकि उसने स्वच्छंदता के साथ तरुणाई में विलास और वैभव की सीमा पर पहुँचकर अनियंत्रित प्यास के साथ यौवन के मधुकुंभ का उन्मादकारी रस पान किया है अतः वियोगवस्था में स्वाभाविक ही उसकी भावनाओं में अतीत के प्रति तीव्र आग्रह भी देख पड़ता है। शुक्लजी ने करुणा पर विचार करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि "प्रिय के वियोग में जो दुःख होता है उसमें कभी-कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश रहता है"[4] अतः इससे स्पष्ट है कि कारुण्य भावनाओं का आधार प्रिय-वियोग भी है। निस्संदेह प्रसाद के आँसू ने हिंदी साहित्य में विरह अथवा व्यथा-काव्य का एक सजीव और नूतन आदर्श प्रस्तुत किया है क्योंकि यद्यपि कवि ने उसमें अतीत की रसभरी घड़ियों का स्मरण कर उनके अभाव में रुदन किया है लेकिन रो-रोकर अपने जीवन का अंत नहीं कर देता बल्कि उस व्यथा से ही अपने मन को आशा का आलोक प्रदान कर जीवन

---

१. कवि और काव्य—श्री. शांतिप्रिय द्विवेदी (पृ. ८८)
२. कवि प्रसाद—डॉ. रामरतन भटनागर (पृ. ११०)
३. काव्यधारा (पुस्तक पत्रिका)—संख्या ११ सन् १९५५ (पृ. २३-२४)
४. चिन्तामणि—पं. रामचन्द्र शुक्ल (भाग १. पृ. ४८)

के व्यावहारिक सत्य को ग्रहण कर कर्म और चेतना के पथ पर पुनः अपनी यात्रा प्रारंभ करता है। वस्तुतः आँसू में वासना से प्रेम एवं निराशा से आशा की कल्याण-साधना प्रतिपादित की गई है और इसीलिए लहर में भी कवि के मानस में मिलन-आशा होते हुए भी रह-रहकर विगत वैभव की स्मृतियाँ विद्युत की भाँति चमक उठती हैं; नेत्र उन्मीलित होने लगते हैं और कवि क्षण भर के लिए अपनी वर्तमान अवस्था विस्मरण कर अभी-अभी जिस पथ को समाप्त कर दूसरे पथ की ओर अग्रसर हुआ था उसी पुराने पथ की स्मृति उसे पुनः हो जाती है[1] तथा उसके मानस में कसक-सी उठने लगती है।[2]

---

१. देखिए—

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,
मधु-भिक्षा की रटन अधर में,
इस अनजाने निकट नगर में
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

* * *

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं,
आँखें करने लगीं ठिठोली,
हृदयों ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।
उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र में था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,
स्वयं चकित सा समझ न पाता,
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन।
उस दिन जब जीवन के पथ में,
मधु-मंगल की वर्षा होती,
काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा समझ मिला अपना धन।

२. देखिए—

आह रे, वह अधीर यौवन।
अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास

साथ ही प्रसाद की कविता में अतीत के प्रति तीव्र आग्रह विद्यमान है और इसीलिए वर्तमान के पथ पर चलते हुए भी कवि के लोचनों के सामने रह-रहकर विगत स्मृतियों के वे क्षण साकार हो उठते हैं जो कि अभी-अभी कुछ समय पूर्व उसके जीवन में बीत चुके हैं तथा वर्तमान की तीव्र आँधी जिन्हें धूमिल कर देने का अथक परिश्रम करने पर भी किसी भी भाँति उन्हें उसके नेत्रों के सामने से ओझल नहीं कर पाती। इसीलिए वह कहता है—

तुम्हारी आँखों का बचपन!

खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था, हँस-हँस कर मन
आह रे वह व्यतीत जीवन!

❀ ❀ ❀

तुम्हारी आँखों का बचपन!

स्निग्ध संकेतों में सुकुमार
बिछल चल थक जाता तब हार
छिड़कता अपना गीलापन
उसी रस में तिरता जीवन!

धमनियों में आलिंगनमयी—
वेदना लिये व्यथायें नयी,
टूटते जिससे सब बंधन
सरस सीकर से जीवन-कन,
बिखर भर देते अखिल भुवन
वही पागल अधीर यौवन!
आह रे, वह अधीर यौवन!
मधुर जीवन के पूर्ण विकास
विश्व-मधु-ऋतु के कुसुम-विकास
ठहर, भर आँखों देखें नयी—
भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल की लघुता आई बन—
समय का सुंदर वातायन,
देखने को अदृष्ट नर्तन
अरे अभिलाषा के यौवन!
आह रे, वह अधीर यौवन!!

वस्तुतः यौवन मानव जीवन का वसन्त
आगमन होते ही कोमल भावनाएँ मानस में
लता और कौमार्य का कम्पन आकुल मन में
शैशव का नैसर्गिक, भोला और हठीला रूप सो
है लेकिन यौवन के सुनहले स्वप्न भरे मादक
मदिरा की भाँति छा जाते हैं और ये सुन्दर क्षण
हो पाते।' जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "
जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उस
उसी स्थान की अवस्था का अनुभव होता है।" अ
सुनहरे स्वप्नों और विलासमय रंगों से अनुरंजित
विशद चित्रण किया है और इस प्रकार कालिदास
प्रेमविलास और रहस्य की मादक कल्पना को अ
अपनी स्वर्ण तूलिका से प्रकृति का जैसा सुन्दर मनोह
किया है वैसा कदाचित ही अन्यत्र दृष्टिगोचर हो सके।
कोमल कुसुमों की मधुर रात !

शशि-शतदल का यह सुख वि
जिसमें निरमल हो रहा ह
उसकी साँसों का मलय वात

---

१. देखिए—

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !
जब सावन-घन सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे।
सुरधनु रंजित नव-जलधर से—
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।
प्राण पपीहा के स्वर वाली—
बरस रही थी जब हरियाली—
रस जल कन मालती-मुकुल से—
जो मदमाते गंध विधुर थे।
चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ

कोमल कुसुमों की मधुर रात !
वह लाज भरी कलियाँ अनन्त
परिमल-घूँघट ढँक रहा दन्त
कंप-कंप चुप-चुप कर रही बात,
× × ×
कोमल कुसुमों की मधुर रात !
कितने लघु लघु कुड्मल अधीर
गिरते बन शिशिर-सुगन्ध-नीर,
हो रहा विश्व सुख पुलक गात !

स्मरण रहे कि अतीत के प्रति तीव्र आग्रह तथा विगत स्मृतियों के प्रति मोह होते हुए भी कवि ने प्रकाश के पथ पर यात्रा जारी रखी है और वह यह जानता है कि अतीत को लौटाने का यह दुराग्रहपूर्ण रुदन व्यर्थ ही है तथा साहस के साथ वर्तमान को सुधारते हुए भविष्य का सामना करने में ही जीवन का कल्याण है। इसलिए वह यही कहता है कि कोमल-कुसुमों की मधुर रात ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं है क्योंकि भोग-वासना की भी एक अवधि होती है और जीवन हमेशा भोग पूर्ण नहीं रह सकता अतः भोग और त्याग का उचित मिश्रण ही जीवन में आवश्यक है। वस्तुतः अन्धकार से निकल कर प्रकाश की साधना करना ही जीवन का सत्य है और इसीलिए कवि अब इस सत्य को ध्यान में रखते हुए अपने आकुल मानस पर अंकुश रखकर जीवन की मधुयामिनी के आलस्य, शैथिल्य, उन्माद आदि से सजग होकर कर्म-पथ पर चलने को उत्सुक है और अपने अन्तस का आवाहन कर अपने सुप्त जीवन को जाग्रत करने लगता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि लहर के गीतों में जीवन की सर्वग्राही साधना विद्यमान है और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने उचित ही लिखा है "लहर के गीतों में मानव-जीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन

१. देखिए—

अब जागो जीवन के प्रभात !
वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात !
अब जागो जीवन के प्रभात !

के समन्वय का प्रयत्न है।"[१] इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रसाद जी मूलतः एक मानवीय कवि ही थे और इसीलिए उन्होंने अपनी कविता में जीवन को सम्पूर्ण आग्रह के साथ ग्रहण किया है तथा उनके निकट जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है अतः स्वाभाविक ही 'लहर' के गीतों में बहुभावमय मानव जीवन प्रतिबिम्बित हो सका है। श्री रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में "इसमें विलास की स्मृतियाँ हैं, दो दिन प्रेम की गोद में सुख से बिता लेने की आकांक्षा है, रूप एवं वैभव के चित्र हैं, जागरण की पुकार है नियंत्रण की प्रवृत्ति है और आनन्द का उल्लास है। इसमें खोना और पाना, विरह और मिलन, भोग और त्याग है।"[२]

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं प्रसाद जी रूप और यौवन के कवि हैं अतः लहर में स्वाभाविक ही रूप और यौवन विलास के अत्यंत अलंकृत चित्र दृष्टिगोचर होते हैं और साथ ही उनकी कृतियों में कहीं-कहीं प्रेम तत्त्व का भी बड़ा ही सुंदर निरूपण हुआ है। यद्यपि 'लहर' में हमें कवि की प्रेम-भावना का विकसित रूप देख पड़ता है परन्तु लहर के पूर्व प्रेम-पथिक तथा आँसू में भी कवि की प्रेम धारणा का किंचित विकास हुआ है। 'प्रेम पथिक' में तो कवि ने निष्कलुष निरामय सर्वव्यापी प्रेम की गहराई को अभिव्यक्त किया है क्योंकि यह उसके कर्म कोलाहलमय जीवन के शांत सात्त्विक क्षणों की कृति कही जाती है लेकिन आँसू में तो अतीत के विरह गान में विलास की प्रधानता भी है। निस्संदेह कवि ने प्रारम्भ में प्रेम का राजसिक रूप ही देखा है और इसीलिए उसने प्रेम को पहले भोग-वासना के रूप में ही अंकित किया है परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया त्यों-त्यों स्वाभाविक ही

नभ-नयनों की तारायें सब—
मूँद रही किरण-दल में हैं अब,
चल रहा सुखद यह मलय वात!
अब जागो जीवन के प्रभात!
रजनी की लाज समेटो तो
कलरव से उठकर भेंटो तो,
अरुणांचल में चल रही बात!
जागो अब जीवन के प्रभात!

[१] आधुनिक साहित्य—श्री नंददुलारे वाजपेयी (पृ. [illegible])
[२] कवि प्रसाद की काव्य साधना—श्री रामनाथ 'सुमन' (पृ. [illegible])

जीवन के विकास के अनुरूप ही उसकी प्रेम-भावना में वासना का अंश कम और भोग का भाव शिथिल होता गया। इसलिए पूर्ववर्ती अन्य कृतियों की अपेक्षा लहर में उसके प्रेम का सर्वाधिक समुज्ज्वल और आत्मार्पणकारी रूप ही व्यक्त हुआ है।[1] स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी कहा है कि "The fact can never be ignored that we have our greatest delight when we realize ourselves in others, and this is the definition of love"[2] यद्यपि लहर में विलास और वैभव[3] तथा लालसा और हसरत[4]

---

१. देखिए—

पागल रे ! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

२. The Religion of man p. 49.

३. देखिए—

आँखों से अलख जगाने को,
यह आज भैरवी आई है।
उषा सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है
कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज भरी चितवन—
है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की अँगराई है।
लहरों में यह क्रीड़ा चंचल
सागर का उद्वेलित अंचल,
है पोंछ रहा आँखें छल छल
किसने यह चोट लगाई है।

४. देखिए—

चिर तृषित कंठ से तृप्त विधुर
वह कौन अकिंचन अति आतुर
अत्यंत तिरस्कृत अर्थ सदृश
ध्वनि कंपित करता बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

के अनेकानेक चित्र हैं लेकिन कहीं भी वासना की
का आभास नहीं होता और इस प्रकार कवि प्रेम के
की झाँकी अंकित करने में पूर्णतः सफल हो सका है।
आकर्षण को तजकर अंतस्तल में प्रविष्ट होता है
शीतल और पारदर्शी सौंदर्य की अनुभूति होती है
प्रेम में प्रतिदान नहीं चाहता बल्कि यही कहता है
ही देना रहता है, लेना कुछ नहीं। कवि रह रहकर
प्रेम की पुकार उठता है[1] जिसने कि उसके अंतस्त
आकांक्षाएँ जाग्रत कीं, उसके मन को शीतलता की ओर
स्वरूप उसमें विश्व कल्याण की भावना भी आ सकी।

हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि
विचारकों ने प्रसाद को पलायनवादी कवि भी मान लिया
विनयमोहन शर्मा ने तो स्पष्ट ही कहा है कि "आँसू के
होने से इनमें करुणा की नव अँगड़ाई सी उठ रही है और
का स्वर सुन पड़ता है।"[1] वस्तुवः प्रसाद पर या उनकी
विशेष पर जो पलायनवादी होने का आरोप लगाया जाता है
कारण यह है कि कुछ समीक्षकों के मतानुसार "छायावाद और
वाद में संघर्षमय संसार से हटकर किसी सुरभित सौंदर्य लोक
कर सुख-स्वप्न देखने की पलायनवादी प्रवृत्ति"[2]—पाई जाती है
उनकी दृष्टि में छायावादी कृतियों में स्वाभाविक ही यह प्रवृत्ति वि

---

१. देखिए—

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्राण समा जा रे!
जिससे कन कन में स्पन्दन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुणा का नव अभिनंदन हो—
वह जीवन गीत सुना जा रे।
खिंच जाय अधर पर वह रेखा—
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा
वह स्मित का चित्र बना जा रे।

१. कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ—श्री विनयमोहन शर्मा (
२. काव्य के रूप—श्री गुलाबराय (

है। स्मरण रहे कि स्वयं श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी यही कहा है कि छायावादी कवियों का दृष्टिकोण जीवन संग्राम में पराजित योद्धा का सा है जो अपनी असमर्थता के कारण भाग्यवादी बन जाता है; देखिए—"नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण करने से पहले, हिन्दी कविता छायावाद के रूप में, ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी, और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर पलायन के रूप में प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर भीतर बाहर में, सुखदुःख में, आशा निराशा और संयोग वियोग के द्वंद्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।"[१]—परन्तु डॉ० कन्हैयालाल सहल ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि "पलायनवाद सामाजिक उत्तरदायित्व हीनता का दूसरा नाम है और निश्चय ही प्रसाद जी का सम्पूर्ण काव्य सामाजिक उत्तरदायित्व हीनता सिखलाने वाला नहीं है।"[२] यह तो हम स्पष्ट ही कह चुके हैं कि कवि ने लहर के प्रगीतों में जीवन संघर्ष में मानवता को विजयिनी बनाने का प्रयास ही विशेष रूप से किया है अतः इसमें सामाजिक उत्तरदायित्व हीनता का निरा अभाव ही है। इतना ही नहीं लहर की जिन पंक्तियों के आधार पर कवि को पलायनवादी माना जाता है[३] उनमें भी कवि का सामयिक

---

१. आधुनिक कवि—श्री सुमित्रानंदन पंत (पर्यालोचन, पृ० १४)

२. समीक्षायण—डॉ० कन्हैयालाल सहल (पृ० ४६)

३. देखिए—

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँति घनी रे।

परिस्थितियों से केवल असंतोष मात्र अवश्य जान पड़ता है लेकिन असन्तोष तो जीवन का लक्षण ही माना जाता है; जीवन से पलायन नहीं। जब कोई कवि इस असन्तोष के कारण जीवन संघर्ष से बचकर निवृत्ति का आश्रय लेता है तब हम उसे पलायनवादी अवश्य कह सकते हैं परन्तु लहर में तो कहीं भी यह भावना दृष्टिगोचर नहीं होती और इस प्रकार जैसा कि डॉ० प्रेमशंकर का कहना है "कवि नाविक से भुलावा देकर, जिस निर्जन एकान्त में ले जाने का निवेदन करता है, वह जीवन के प्रति पलायनवाद नहीं है। इस एकान्त में वह किसी महान् निर्माण की कल्पना करेगा, जिससे वह संसार का अमर जागरण का दान दे सके। सांसारिक विषमताओं के बीच सम्भवतः वह आत्मा का सूक्ष्म संगीत न सुन पावे।"[1] साथ ही प्रसाद ने तो कामायनी में भी जीवन से पलायन करने की इच्छा रखनेवाले मनु को श्रद्धा द्वारा जीवन संघर्ष में जूझने की प्रेरणा ही दिलाई है[2] अतः प्रसाद को या उनकी लहर को पलायनवादी कहना उचित नहीं है। इस प्रकार लहर के प्रगीतों में कवि का साधारण प्रणयी रूप नहीं देख पड़ता अपितु जीवन की गम्भीरता का चित्रण करने के कारण अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की अपेक्षा उनमें भावोल्लास अधिक है और उसमें आन्तरिक अनुभूतियों के साथ ही उसके व्यापक दृष्टिकोण की भी झलक हमें दृष्टिगोचर होती है तथा हम देखते हैं कि कवि निरन्तर पथ जीवन दर्शन की ओर अग्रसर होता हुआ इसीलिए कामायनी महाकाव्य की सृष्टि भी कर सका। इस प्रकार लहर के विषय में रामनाथ 'सुमन' का यह कथन पूर्णतः उचित है "काव्य जीवन

[1] प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृ० २२८)

[2] —

कहा आगंतुक ने सस्नेह—
"अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते मर कर जिसको वीर
+ + + +
प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।

को चिर आनन्द का जो सन्देश देता है, उसे हम इसमें अधिक स्पष्ट रूप में देखते हैं। वासना का दंश टूट गया है और प्रेम यौवन की कुंज-गली से निकलकर जीवन के राजमार्ग पर आ गया है और उसने आशा और प्रकाश के साथ अपनी मानवता की विजय-यात्रा आरम्भ कर दी है।"[1]

स्मरण रहे कि लहर के इन ९९ प्रगीतों में ही एक कविता ऐसी भी है जिससे कि कवि की प्रणय कथा का किंचित आभास भी होता है और उसके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि प्रेमचन्द जी ने 'हंस' के आत्मकथांक (जनवरी-फरवरी १९३२) के लिए 'प्रसाद' जी से अपने विषय में कुछ लिख भेजने का बड़ा ही अनुरोध किया तब उन्होंने यह कविता भेज दी थी और वह उसके मुखपृष्ठ पर 'आत्मकथा' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस कविता से कवि की आंतरिक प्रेम-भावना तथा प्रेम-सम्बन्धी उसका रोमांटिक दृष्टिकोण स्पष्ट होता है और उसकी करुणा के मूल स्रोत पर भी कुछ हल्का-सा प्रकाश पड़ता है।[2] कवि का कहना है कि उसका जीवन बाहरी दृष्टि से रीती गागर है लेकिन सहृदय के लिए उसमें रस भरा है और चूँकि वह बड़ा ही सरल तथा भोला है अतः उसने भूलें भी की हैं और दूसरों द्वारा ठगा भी गया है परन्तु स्वयं उसने किसी को कभी भी नहीं ठगा। साथ ही कवि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसने भी किसी समय जीवन का मधुर स्वप्न देखा था और किसी की रूप-माधुरी ने उसे आत्मविभोर भी कर दिया था परन्तु यह प्रेमानुभूति इतनी सुखद, सरल और क्षणिक थी कि उससे कवि को तृप्ति न हो सकी। किसी कारणवश उसका प्रिय उसे प्राप्त न हो सका अतः

---

१. कवि प्रसाद की काव्य-साधना—श्री रामनाथ 'सुमन' (पृ० ९९)

२. देखिए—

> उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की
> अरे खिलखिला कर हँसते होनेवाली उन बातों की।
> मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
> आलिंगन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया।
> जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
> अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
> उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की?
> जीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?

परिस्थितियों से केवल असंतोष मात्र अवश्य जान पड़ता है लेकिन असन्तोष तो जीवन का लक्षण ही माना जाता है; जीवन से पलायन नहीं। जब कोई कवि इस असन्तोष के कारण जीवन संघर्ष से बचकर निवृत्ति का आश्रय लेता है तब हम उसे पलायनवादी अवश्य कह सकते हैं परन्तु लहर में तो कहीं भी यह भावना दृष्टिगोचर नहीं होती और इस प्रकार जैसा कि डॉ० प्रेमशंकर का कहना है "कवि नाविक से भुलावा देकर, जिस निर्जन एकान्त में ले जाने का निवेदन करता है, वह जीवन के प्रति पलायनवाद नहीं है। इस एकान्त में वह किसी महान् निर्माण की कल्पना करेगा, जिससे वह संसार का अमर आगम का ज्ञान दे सके। सांसारिक निकटताओं के बीच सम्भवतः वह आत्मा का सूक्ष्म संगीत न सुन पावे।"[1] साथ ही प्रसाद ने तो कामायनी में भी जीवन से पलायन करने की इच्छा रखनेवाले मनु को श्रद्धा द्वारा जीवन संघर्ष में जूझने की प्रेरणा ही दिलाई है[2] अतः प्रसाद को या उनकी लहर को पलायनवादी कहना उचित नहीं है। इस प्रकार लहर के प्रगीतों में कवि का साधारण प्रणयी रूप नहीं देख पड़ता और जीवन की गम्भीरता का चित्रण करने के कारण अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की अपेक्षा उनमें भावोल्लास अधिक है और उनमें आन्तरिक अनुभूतियों के साथ ही उनके व्यापक दृष्टिकोण की भी झलक हमें दृष्टिगोचर होती है तथा हम देखते हैं कि कवि निरन्तर स्वस्थ जीवन दर्शन की ओर अग्रसर होता हुआ इसीलिए कामायनी जैसे महाकाव्य की सृष्टि भी कर सका। इस प्रकार लहर के विषय में श्री रामनाथ 'सुमन' का यह कथन पूर्णतः उचित है "काव्य जीवन

---

१. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृ० १२८)

२. देखिए—

> कहा आगंतुक ने सस्नेह—
> "अरे तुम इतने हुए अधीर !
> हार बैठे जीवन का दाँव
> जीतते मर कर जिसको वीर
>
> \+ + + +
>
> प्रकृति के यौवन का शृंगार
> करेंगे कभी न बासी फूल ;
> मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
> आह उत्सुक है उनकी धूल ।

को चिर आनन्द का जो सन्देश देता है, उसे हम इसमें अधिक स्पष्ट रूप में देखते हैं। वासना का दंश टूट गया है और प्रेम यौवन की कुंज-गली से निकलकर जीवन के राजमार्ग पर आ गया है और उसने आशा और प्रकाश के साथ अपनी मानवता की विजय-यात्रा आरम्भ कर दी है।"[1]

स्मरण रहे कि लहर के इन २९ प्रगीतों में ही एक कविता ऐसी भी है जिससे कि कवि की प्रणय कथा का किंचित आभास भी होता है और उसके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि प्रेमचन्द जी ने 'हंस' के आत्मकथांक (जनवरी-फरवरी १९३२) के लिए 'प्रसाद' जी से अपने विषय में कुछ लिख भेजने का बड़ा ही अनुरोध किया तब उन्होंने यह कविता भेज दी थी और वह उसके मुखपृष्ठ पर 'आत्मकथा' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस कविता से कवि की आंतरिक प्रेम-भावना तथा प्रेम-सम्बन्धी उसका रोमांटिक दृष्टिकोण स्पष्ट होता है और उसकी करुणा के मूल स्रोत पर भी कुछ हलका-सा प्रकाश पड़ता है।[2] कवि का कहना है कि उसका जीवन बाहरी दृष्टि से रीती गागर है लेकिन सहृदय के लिए उसमें रस भरा है और चूँकि वह बड़ा ही सरल तथा भोला है अतः उसने भूलें भी की हैं और दूसरों द्वारा ठगा भी गया है परन्तु स्वयं उसने किसी को कभी भी नहीं ठगा। साथ ही कवि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसने भी किसी समय जीवन का मधुर स्वप्न देखा था और किसी की रूप-माधुरी ने उसे आत्मविभोर भी कर दिया था परन्तु यह प्रेमानुभूति इतनी सुखद, सरल और क्षणिक थी कि उससे कवि को तृप्ति न हो सकी। किसी कारणवश उसका प्रिय उसे प्राप्त न हो सका अतः

---

१. कवि प्रसाद की काव्य-साधना—श्री रामनाथ 'सुमन' (पृ० ९९)

२. देखिए—

> उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की
> अरे खिलखिला कर हँसते होनेवाली उन बातों की।
> मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया!
> आलिंगन में आते आते मुसक्या कर जो भाग गया।
> जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
> अनुरागिनी ऊषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
> उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की!
> सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?

उसका अभाव उन्हें सर्वदा ही विह्वल करता रहा और अब उसकी स्मृति के सहारे ही यह अपनी विरह-कथा अंकित किया करता है।

चूँकि प्रसाद जी पर प्रारंभ ही से बौद्ध-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है अतः लहर में दो गीत ऐसे भी संगृहीत हैं जो कि मूलगंध कुटी विहार, सारनाथ के उपलक्ष्य में लिखे गए हैं तथा उनमें से एक गीत तो उस कुटी के समारोहोत्सव में मंगलाचरण के रूप में भी गाया गया था और निस्संदेह यह बौद्ध-दर्शन की करुणा का ही प्रतीक है। इन गीतों में कवि ने बौद्ध-दर्शन के प्रतिपादन का किंचित प्रयास करते हुए स्पष्ट रूप में कहा है कि वस्तुतः गौतमबुद्ध व्यथित विश्व की सजीव चेतना बनकर ही अवतरित हुए थे; देखिए—

> सब की तारुण्यमयी प्रतिमा,
> प्रज्ञा परिमिता की गरिमा,
> इस व्यथित विश्व की चेतना गौतम सजीव बन आई थी।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि मुक्त छंद में लिखी गई अशोक की चिन्ता, शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि और प्रलय की छाया नामक चार आख्यानक कविताएँ भी लहर में संकलित हैं तथा जैसा कि श्री किशोरीलाल गुप्त का कथन है "लहर में प्रसाद वर्तमान जीवन की ठोस भित्ति पर ही अपनी कल्पना नहीं ठहराते, वरंच इतिहास के पुस्तक खंडों को भी अपनी रंगीन कल्पना से इन्द्रधनुषी आभा प्रदान करते हैं।"[1] स्मरण रहे कि प्रसाद जी प्रारम्भ .. ही कथात्मक कविताओं की ओर उन्मुख प्रतीत होते हैं और जहाँ कि उन्होंने प्रेमपथिक, महाराणा का महत्त्व तथा करुणालय आदि विस्तृत काव्य कथाएँ लिखी हैं वहाँ उनकी, चित्रकूट, भरत, शिल्प-सौन्दर्य, कुरुक्षेत्र, वीर बालक और श्रीकृष्ण जयन्ती जैसी लघु कथात्मक कविताएँ भी देख पड़ती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आख्यानक कविताओं की ओर कवि की रुचि आरंभ ही से रही है और ये सब प्रबंध रचनाएँ वस्तुतः 'कामायनी' की सोपानें ही हैं। इन आख्यानक कविताओं के विषय में यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि अन्य अधिकांश कवियों की भाँति प्रसाद जी का लक्ष्य केवल किसी कथा का वर्णन करना नहीं है अपितु उन्होंने इनके द्वारा अपनी ही!

---

१. प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन—श्री किशोरीलाल गुप्त पृ० १११

का परिष्कृत स्वरूप भी दिखलाया है और इन कविताओं में कथा भा
को गति देने का कार्य करती हैं जिसके कि फलस्वरूप कवि भाव
प्रदर्शन करने में पूर्णतः सफल हो सका है। इस प्रकार हिंदी साहित
के इतिहास में इन आख्यानक कविताओं का अपना विशिष्ट स्था
है। लहर की इन कथात्मक कविताओं का महत्त्व न केवल इस दृ
से है कि कवि ने उनमें मुक्तछंदों का सफल प्रयोग कर यह सिद्ध क
दिया है कि मुक्त वृत्तों में भी सुघरतम काव्यकृतियाँ प्रस्तुत की ज
सकती हैं अपितु इन कविताओं में प्रसाद की राष्ट्रीय भावना भी इति
हास के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। 'अब जागो जीवन के प्रभा
तथा 'बीती विभावरी जाग री' में तो राष्ट्रीय उद्बोधन की झल
विचारकों ने देखी ही हैं लेकिन लहर की इन आख्यानक पद्य रचना
में भी स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय जागरण को अधिक सक्रिय बनानेवा
भावों का विकास हुआ है। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' नामक कवि
तो इसका ज्वलंत उदाहरण है और उसमें शेरसिंह पहले तो अप
तलवार को सम्बोधित करते हुए उसके वीरतापूर्ण कृत्यों की स्मृ
दिलाता है[1] और फिर विदेशियों को सम्बोधित कर ओजभरी वा
में कहता है कि आज के विजयी कल के पराजित थे और उनकी विज
वास्तविक विजय नहीं अपितु उनके छलपूर्ण कार्यों का परिणाम है

१. देखिए—

"अरी रण-रंगिनी!
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी!
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
दुर्मद दुरन्त धर्म दस्युओं की त्रासिनी—
निकल, चली जा तू प्रतारणा के कर से।"
"अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन कथा!
तोपें मुँह खोले खड़ी देखती थीं त्रास से
चिलियानवाला में।
आज के पराजित जो विजयी थे कल ही,
उनके समरवीर कर में तू नाचती,
लप-लप करती थी—जीभ जैसे यम की।.........

२. देखिए—

"आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही

इस प्रकार प्रसाद की कविताएँ तत्कालीन राजनैतिक वातावरण से प्रभावित जान पड़ती हैं और इस दृष्टिकोण से इन कथात्मक कविताओं का न केवल ऐतिहासिक अपितु राष्ट्रीय महत्त्व भी है।

लहर की इन आख्यानक कविताओं में से पहली कविता 'अशोक की चिन्ता' बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। भारतीय इतिहास में तो यह घटना प्रसिद्ध ही है कि कलिंग युद्ध में भीषण नर संहार देखकर सम्राट् अशोक के मन में विरक्ति की भावनाएँ छा गई थीं और तत्पश्चात उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। 'अशोक की चिंता' में कवि ने कलिंग युद्ध के भीषण नर संहार को देखकर अशोक के मन में जो भावनाएँ उठीं उन्हीं का विस्तृत चित्रण किया है। इस रोमांचकारी वीभत्स दृश्य को देखकर स्वयं अशोक को ही अपने कार्यों पर पश्चात्ताप होने लगता है और अपनी इस युद्ध पिपासा पर वह अत्यंत दुखी हो उठता है। उसे रह-रहकर यही क्षोभ होता है कि जीवन दो क्षणों का ही है और जीवन-पतंग तो निरंतर जलता ही जा रहा है अतः फिर विजय तृष्णा और युद्ध-पिपासा के लिए ही इतना रक्तपात क्यों?[1] यद्यपि मगध आज विजयी हो गया है और शत्रु पराजित होकर पदतल में गिर पड़ा है लेकिन यह वास्तविक विजय नहीं है क्योंकि दूर से आती हुई क्रन्दन ध्वनि उसका अभिमान भंग कर रही है और अब वह

किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है।
वीरभूमि पंचनद वीरता से रिक्त नहीं।
काठ हों गोले जहाँ
आटा बारूद हो
और पीठ पर हो दुरन्त दंशनों का त्रास
छाती कड़ती हो भरी आग, बाहुबल से
उस युद्ध में तो बस मृत्यु ही विजय है।

१. देखिए—

जलता है यह जीवन-पतंग
जीवन कितना? अति लघु क्षण
ये शलभ पुंज से कण-कण
तृष्णा वह अनलशिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन
जलने की क्यों न उठे उमंग!

इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि शोणित की धारा बहाने पर चाहे कलिंग नतमस्तक हो गया हो परन्तु कलिंगवासियों के हृदय पर तो उसका शासन स्थापित नहीं हो सका। वस्तुतः शासन तो मानव पर ही होना चाहिए अन्यथा कोई भी राज्य अधिक समय तक न टिक सकेगा। जीवन की अस्थिरता पर विचार करते हुए अशोक यही कहता है कि यह उत्सवशाला तो कुछ ही क्षणों में निर्जन हो जाएगी क्योंकि सुख तो कभी-कभी ही जीवन में आता है परन्तु दुःख चिरन्तन है अतः मरुमरीचिका के वन में चंचल मन रूपी कुरंग का उलझना उचित नहीं है।[३] प्रकृति भी उसे करुणामयी प्रतीत हो रही है और वायु के स्वरों में तथा ऊषा के मुखड़े में वह पीलापन ही देखता है[४]

---

१. देखिए—

है ऊँचा आज मगध शिर—
पदतल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर
क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग?

२. देखिए—

इन प्यासी तलवारों से
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुंकारों से
नतमस्तक आज हुआ कलिंग?

३. देखिए—

फिर निर्जन उत्सव शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला
सो जाती है मधु बाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न यहाँ मृदंग।
इस नील विषाद गगन में—
सुख चपला-सा दुःख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में
इस मरु-मरीचिका-वन में—
उलझा है चंचल मन कुरंग।

४. देखिए—

करुणा गाथा गाती है
यह वायु बही जाती है

गया अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि समता के सुख के लिए इतनी तृष्णा उचित नहीं है। इस प्रकार अपनी मानसिक अंतर्वृत्तियों का प्रकाशन करने के पश्चात् वह अपने भावी कार्यों की उद्घोषणा करते हुए यही कहता है कि समस्त सृष्टि ही दुःखी है और धरती पर चारों ओर काँटे बिखरे हुए हैं अतः अब उसके जीवन का यही लक्ष्य होगा कि वह संसृति के विकल पगों में अनुलेप सदृश लगकर पथ में मृदुदल से बिखरता रहेगा।[1] 'अशोक की चिंता' नामक कविता में कवि ने न केवल अशोक के मानस में उठनेवाले विचारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए एक महान् आदर्श की स्थापना की है अपितु साथ ही इस कविता में स्वयं कवि की निजी आत्माभिव्यक्ति भी विद्यमान है और इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें प्रेम का समुज्ज्वल तथा आत्मार्पणकारी रूप भी अंकित हुआ है। कवि ने यह कहकर कि सच्चा विजेता वही है जो विजित के मन पर भी शासन कर सके विदेशी शासकों पर भी व्यंग्य किया है और इस तरह 'अशोक की चिन्ता' में हमें राष्ट्रीयता की भावना भी देख पड़ती है तथा निश्चय ही यह 'लहर' की उत्कृष्टतम कविता है।

'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' की आधारभूमि भी ऐतिहासिक ही है और उसमें द्वितीय सिक्ख युद्ध में सिक्खों के पराजय की दर्दपूरित करुणा गाथा अंकित की गई है। प्राचीन भारतीय इतिहास का अंतिम

कभी उदास आती है
मुख पीला हो जाती है
बन मधु पिंगल संध्या सुरंग।

१. देखिए—

संसृति के विकल पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदुदल बिखेर इस मग रे!

* * * *

धुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग
बह जा बन करुणा की तरंग

युग निस्संदेह सिक्खों की शूरवीरता की कथाओं से परिपूर्ण है और स्वयं अँग्रेज सेनापतियों ने उनकी वीरता की सराहना मुक्तकंठ से की है। जब अँग्रेज सिक्खों पर विजय न प्राप्त कर सके तब उन्होंने छल से काम लिया और लालसिंह नामक एक सिक्ख सेनापति को अपनी ओर मिला लिया। लालसिंह ने जाति के साथ छल किया और तोपों में बारूद के स्थान पर आटे और काठ के गोले भर दिए। जिस चिलियानवाला बाग में सिक्खों ने शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिए थे वहीं अब उन्हें विवश होकर पराजय स्वीकार करनी पड़ी। यद्यपि उनकी तोपें बेकार हो गई थीं लेकिन इतने पर भी उन्होंने साहस न छोड़ा और वीरता के साथ युद्ध किया। इस प्रकार प्रस्तुत कविता में कवि ने शेरसिंह नामक वीर के शस्त्रसमर्पण की घटना का वर्णन करते हुए उसने आत्म-समर्पण के पूर्व जो ओजपूर्ण उद्गार प्रकट किए थे उनका चित्रण किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसमें हमारे इतिहास का एक महत्त्व-पूर्ण पृष्ठ अंकित है तथा जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं वह राष्ट्रीय भावनाओं से भी पूर्ण है। स्मरण रहे कि प्रस्तुत कविता की अंतिम पंक्तियों में रणजीतसिंह का जो उल्लेख हुआ है[1] उसका अर्थ यह है कि कवि ने 'रणजीतसिंह मर गया' नामक इतिहास प्रसिद्ध उद्गार शेरसिंह के साथ जोड़ दिए हैं तथा डॉ० कन्हैयालाल 'सहल' का यह विचार कि "शेरसिंह का प्रयोग रणजीतसिंह के लिए ही हुआ जान पड़ता है"[2] किसी भी भाँति उचित नहीं है और न किसी ऐतिहासिक शोध से ही यह बात सिद्ध होती है।

'पेशोला की प्रतिध्वनि' में कवि ने उदयपुर की पिछोला झील को ही 'पेशोला' के रूप में अंकित कर भारतीय इतिहास के विगत वैभव का चित्रण किया है और इस प्रकार प्रस्तुत कविता कवि की चिरन्तन राष्ट्रीय भावनाओं से भी अनुप्राणित है। 'प्रसाद' ने 'महाराणा का महत्त्व' नामक अपने आख्यानक काव्य में जिस भारतीय शौर्य और देशप्रेम के प्रतीक प्रताप का गौरवपूर्ण चित्रण किया था अब 'पेशोला

---

१. देखिए—

> शेर पंचनद का प्रवीर रणजीतसिंह
> आज मरता है देखो;
> सो रहा है पंचनद आज इसी शोक में।

२. आलोचना के पथ पर—डॉ० कन्हैयालाल सहल (पृ. १६१)

की प्रतिध्वनि' में उन्हीं महाराणा प्रताप के अभाव में उनके इस प्रदेश की क्या दशा हुई इसीको मूर्तिमान स्वरूप प्रदान किया है। कवि का कहना है कि महाराणा प्रताप के इस प्रदेश में आज वह वीरता नहीं रह गई और अब कभी-कभी उसकी केवल प्रतिध्वनि ही सुनाई पड़ती है। निर्धूम भस्म रहित ज्वलंत पिण्ड की भाँति चारों ओर पेशोला का अरुण-करुण बिम्ब ही दृष्टिगोचर होता है और यद्यपि आज ऐसा कोई भी वीर नहीं देख पड़ता जो कि इस भार को वहन कर सके लेकिन अभी भी न जाने अरावली शृंग की भाँति समुन्नत सिर किए हुए किस वीर की प्रतिध्वनि गूँज रही है।[1] ओजपूर्ण भावनाओं के वास्तविक, चित्रण के साथ-साथ प्रस्तुत कविता में कवि की वस्तु-चित्रण कला के भी दर्शन होते हैं और हम कह सकते हैं कि इस प्रकार के सुन्दर चित्र उनके उपन्यासों में ही नहीं, कविताओं में भी हैं। पेशोला का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> पेशोला की उर्मियां है, शान्त, घनी छाया में—
> तट तरु है चित्रित तरल चित्रसारी में।
> झोपड़े खड़े हैं बने शिल्प से विषाद के—
> दग्ध अवसाद से।
> धूसर जलद खण्ड भटक पड़े हैं,
> जैसे विजन अनन्त में।
> कालिमा बिखरती है संध्या के कलंक-सी
> दुन्दुभि-मृदंग, तूर्य शान्त, स्तब्ध, मौन हैं।

१. देखिए—

> कौन लेगा भार यह!
> जीवित है कौन!
> साँस चलती है किसकी
> कहता है कौन ऊँची छाती कर, मैं हूँ—
> —मैं हूँ—मेवाड़ में,
> अरावली शृंग—सा समुन्नत सिर किसका!
> बोलो, कोई बोलो—अरे क्या तुम सब मृत हो!
> आह, इस खेवा की!—
> कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में
> अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा—
> उमड़ रहा है ज्योति-रेखा-हीन क्षुब्ध हो!

'लहर' की अंतिम आख्यानक कविता 'प्रलय की छाया' जो कि आकार में इन तीनों कविताओं से बहुत अधिक दीर्घ है न केवल प्रसाद की अपितु हिन्दी साहित्य की कतिपय चुनी हुई सवश्रेष्ठ कविताओं में गिनी जाती है। प्रस्तुत कविता की आधारभूमि भी ऐतिहासिक ही है और उसमें गुजरात की रानी कमला की आत्मग्लानि का चित्रण किया गया है। अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात पर आक्रमण किया और उस युद्ध में अपने वीर पति कर्णदेव के साथ रानी कमला भी सम्मिलित हुई लेकिन एक दिन दोपहर में यवनों के दल से युद्ध करते हुए कर्णदेव कहीं दूर चले गए और कमला बंदी बना ली गई। कमला चाहती तो मेवाड़ की महाराणी पद्मिनी का अनुकरण करते हुए आत्महत्या कर सकती थी परन्तु उसने ऐसा नहीं किया और उस विपदा में भी उसे अपने सौंदर्य पर गर्व हो आया तथा उसने यह सोचा कि सुल्तान भी उसका स्वरूप देख लें। उसके पति ने भी उसे यही संदेश भेजा था कि वह अपने प्राणों का अंत कर ले परन्तु उसने ऐसा न किया और वह अपने सौंदर्य के बल पर भारतेश्वरी होने का स्वप्न देखने लगी तथा सुलतान की अनुनय-विनय पर उसने उसकी प्रेम-प्रार्थना भी स्वीकार कर ली। एक दिन संध्या में मानिक नामक एक युवक ने जो कि उसका शैशव अनुचर था उससे स्नेहदान माँगा, लेकिन उसी समय वह सुल्तान की दासियों द्वारा बन्दी बना लिया गया परन्तु कमला ने उसे मृत्यु दंड से बचा लिया। कालांतर में यही मानिक ही खुसरू बनकर गद्दी पर बैठा और उसने प्रतिशोधवश कमला के वध की आज्ञा दी। चूँकि वह अलाउद्दीन की स्त्री बनकर रही थी और उससे उसे संतति भी हुई थी तथा पद्मिनी का अनुकरण कर उसने भारतीय नारी के उज्ज्वल आदर्श को नहीं अपनाया था अतः अब स्वाभाविक ही उसे रह-रहकर अपने कृत्यों पर आत्मग्लानि हो रही थी और उसकी यही ग्लानि 'प्रलय की छाया' में करुण विलाप के रूप में अंकित की गई है इसलिए इस कविता का शीर्षक 'प्रलय की छाया' अत्यंत उपयुक्त है।

वस्तुतः 'प्रलय की छाया' में कवि ने नारी के अंतस्तल में रूप और यौवन को लेकर उठनेवाली आकांक्षाओं तथा क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाली भावनाओं को अपनी लेखनी का विषय बनाया है और ऐतिहासिक भित्ति पर आधारित प्रस्तुत कथा में नारी के अंत-

रिक द्वन्द्व के सूक्ष्म विश्लेषण को सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से व्यापक रूप प्रदान किया है। अभिलाषाओं के शृंग से गिरने पर कमला के मानस पटल पर अतीत के चित्र छा जाते हैं तथा उसे सर्वप्रथम तो उन दिनों की स्मृति होती है जब उसका शैशव बीत रहा था और किशोरावस्था उसके शरीर में झलकने लगी थी। इस प्रकार यौवनागम में नारी के अंतरतम में सौंदर्य और स्वप्नों का जो संसार जाग उठता है उसका जैसा सजीव चित्रण प्रसाद ने किया है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। देखिए—

दूरागत वंशीरव—
गूँजता था धीवरों की छोटी छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में।
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगंध से—
कस्तूरी मृग जैसी।
पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानों चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।
नृत्य लीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगीं।
मेरे तो,
चरण हुए थे विजड़ित मधु-भार से!
हँसती अनंग-बालिकायें अंतरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नत शिर देख मुझे।
कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंगलतिका में
पलकें मदिर भार से थीं झुक पड़तीं।
नंदन की शत शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सरायें मानों वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा

जिसमें स्वयं ही मुसकान खिल पड़ती ।
नूपुरों की झनकार घुली मिली जाती थी
चरण-अलक्तक की लाली से ।

इतना ही नहीं कवि ने सौन्दर्यांकन के साथ-साथ नारी के मानसिक ऊहापोह का भी अत्यंत कुशलता के साथ चित्रण किया है और जिस प्रकार उसने सौन्दर्य वर्णन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाएँ अंकित की हैं उसी प्रकार कमला के मानसिक झंझावात का भी जिसमें कि हमें नारी की सहज स्वाभाविक दुर्बलता ही दृष्टिगोचर होती है सजीव चित्रण किया है।[1] प्रकृति और मनुष्य के घातप्रतिघात के चित्रण

---

१. देखिए—

सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुल्तान जलें ।
ऐसे तो प्रचण्ड रूप-ज्वाला-सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध ।
आह कैसी वह स्पर्द्धा थी !
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की बाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी
मेरे इस साँचे से ढले हुये शरीर के
सम्मुख नगण्य थी ।
देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उसमें
मैंने समझा था यही
वह अति रंजित-सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी ।
किन्तु था हृदय कहाँ ?
वैसा दिव्य
अपनी कमी थी इतना चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की ।

*   *   *   *

पद्मिनी की भूल जो थी उसे समझाने को
सिंहनी-सी दप्त मूर्ति धारण कर
सम्मुख सुल्तान के
मारने की, मरने की—अटल प्रतिज्ञा हुई

से यह कविता और भी अधिक निखर उठी है।[१] साथ ही प्रलय की छाया में कवि का जीवन विषयक दृष्टिकोण भी देख पड़ता है और उसने कमला द्वारा यह कहलाया है कि केवल वही यह नहीं सोचती कि जीवन अनन्त है, जीवन सौभाग्य है और जीवन अलभ्य है तथा

उस अभिमान में
मैंने ही कहा था—छाती ऊँची कर उनसे—
'ले चलो मैं गुर्जर की रानी हूँ, कमला हूँ'
वाह री ! विचित्र मनोवृत्ति मेरी।
कैसा वह तेरा व्यंग्य परिहास-शील था !
उस आपदा में आया निज रूप का।
रूप यह।
देखे तो तुरुष्कपति मेरी भी
यह सौंदर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी
कितनी महान् और कितनी अभूत पूर्व।
* * * *
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षण भर चाहती जगाना मैं
सुलतान ही के उस निर्भय हृदय में,
नारी मैं
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की !
साहस उमड़ता था वेगपूर्ण ओज-सा
किन्तु हलकी थी मैं
तृण बह जाता जैसे
वैसे मैं विचारों की में तिरती-सी फिरती।
कैसी अवहेलना थी यह मेरी गरिमा की
इस मेरे रूप की।

१. देखिए—
एक दिन संध्या थी;
मलिन उदास मेरे हृदय पटल-सा
लाल-पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से।
यमुना प्रशान्त मन्द मन्द निज धारा में,
करुणा विषादमयी
बहती थी धरा के तरल अवसाद-सी।
बैठी हुई कालिमा की चित्रपटी देखती
सहसा मैं चौंक उठी द्रुतपद शब्द से

इसे नष्ट कर देना कहाँ तक उचित हो सकता है अपितु यह भावना तो मानव-मात्र में विद्यमान है और सभी को अपने जीवन के प्रति मोह होता है।[१] कलापक्ष की दृष्टि से भी 'प्रलय की छाया' निस्संदेह एक उत्कृष्ट कृति है और यह कवि के महान् साहित्यिक व्यक्तित्व का परिचय देती है।

इस प्रकार प्रसाद की लहर में अभिव्यक्त भावनाओं और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करने के पश्चात् अब हम यहाँ उसकी अभिव्यक्ति और प्रभविष्णुता के सम्बन्ध में विचार करेंगे। जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं प्रसाद की लहर छायावाद युग की कृति है अतः स्वाभाविक ही छायावादी प्रवृत्तियाँ उसकी विषयवस्तु और विचारधारा में ही नहीं अपितु रचना-प्रक्रिया में भी दृष्टिगोचर होती हैं। स्मरण रहे कि जीवन के विविध क्षेत्रों की भाँति हिन्दी साहित्य के सभी युगों में न केवल विषय-वस्तु और दृष्टिकोण में अपितु रचना-कौशल में भी परिवर्तन होते रहे हैं अतः द्विवेदी युग की काव्य-शैली से

---

१. देखिए—

> उसी क्षण बचकर मृत्यु महागर्त से खींचने लगी थी मैं
> "जीवन सौभाग्य है जीवन अलभ्य है।"
> चारों ओर लालसा भिखारिणी-सी माँगती थी—
> प्राणों के कण-कण दयनीय-स्पृहणीय
> अपने विश्लेषण में रो उठे अकिंचन जो—
> "जीवन अनन्त है;
> इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है!"
> जीवन की सीमामयी प्रतिमा
> कितनी मधुर है!
> विश्व-भर से मैं जिसे छाती में छिपाये रही।
> कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही
> माँगती है जीवन का बिन्दु बिन्दु ओस-सा।
> क्रन्दन करता-सा जलनिधि भी
> माँगता है नित्य मानो बरद भिखारी-सा
> जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से।
> व्याकुल हो विश्व, अन्ध तम से
> और मैं ही माँगता है
> "जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभाभरी।
> जीवन ही प्यारा है जीवन सौभाग्य है।"

प्रयोगशील होने के कारण छायावादी कवियों ने सर्वथा एक नूतन, सरस, अभिव्यंजना शैली का मार्ग अपनी रचनाओं द्वारा प्रशस्त किया है।

वस्तुतः किसी भी कवि की काव्यशैली पर विचार करते समय सर्वप्रथम भाषा पर ही विचार किया जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि भाव कविता की आत्मा है तो भाषा निश्चय ही उसका कलेवर है तथा साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि काव्य भाषा बोलचाल की साधारण भाषा से सर्वथा भिन्न और उत्कृष्ट होती है क्योंकि गद्य की भाषा में बौद्धिकता ही विशेष रूप से होती है जब कि काव्य भाषा में भावात्मकता, रागात्मकता एवम् चित्रात्मकता आदि गुण भी होते हैं। रिचार्ड्स ने भी काव्यभाषा को गद्य की भाषा से उत्कृष्ट मानते हुए यही कहा है कि—"The distinction which *needs to be kept clear does not set up fictions in* opposition to verifiable truths in the scientific sense. *A statement may be used for the sake of the* refrence, true of false, which it causes. *This is* the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotions and attitude produced by *the reference it occasions.* This is the emotive use of language. The distinction once cearly grasped is simple. We may either use words for the sake of *the references they* promote of we may use them for sake of the attitudes and emotions which ensue."[1]

यद्यपि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया था तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसको परिष्कृत और परिमार्जित कर काव्य रचना के हेतु सर्वथा उपयुक्त भी बना दिया था परन्तु द्विवेदी युग में भी उसका शब्द भंडार संकुचित ही रहा और जब छायावाद युग में काव्य के विषय, उपादान, रूप और शैली में आश्चर्यजनक उन्नति हुई तभी एक समृद्ध शैली का विकास भी कवियों द्वारा हो सका और इस दिशा में निस्संदेह प्रसाद

१. Principles of literary criticism—I. A. Richards. (Page 267)

जी का अपना विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः छायावादियों के शब्दभंडार में न केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता दीख पड़ती है अपितु आवश्यकतानुसार देशज या अन्य प्रकार के शब्द भी पाये जाते हैं परन्तु अरबी, फारसी या अंग्रेजी के वैसे शब्दों का अभाव ही देख पड़ता है जो हिंदी के अपने न हो गये हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि छायावाद युग में भाषा की अभिधा शैली की अपेक्षा लक्षणाशैली की विशेष प्रतिष्ठा हुई और इसीलिए छायावादी कवियों की काव्य-भाषा में सर्वप्रथम लाक्षणिक भंगिमा का ही आविर्भाव हुआ तथा उन्होंने प्रकृति का अवलम्बन लेकर उसी के माध्यम से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया। इस प्रकार शब्दों में प्रतीकात्मकता आ गई और जैसा कि डॉ० सुधीन्द्र ने लिखा है "कविता के संसार में अब 'फूल' सुख का और 'शूल' दुःख का, 'दिन' सुख का और 'रात्रि' दुःख का, 'आलोक' ज्ञान अथवा आनन्द का और 'तिमिर' अज्ञान अथवा अवसाद का, 'मानस' मन (अन्तर्लोक) का और 'लहर' कामना का, 'वीणा' हृदय का और 'रागिनी' और 'मूर्च्छना' वेदनाओं का, 'मधु' आनन्द अथवा माधुर्य का और 'मदिरा' छवि अथवा रूप का, 'ऊषा' आरम्भ या उज्ज्वलता का और 'संध्या' अवसान या विलास का, 'इंद्रधनुष' रंगीनी या क्षणभंगुरता का, 'वसंत' यौवन का, 'मधुप' प्रेमी का, 'मुकुल' प्रेयसी का, 'स्वर्ण' वैभव या दीप्ति का, और 'रजत' रूप या धवलता का, 'तूफान' भावाघात और भावावेश का 'झंकार' भावना और संवेदना का, 'सरिता' जीवन का और 'मलय' श्वास का, 'संगीत' तन्मयता का, 'हास' विकास का, 'अश्रु' पीड़ा का, 'मिट्टी' नश्वरता का, 'मुरली' मधुर भावना का, 'हंस' प्राणों का प्रतीक बन गया और भाषा की लाक्षणिकता में अभूतपूर्व सम्पन्नता आ गई।"[1] प्रसाद की 'लहर' में भी छायावाद युग की यह विशेषता विद्यमान है और लक्षणामूलक शब्दों की सहायता से कवि ने भाषा में सुघरता, कोमलता एवं काव्योपयुक्तता ला दी है। साथ ही प्रसाद ने कोमलता और माधुर्य की योजना के लिए मूर्त वस्तुओं की उपमा के हेतु अमूर्त वस्तुओं एवं भावों की योजना भी की है और अमूर्त को बोधगम्य बनाने के लिए उन्होंने उसके लिए मूर्त वस्तुओं की भी आयोजना की परन्तु उनका ध्यान हमेशा इस ओर रहा कि कोई भी गीत परुष एवं

१. हिन्दी कविता का क्रान्तियुग—डा० सुधीन्द्र

दर न होने पाये। लहर के गीतों में कई नूतन-नूतन शब्द
ष्टिगोचर होते हैं जो कि दो प्रकार के हैं जिनमें से प्रथम तो
ार्थ व्यंजक है और दूसरे विशेषण तथा भाववाचक संज्ञा।
मरण रहे कि भाषा की चित्रात्मकता को ही छायावाद की अत्य-
महत्त्वपूर्ण विशेषता कहा जाता है और श्री सुमित्रानंदन पंत के
में "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके
स्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की
लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो
भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके,
कार में चित्र-चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युद्-
की तरह रोम-रोम-में प्रवाहित हो सके"[1] अतः प्रसाद जी की
में भी चित्रमय भाषा के कई सुन्दर उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं
तना ही नहीं हम यह भी देखते हैं कि उसके गीतों में वर्णन की
या चित्रणकला के सर्वथा उत्कृष्टतम उदाहरण भी हैं।[2] लहर में
मत्कारपूर्ण तथा आलोकमय विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है
नेक नये विशेषण हिंदी तथा संस्कृत शब्दों से बनाए गए हैं
कि भाषा कभी-कभी संस्कृत गर्भित-सी दीख पड़ती है। अन्य
दी कवियों की भाँति प्रसाद ने भी प्रकृति का न केवल स्वतंत्र
किया है अपितु साथ ही प्रकृति की एक-एक वस्तु अथवा उसकी

1—श्री॰ सुमित्रानंदन पंत।

री का का एक उत्कृष्टतम चित्र देखिए—

अंतरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगड़ाई नीड़ों में अलस, विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।
गूँज उठी मेरी पुकार—'कुछ मुझको भी दे देना—
कन कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना।
दुःख सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देता तू रात।
तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोने वाले जगकर देखें अपने सुख का सपना।

सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि में मानवीय अनुभूतियों की भी झलक देखी है। स्मरण रहे कि इस प्रकार के चित्रों में प्रकृति अलंकार या उद्दीपन के रूप में नहीं है बल्कि वह स्वयं मानव या मानवीय अनुभूतियों के रूप में अंकित हुई है तथा विचारकों ने इसे ही मानवीकरण कहा है और इस प्रकार के चित्रों में भी कहीं-कहीं अलंकृत मानवीकरण के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।[1]

चूँकि लहर के गीतों में विशेष रूप से सुकुमार भावनाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है अतः उनमें माधुर्य गुण की ही अधिकता है जिसके कि कारण अंतःकरण द्रवीभूत होकर आनन्दपूर्ण भी हो जाता है। चूँकि प्रसाद एक कुशल शब्दशिल्पी थे अतः स्वाभाविक ही उन्होंने अधिकतर साभिप्राय और व्यंजक शब्दों को ही प्रयुक्त किया है[2] तथा साथ ही 'लाल पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से' जैसी सरल और

---

१. देखिए—

बीती विभावरी जाग

अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,

लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल नवल रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—

तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री!

२. देखिए—

दूर पर आँखों देख नदी, भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल की लघुता आई बन, समय का सुन्दर वातायन
देखने को अदृष्ट नर्तन

मुहावरेदार भाषा के उदाहरण भी उनकी 'लहर' में दृष्टिगोचर होते हैं। स्मरण रहे कि समृद्ध भाषा शैली कवि की कल्पना शक्ति पर ही निर्भर रहती है और उसके मानस में बाह्य वस्तुओं का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे जब वह जैसा का तैसा चित्रित करना चाहता है तब वही कल्पना-शक्ति उसकी सहायता करती है और वह वर्ण्यवस्तु तथा उसके परिपार्श्व का सम्यक् चित्रण करने में पूर्ण सफल हो जाता है। प्रसाद की कविता का कलापक्ष इसीलिए विशेष रूप से समृद्ध है क्योंकि उनकी कल्पना-शक्ति भी बड़ी ही उर्वर है और उसी की सहायता से उन्होंने प्रकृति के सभी स्निग्ध एवं सुन्दर अंगों का चित्रण भी किया है और अलंकारों की भी सुन्दर आयोजनायें प्रस्तुत की है। भाषा में प्रवाह का रहना भी विचारकों ने आवश्यक माना है और उसमें मान्य वर्णों, शब्दों, पदों, मुहावरों तथा व्याकरण के नियमों को ग्रहण करने के साथ-साथ जब तक प्रवाह नहीं होता प्रेषणीयता की पूरी शक्ति भी उसमें नहीं आती। चूँकि प्रसादजी कुशल शब्दशिल्पी थे और भाषा की प्रकृति से भी पूर्ण परिचित थे अतः स्वाभाविक ही लहर की काव्य-भाषा में रागात्मकता और प्रवाह हैं जिससे कि पाठकों का मानस उद्वेलित और विकंपित हो उठता है। एक उदाहरण देखिए—

अपलक जगती हो एक रात।

सब सोयें हों इस भूतल में,

अपनी निरीहता सम्बल में,

चलती हो कोई भी न बात!

पथ सोये हों हरियाली में

हों सुमन सो रहे डाली में

हो अलस उनींदी नखत पाँत।

नीरव प्रशान्ति का मौन बना,

चुपके किसलय से विछल घना

थकता हो पंथी मलयवात।

वक्षस्थल में जो छिपे हुये—
सोते हो हृदय अभाव लिये—
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

लहर के कलापक्ष पर प्रकाश डालते समय हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'लहर' गीतिकाव्य है और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "जहाँ छोटी-छोटी भावनाएँ एक में केन्द्रित होकर गेय हो उठती हैं, उसे गीतिकाव्य कहते हैं"[1] तथा डॉ० सुधीन्द्र की दृष्टि में "आत्मगत भावोच्छ्वास पर केन्द्रित कविता गायन का विन्यास लेकर गीत बन जाती है"[2] अतः इससे स्पष्ट है कि गीतिकाव्य में गेयता आवश्यक है परन्तु केवल गेयता ही उसकी एकमात्र विशेषता नहीं है और श्री विनोदशंकर व्यास ने तो उसमें हृदय की अनुभूति, संगीत की मधुरिमा तथा कला की विदग्धता नामक गुण आवश्यक माने हैं[3] लेकिन उत्कृष्ट गीतिकाव्य में तो भावावेश, आत्माभिव्यक्ति, गेयता, पदलालित्य, उद्देश्य की एकता और प्रभावान्विति तथा कोमल भावनाएँ इत्यादि उपकरणों का होना नितान्त आवश्यक माना जाता है।

लहर के गीतों पर विचार करते समय हम स्पष्ट कर चुके हैं कि कवि ने तल्लीनता, तन्मयता और तादात्म्य द्वारा आत्मानुभूति का वर्ण्य वस्तुओं में प्रक्षेप कर बड़ी ही कुशलता के साथ अपने गीतों की सृष्टि की है अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनमें भावोल्लास तथा आत्माभिव्यक्ति नामक गुणों की अधिकता है। लहर के अधिकांश गीतों में तो वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में ही हुई है परन्तु कुछ ऐसी पद्य रचनाएँ भी उसमें हैं जहाँ कि कवि की रागात्मक अभिव्यक्ति प्रच्छन्न प्रतीत होती है और अशोक की चिन्ता, शेरसिंह का शस्त्रसमर्पण, तथा पेशोला की प्रतिध्वनि नामक कृतियाँ इसी प्रकार की हैं। वस्तुतः कवियों ने गीतिकाव्य में न केवल अपने सुख-दुःख आशा-आकांक्षा, करुणा-शोक, संयोग-वियोग, अनुरक्ति-विरक्ति आदि मनोविकारों की अभिव्यक्ति आत्मगत ढंग से की है अपितु उसमें

---

१. हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (पृ० ११८)

२. हिंदी कविता में युगान्तर—डॉ० सुधीन्द्र (पृ० ४३८)

३. प्रसाद और उनका साहित्य—श्री विनोदशंकर व्यास (पृ० २०१)

तुओं का वर्णन और प्रकृति चित्रण भी उनके निजी रागात्मक कारों से अनुरंजित है। लहर के प्रगीत मुक्तकों के जो उदाहरण ले ही उद्धृत कर चुके हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद तिकाव्य निस्संदेह ही आत्माभिव्यंजक है तथा उसमें व्यक्त तियाँ भी स्वाभाविक और कवि के अन्तरतम से उद्भूत हैं अतः था मौलिक और नवीन जान पड़ती हैं। स्मरण रहे कि प्रसाद कविता को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" माना है तथा मित्रानन्दन पन्त ने भी शेली के कथन "कविता स्फीत एवं आत्माओं के रमणीय और उत्तम क्षणों की वाणी है" से प्रभावित यही कहा है कि "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है, जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही य है, अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता का संयम आ जाता है।" र इन सभी उक्तियों में यही कहा गया है कि जब अनुभूति वेश अत्यधिक तीव्र होता है तब वह उस क्षण जीवन का पूर्ण गीत होती है और फिर उसकी अभिव्यक्ति ही को आत्माभिव्यं- व्य कहा जाता है अतः हम देखते हैं कि लहर में अभिव्यक्त याँ सचाई और सहजोद्रेक पर ही आश्रित हैं। उसमें कहीं भी ा दुराव-छिपाव, विचारों का घटाटोप, अलंकारों का आडम्बर पना की अत्यधिक उछल-कूद नहीं देख पड़ती तथा कवि की : उसके गीतों में शतधा होकर वर्षा की निर्झरिणी की तरह हैं। जीवन में स्नेही के प्रति जो खोज और आग्रह रहता है ने अत्यंत सुघरता के साथ निम्नांकित पंक्तियों में अंकित

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरनेवाले को?

सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण-सा हृदय गलाकर

जीवन संध्या को नहलाकर
रिक्त जलधि भरनेवाले को ?

रजनी के लघु लघु तम कन में
जगती की ऊष्मा के बन में
उस पर पड़ते तुहिन सघन में
छिप, मुझसे डरनेवाले को ?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या यह कँपने
देख मौन मरने वाले को ?

आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ गीतिकाव्य में उद्देश्य की एकता तथा प्रभावान्विति भी आवश्यक मानी गई है और इसके लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि उसमें भावनाएँ अनेक होकर भी एक प्रतीत हों अर्थात् उसमें प्रधान भावना तो केवल एक ही होती है और अन्य सब उसकी सहायता या पुष्टि करती हैं। चूँकि लहर के प्रगीत मुक्तकों में सर्वत्र ही भावावेग की गहराई और तीव्रता है अतः उसमें स्वाभाविक ही भावान्विति भी अपने-आप ही आ गई है। स्मरण रहे कि पद लालित्य केवल गीतिकाव्य में ही अपेक्षित नहीं है अपितु उत्कृष्ट काव्यभाषा में भी यह गुण आवश्यक है और लहर की भाषा-शैली पर विचार करते समय हम यह कह चुके हैं कि उसमें सर्वत्र ही पद लालित्य देख पड़ता है। यों तो प्रत्येक पद रचना के लिए गेयता आवश्यक मानी जाती है लेकिन गीतिकाव्य में तो परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से गेयता नितान्त आवश्यक है और इसीलिए गीतिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति, संक्षिप्तता, भावावेश तथा कोमलकांत पदावली के साथ-साथ संगीतात्मकता भी परमावश्यकीय है।[१] यद्यपि छायावादी गीतों की गेयता प्रायः स्वर और मात्राओं पर आधारित न होकर भावों की अनुरूपता पर ही आधारित रहती है लेकिन जैसा कि डॉ० भोलानाथ का कहना है "प्रसाद के गीत संगीत की शास्त्रीय पद्धति पर गाये जाने

१. अनुभूति और अध्ययन—दुर्गाशंकर मिश्र (पृ० ९०)

परन्तु कवि ने कहीं भी किसी विशिष्ट विचारधारा को भावनाओं पर आरोपित कर अपनी कृति को बोझिल बना देने का प्रयास नहीं किया अपितु जीवन के अनेक अनुभवों को अपने व्यापक अध्ययन के साथ ही प्रस्तुत किया है। मुक्तवृत्त में लिखी गई अंतिम चार कथात्मक कविताओं में तो एक चिन्तनशील कवि की विचारधारा ही संनिहित है और 'प्रलय की छाया' में रानी कमला के भावों के पल-पल परिवर्तित रूप को लेकर कवि ने नारी का वास्तविक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है तथा कविता में मनोविज्ञान का यह आविर्भाव कामायनी महाकाव्य की एक भूमिका जान पड़ता है। वस्तुतः श्री नरेन्द्र शर्मा ने उचित ही लिखा है कि "'लहर' में प्रसाद जी एक नई अनुभूति को लेकर नई काव्यभूमि में उतरे हैं।"[१]

---

१. आलोचना (त्रैमासिक)—इतिहास विशेषांक; वर्ष २ अंक १ (पृ० १०७)